साहित्य-चिन्तन

डॉ॰ जयभगवान गोयल

साहित्य-चिन्तन

साहित्य-चिन्तन

डॉ० जयभगवान गोयल
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
डीन कला एवं भाषा संकाय
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,

1988

आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

शाखा
17, अशोक मार्ग, लखनऊ

ISBN. 81-7043-093-3

मूल्य : 90.00 (नब्बे रुपये)

आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली-6 द्वारा प्रकाशित / © आत्माराम एण्ड संस /
प्रथम संस्करण शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-32 में मुद्रित

SAHITYA CHINTAN by Dr. Jai Bhagwan Goyal

विषय-क्रम

1. भारतीय साहित्य में वीर काव्य परम्परा का प्रवर्त्तन तथा वाल्मीकि रामायण 1-12
2. "महाभारत"—एक श्रेष्ठ वीरकाव्य 13-23
3. संस्कृत वीरकाव्य का स्वरूप 24-38
4. साहित्येतिहास चिंतन और हिन्दी साहित्य का इतिहास : पुर्नविचार 39-49
5. मध्ययुगीन बोध तथा हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य 50-53
6. हिन्दी सूफी प्रेमाख्यान: मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन 54-61
7. गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-साहित्य 62-72
8. गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-साहित्य पर सम्पन्न शोध 73-80
9. क्रान्तिदर्शी एवं प्रगतिशील चिंतक गुरुनानक : नयी चेतना के बिन्दु 81-91
10. हिन्दी-साहित्य में गुरु तेगबहादुर का स्थान 92-103
11. गुरु गोबिंद सिंह का भविष्य दर्शन 104-117
12. सूर काव्य के सन्दर्भ में गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध कृष्ण काव्य और कृष्णावतार का वैशिष्ट्य 118-126
13. "गुरु प्रताप सूरज" में मध्ययुगीन मानसिकता 127-139
14. खड़ी बोली गद्य का इतिहास: पुर्नविचार 140-145
15. "उद्धवशतक" का काव्य-सौन्दर्य 146-160
16. राहुल जी का यात्रा-साहित्य 161-170
17. महात्मा गान्धी और हिन्दी-साहित्य 171-183
18. प्रेमचंद साहित्य में राष्ट्रीय-चेतना का स्वरूप 184-191
19. 'नाच्यो बहुत गोपाल' : विकृत मनोवृत्तियों का चित्रांकन 192-194
20. समान्तर कहानी : महज एक आन्दोलन 195-197
21. सक्रिय कहानी और कहानी की सक्रियता 198-203

ग्रन्थानुक्रमणिका 204-209

लेखकानुक्रमणिका 210-214

भारतीय साहित्य में वीरकाव्य परम्परा का प्रवर्त्तन तथा 'वाल्मीकि रामायण'

मनुष्य को आदिकाल से विकट परिस्थितियों एवं संघर्षों में जीवन व्यतीत करना पड़ा है तथा उसे अपनी विरोधी शक्तियों के दमन और शमन हेतु शौर्य एवं उत्साह का प्रदर्शन करना पड़ा है। आदिमानव ने वनचरों, हिंसक जीव-जन्तुओं, हिमपात, झंझावात, तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के विरुद्ध आत्म-रक्षा हेतु साहसपूर्वक जूझते हुए अपना मार्ग प्रशस्त किया था। यहीं से मानव-मानव में शक्तिशाली और निर्बल का संघर्ष उत्पन्न हुआ और यहीं से शक्ति के प्रति पूजाभाव की शुरुआत हुई। निर्बल व्यक्ति अपने से सबल और शक्तिशाली की स्तुति करने लगा, प्रशस्ति गाने लगा और सबल निर्बल को पराजित एवं पराभूत करके आतंकित करने लगा, उस पर शासन करने लगा। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई।

आदिमानव की पूजा-शक्तियाँ प्राकृतिक शक्तियाँ ही रहीं। मेघों के गर्जन-तर्जन, वायु की सरसराहट, बिजली की चमक-दमक, प्रकृति के प्रलयकारी प्रकोप मानव को एक अज्ञात शक्ति के कोप का प्रतिफल लगे और वह इन्हें अपने पूजा-भाव का आलम्बन मानने लगा। कालान्तर में मानव सभ्यता के विकास के साथ सामाजिक एवं शासकीय नींव के दृढ़ होने पर दैवी शक्तियों के प्रति जो श्रद्धा-भाव था, वह सबल एवं सशक्त व्यक्ति—राजा, सामन्त अथवा किसी उच्चाधिकारी के प्रति प्रकट हुआ था। प्रश्न उठता है कि ये शासकीय शक्तियाँ अपनी प्रभुता बनाये रखने के लिए दीन-हीन शासित वर्ग पर जो विजय लोलुपता से शौर्य प्रदर्शित करती थी, क्या वह साहस और पराक्रम स्पृहणीय 'उत्साह' का भाव था? 'उत्साह' एक सात्विक एवं उदात्त भाव है। किस प्रकार के साहस को 'उत्साह' के अन्तर्गत रखा जाये, इसका निश्चय सभ्यता के साथ सात्विक भावों एवं नैतिक मूल्यों के निर्धारण के साथ हुआ।

'उत्साह' वीररस का स्थायीभाव है। 'उत्साह' जब अत्यन्त उदात्त, स्पृहणीय सात्विक भूमिका में प्रदर्शित होगा, तो उसमें वीररस की निष्पत्ति होगी। 'उत्साह'

में साहस और प्रयत्न, महत्कर्म और महत्प्रयत्न दोनों अपेक्षित हैं। मात्र साहस का प्रदर्शन वीररस का विषय नहीं हो पाता। साहस को तभी 'उत्साह' की कोटि में रखा जा सकता है, जब साहस का प्रदर्शन किसी महत् प्रयोजन के लिए होता है। इसमें आश्रय के कर्म-औचित्य का भी बड़ा महत्त्व है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। रावण द्वारा सीता-हरण के अवसर पर जटायु से युद्ध करने में 'वीरता' रावण की नहीं है, वरन, यहाँ 'उत्साह' जटायु में है, जो एक असहाय नारी की रक्षा हेतु अपने प्राणों की बलि देता है। निर्बल, असहाय को पराजित-पराभूत करके आतंकित एवं संत्रस्त करना वीरता नहीं है, वरन् निर्बल और असहाय की रक्षार्थ पापी, अत्याचारी का विध्वंस करने में जो साहस का प्रदर्शन होता है, वही 'उत्साह' का स्पृहणीय भाव है जो वीररस का विषय बनता है.

कुछ विद्वानों ने वीररस के चार भेद किये हैं—युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर और दयावीर। किन्तु, हम समझते हैं कि किसी की धर्म भावना, दान-शीलता अथवा दया आदि को देखकर प्रमाता, जो रस का आश्रय है, के मन में, उक्त व्यक्ति के प्रति श्रद्धा, आदर अथवा भक्ति आदि भावों का उदय होगा, न कि वीर भाव का। हाँ, यदि ये तीनों भाव 'युद्धवीरता' के सहधर्मी होंगे, दूसरे शब्दों में युद्ध सत्य और न्याय के लिए किया गया (धर्मयुद्ध) होगा, और ऐसा उत्साह प्रदर्शित करने वाला व्यक्ति दानी और दयालु (क्षमाशील) भी होगा, तो ये भाव वीररस की निष्पत्ति में सहायक होकर उसे और निखार देंगे। कुछ प्राचीन आचार्यों ने दानशीलता, धर्म परायणता आदि को भी स्वतन्त्र रूप से वीररस के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया है जो चिन्त्य है। ऐसी स्थिति में तो बुद्ध, महावीर, कबीर एवं शिवि आदि भी 'वीर' सिद्ध होंगे और उनके धार्मिक शास्त्रार्थ अथवा दानशीलता 'वीररस' का संचार करते रहे होंगे, जबकि वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। सम्भवतः, यही कारण है कि मम्मट ने केवल युद्धवीर का ही वीररस के अन्तर्गत उदाहरण दिया है। धर्मवीरता का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि किसी धर्म, सम्प्रदाय या मत विशेष की स्थापना करने वाले किसी उत्साही धर्मगुरु को भी 'वीर' माना जायगा। ऐसा काव्य जिसमें कोई धर्मगुरु शास्त्रार्थ में किसी अन्य मतावलम्बी को परास्त करने में सफल होता है, शान्त रस का ही विषय बन सकेगा न कि वीररस का। नीति-युक्त वीरता ही 'धर्मवीरता' है और दया, क्षमा, दान आदि गुण उसके अंग मात्र हैं। सच्ची वीरता 'युद्धवीरता' ही है।

ऋग्वेद की स्तुतियों में वीररस के अनेक तत्त्व दृष्टव्य हैं। इन्द्र की स्तुतियों से विदित होता है कि वे महाबली, शक्तिशाली बनने वाले, भय को दूर करने वाले, बल के स्वामी, विजयी एवं दानी हैं। (म० 2 / अ० 3 / सू० 11 / 1-4)

वे वीरता के सभी गुणों से सम्पन्न हैं। वे आर्यों के रक्षक एवं विजय प्रदान करने वाले देवता हैं। वे वज्रधारी हैं, प्रचण्ड योद्धा हैं और सहस्र प्रकार के भीषण युद्धों में अपने रक्षा-साधनों से हमारी रक्षा करने वाले हैं (म० 2 / अ० 2 / सू० 7 / 4 / 13), म० 1 / व० 2 / सू० 7 / 6-7 / 14)। वे शत्रुओं के नाशक हैं, दैत्यों को मार भगाते हैं, युद्धों में सेनाओं की रक्षा करने वाले तथा बल प्रदान करने वाले हैं—(म० 1 / अ० 2 / सूक्त 4 / 6-8), वे दृढ़ दुर्गों के भेदक हैं (म० 1 / अ० 2 / सू०7 / 3), इन्द्र के रथ के लाल रंग, शत्रु का मर्दन करने वाले वीर पुरुषों को सवार करा कर युद्ध-स्थल में ले जाने वाले घोड़े जुते होते हैं। (म० 1 / अ० 2 / सू 7/2)।

एक स्थान पर स्तुतिकर्ता कवि इन्द्र से प्रार्थना करता है, 'हे इन्द्र ! तुम्हारी रक्षा से उत्साहित हुए हम तीक्ष्ण अस्त्रों को धारण कर विरोधियों पर विजय प्राप्त करें, हे इन्द्र ! हम कुशल वीरों सहित सेना से युक्त हुए तुम्हारी सहायता से शत्रुओं को वशीभूत करें (म० 1 / अ० 3 / सू० 8 / 1-5)।" स्पष्ट है कि ऋग्वेद में युद्धवीरता के अनेक उपकरणों का उल्लेख हुआ है। यहाँ वीर एवं साहसी योद्धा, युद्ध के लिए प्रस्थान करती सेना, भीषण संग्राम, दुर्ग-भेद, अस्त्र-शस्त्र, संहार, सांग्रामिक घोड़ों, रथों, पदाति, योद्धाओं के उत्साह, शत्रु के विनाश एवं विजय आदि का भी वर्णन हुआ है। डॉ० टीकमसिंह तोमर का कथन है कि 'ऋग्वेद में 40 ऐसे मन्त्र हैं, जो दान स्तुतियों के नाम से विख्यात हैं। इनमें यज्ञकर्ता, राजन्य एवं संरक्षकों की दानशीलता का वर्णन है। कुछ मंत्रों में इन्द्रदेव का गुणगान इसलिए किया गया है, क्योंकि उसने शत्रु पर राजा को विजय दिलायी। देव-स्तुति के साथ विजयी राजा की प्रशंसा भी की गई है। अन्त में कवि अपने संरक्षक का गुणगान इसलिए करता है क्योंकि उसने बैलगाड़ी एवं सुन्दर दासियों से पुरस्कृत किया है। इन दान स्तुतियों में नृप के नाम, वंश आदि का उल्लेख कर दिया गया है। त्वष्ट्रा और इन्द्र का संघर्ष दशराज्ञ-युद्ध जिसमें सुदास नामक राजा ने अन्य दस राजाओं को पराजित किया, देवासुर संग्राम में सरस्वती तट पर वृत्र को मारे जाने आदि महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। संघर्षों में वीरता प्रदर्शन, उसका गुणगान और कवियों को दिए गये पुरस्कार से युक्त इन दान-स्तुतियों में वीरकाव्य की मूल प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं "।[1]

'शतपथ ब्राह्मण' में अश्वमेध के प्रकरण में एक स्थान पर कहा गया है कि "ब्राह्मण दिन में स्तवन करता है और राजन्य रात्रि में। ब्राह्मण यज्ञ कर्ता के दानादि की प्रशंसा करता है और राजन्य उसकी वीरतादि का वर्णन करते हुए

1. स० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी-साहित्य भाग-2 पृ० 138।

विजय का उल्लेख करता है ।" डॉ० तोमर इसे वैदिककालीन वीररस का विकसित रूप मानते हैं।[2]

निःसन्देह, वीररस की प्रारंभिक अवस्था के दर्शन वैदिक साहित्य में ही होने लगते हैं, किन्तु यहां वीररस का समुचित विकास नहीं हुआ। वीररसात्मक काव्य का वास्तविक प्रस्फुटन सर्वप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' में हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आर्यों के अधिकतर देवी देवता सैनिक वेशधारी थे। इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, शिव, ब्रह्मा, विष्णु, महाकाली, दुर्गा आदि सभी के पास आक्रमण और संरक्षण के आयुध थे, उनकी निजी ध्वजायें थीं। शिवजी की वृषध्वज, दुर्गा की सिंहध्वज, गणेश की कुम्भध्वज, कार्तिकेय की मयूरध्वज।

वाल्मीकि आदिकवि हैं और 'वाल्मीकि रामायण' आदि काव्य। इसे ईसा से भी 500 वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है।[3] भारतीय साहित्य में अनेकों काव्य-ग्रन्थों के लिए यह उपजीव्य काव्य रहा है। भारतीय काव्य शास्त्र के लिए भी रामायण एक आदर्श लक्ष्य ग्रंथ रहा है और इसके साथ ही यह भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का जीवन्त इतिहास-ग्रंथ भी है। पण्डित बलदेव उपाध्याय इसका मुख्य लक्ष्य ही भारतीय सभ्यता के आदर्श गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण मानते हैं। वे राम-रावण युद्ध को भी पति-पत्नी की विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का उपकरण मानते हैं[4] और इसीलिए रामायण का महात्म्य वीररस के प्रदर्शन में न मानकर आदर्श गार्हस्थ्य के चित्रण में मानते हैं।[5]

'वाल्मीकि रामायण' का प्रणयन करुणा की वेगवती प्रेरणा से हुआ। इसका अन्त भी करुणापूर्ण परिस्थितियों में होता है, तथा इसके बीच में भी अनेक मार्मिक प्रसंगों के माध्यम से करुणा की धारा प्रवाहित हुई है, इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने 'रामायण' का मुख्य रस 'करुण' ही माना है।[6]

इसके विपरीत 'वाल्मीकि रामायण' का अध्ययन करने वाले कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि 'रामकथा मूलरूप में एक वीर आख्यान था'। जिसे सर्वप्रथम ईक्ष्वाकु वंश के चारणों ने अपने जातीय नेता को अमर बनाने के लिये किया था।[7] इसी अस्फुट काव्य के आधार पर वाल्मीकि ने रामायण महाकाव्य की रचना की और उसमें कथा की मूल भावना बहुत अंशों तक सुरक्षित है। अर्थात् वह केवल

---

2. वही।
3. पं० बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० 62।
4. वही, पृ० 69।
5. वही, पृ० 68-69।
6. ध्वन्यालोक उद्योत 4 पृ० 237।
7. कामिल बुल्के, रामकथा, पृ० 140।

एक वीर पुरुष के कृत्यों की काव्यमयी गाथा है, जिसकी मुख्य घटना राम-रावण युद्ध है। अन्य सभी घटनायें इसी मुख्य घटना की ओर उन्मुख हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बहुत से विद्वान 'वाल्मीकि रामायण' का वास्तविक समापन युद्ध काण्ड में राम-रावण युद्ध की समाप्ति से रावण के वध एवं राम द्वारा सीता की प्राप्ति के साथ ही मानते हैं। सम्पूर्ण 'उत्तर काण्ड' को प्रक्षिप्त माना जाता है। 'युद्ध काण्ड' के समापन के साथ ही ग्रंथ के महत्त्व का निरूपण भी इसी ओर संकेत करता है।[8] राम का चरित्र महान् अकुतोभय वीर का चरित्र है और उनके चरित्र का आख्यान होने के कारण 'वाल्मीकि रामायण' में वीररस की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। डॉ० बलदेव प्रसाद उपाध्याय का कथन है कि महाकाव्य वीररस प्रधान हुआ करते हैं, जिसमें युद्ध का घोष, विजय-दुंदुभि का गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में ऐसे अनेक युद्धों का विशद, सजीव एवं ओजस्वी चित्रण हुआ है, जिसमें वीररस का समुचित परिपाक हुआ है।

वाल्मीकि ने राम के वीरत्व-शक्ति का प्रकाशन ही अधिक किया है यद्यपि उनके अन्य गुणों का प्रकाशन भी यथोचित मात्रा में किया गया है। वाल्मीकि के राम शक्ति के पुंज हैं। ताड़का वध, सुबाहु बध, धनुष भंग, परशुराम के गर्व-निवारण, विराध राक्षस के वध, खर द्वारा भेजे हुए चौदह राक्षसों के वध, उसकी चौदह सहस्र सेना के हनन, कुम्भकरण एवं रावण-आदि का वध करने में उनकी अपरिमित शक्ति का ही परिचय मिलता है। उनके सहचर भाई लक्ष्मण भी अद्‌भुत वीर हैं और उनके विपक्षी प्रतिद्वन्द्वी रावण, इन्द्रजित, कुम्भकर्ण[9] आदि भी यशस्वी योद्धा हैं।

'रामायण' में वानर, आर्य और राक्षस तीन जातियों का वर्णन है, ये तीनों ही युद्धरत थी और इनमें कुशल योद्धा थे। असुरों को ध्वंसात्मक अस्त्र-शस्त्र प्राप्त थे। वे पृथ्वी, आकाश, समुद्र पर भी युद्ध कर सकते थे। आर्यों के लिए आश्रमों में सैनिक शिक्षा की व्यवस्था थी। भारद्वाज आश्रम, कण्वाश्रम, अगस्त्य आश्रम, विश्वामित्र आश्रम में इस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। विश्वामित्र से राम ने विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। विश्वामित्र ने उन्हें दिव्य अस्त्र भी

8. 'वाल्मीकि रामायण' युद्धकांड सर्ग 128 (123-125)।
9. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० 68।

प्रदान किये थे।[10] ये अस्त्र-शस्त्र देवता, गंधर्व, असुर, नागों आदि पर विजय प्राप्त करने में समर्थ थे। 'वाल्मीकि रामायण' में इनके अनेक अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग का उल्लेख है। रावण, इन्द्रजित, कुम्भकर्ण आदि ने भी अनेक प्रकार के दिव्य एवं शक्तिशाली अस्त्रों को प्राप्त किया था। 'वाल्मीकि रामायण' में इनके द्वारा अनेक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग का उल्लेख है।"[11] राक्षस बलाभिमानी थे।

आत्म-रक्षा, भू लिप्सा, स्वार्थपरता एवं किसी के प्रति घृणा भाव ही प्रायः युद्धों के कारण होते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' की मुख्य घटना राम-रावण का युद्ध है, जिसका कारण था सीता का रावण द्वारा हरण और फल था रावण का विनाश करके सीता को पुनः प्राप्त करना। किन्तु, 'वाल्मीकि रामायण' में वर्णित युद्धों का वास्तविक लक्ष्य यही नहीं है, लक्ष्य इससे कहीं महान् है। 'बालकाण्ड' में इस लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कवि ने संकेत किया है कि देवताओं का कार्य सम्पन्न करने के हेतु अर्थात् सत्य, न्याय और धर्म की प्रतिष्ठा हेतु ही देवताओं

---

10. 'वाल्मीकि रामायण' में इन अस्त्रों के नाम दिये गये हैं—विष्णु दण्ड, चक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, (बा० 26/4-5) इन्द्र का वज्रास्त्र, शिव का त्रिशूल, ब्रह्मा जी का ब्रह्मशिर, ऐषीकास्त्र, ब्रह्मास्त्र, दो उज्ज्वल और सुन्दर गदाएँ (मोदकी और शिखरी), धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, अशनि, पिनाक, नारायणास्त्र, आग्नेय अस्त्र (शिखरास्त्र), वायव्यास्त्र, हयशिरा, क्रौञ्च अस्त्र, दो शक्तियाँ, कंकाल, घोर मूसल, कपाल, किङ्किणी नामक अस्त्र, विद्याधरों का अस्त्र, नन्दन उत्तम खड्ग, सम्मोहन अस्त्र, प्रस्वापन प्रशमन, सौम्य अस्त्र, वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन, मादन, मानवास्त्र, मोहनास्त्र, तामस, महाबली, सौमन, संवर्त, दुर्जय, मौसल, सत्य, मायामय, उत्तम अस्त्र, सूर्यदेव का तेजस्वी अस्त्र··· (बा० 26 सर्ग (4 से 20)
The Valmiki Ramayana, critical edition Vol. I (Oriental Institute, Baroda).
11. वही, वाल्मीकि रामायण में वानर तो वृक्ष, शिला, पर्वत-शिखर, मुक्कों, नखों, लातों, दाँतों आदि का ही प्रयोग करते हैं। राक्षस कवच, धनुष, तलवार, खड्ग, तोमर, भाले, गदा, लोहदण्ड, अशनि, मूसल, परिघ, चक्र, शूल, शक्ति, फरसे, तीर, पाश, अनेक तरह के बाण, मुगदर, अंकुश आदि के अतिरिक्त तरह-तरह के वेगशाली, अमोघ एवं महातेजस्वी अस्त्र तथा सूर्यास्त्र, देवअस्त्र, गंधर्वास्त्र, आसुरास्त्र, नागमयबाण, कांचनमालिनी, महोल्का आदि अमोघ शक्तियों का प्रयोग करते हैं। श्वानुकुक्कुटमुख, मकरमुख, आशीविषमुख, खरमुख-वराहमुख, अग्निदीप्तमुख, महोल्कामुख, विद्युतजिह्वायेम आदि रावण के ध्वंस-कारी यंत्र थे (लंका, सर्ग 100)। राम भी अनेक तरह के अस्त्रों के ज्ञाता थे। वे भी ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, वायव्यास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्र, गरुणशास्त्र पैतामह-अस्त्र, आदि का प्रयोग करते हैं।

द्वारा रावण-वध का उपक्रम किया था।[12] इसीलिए राम के लिए 'सत्य पराक्रम:' शब्द का प्रयोग किया गया है। देवताओं द्वारा श्री हरि से (देवता विरोधी) रावण के वध के लिए मनुष्य रूप में अवतरित होने की प्रार्थना की गई थी।[13] ब्रह्मा जी की प्रेरणा से ही विभिन्न वानर यूथपतियों के रूप में अवतरित हुए थे।[14] रावण वध के पश्चात् सीता से पुनर्मिलन के अवसर पर भी राम ने रावण के साथ अपने युद्ध के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उन्होंने यह युद्ध का परिश्रम सीता को पाने के लिए नहीं किया वरन्, सदाचार की रक्षा, सब ओर फैले हुए अपवाद का निवारण करने तथा सुविख्यात वंश पर लगे हुए कलंक का परिमार्जन करने के लिए ही किया है। अपने शत्रु रावण का वध करके, राम ने शत्रु जनित अपमान का बदला लेकर मनुष्य का जो कर्तव्य है, उसे निभाया, अपनी और अपने कुल की प्रतिष्ठा स्थापित की तथा लोक में सदाचार का महत्त्व स्थापित किया। सीता की रक्षा करने में राम का धर्मपालन का उत्साह ही मुख्य है न कि व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि।[15] सीता की रक्षा करना उनका धर्म था और उस धर्म की रक्षार्थ ही उन्हें यह युद्ध करना पड़ा था। यह वीरता का एक उदात्त एवं स्पृहणीय रूप है।

'वाल्मीकि रामायण' में राम विश्वामित्र के आदेश से ताड़का यक्षिणी का भी वध करते हैं। यह युद्ध उन्हें यज्ञ की रक्षा हेतु करना पड़ा।[16] यहाँ भी राम विश्वामित्र से कहते हैं कि गौ ब्राह्मण तथा समूचे देश का हित करने के लिए मैं आप जैसे अनुपम प्रभावशाली महात्मा के आदेश का पालन करने को सब प्रकार से तैयार हूँ।[17]

निश्चय ही 'वाल्मीकि रामायण' में राम के शौर्य, पराक्रम एवं उत्साह का प्रदर्शन एक महान उद्देश्य को लेकर हुआ है और इस प्रकार उसमें 'उत्साह' के उदात्त रूप की अभिव्यंजना हुई है। राम की वीरता का जो आदर्श रामायण में आया है, वही आगे चलकर "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" (गीता) की भावना में पल्लवित हुआ। इसलिए कवि ने इसे 'सत्य पराक्रम' कहा है।[18] एक स्थान पर क्षत्रियत्व का आदर्श इस प्रकार दर्शाया गया है—

"क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति" (अर० 10/3) अर्थात् क्षत्रिय

12. वा० रा० 14/11-14
13. वा० रा० बा० सर्ग 14/17
14. वही, सर्ग 15/20
15. वाल्मीकि और तुलसी पृ० 70
16. वही, बालकांड सर्ग 25/4
17. बालकांड सर्ग 29/5
18. वही, युद्धकांड सर्ग 5,33, 37

द्वारा धनुष धारण करने की यही सार्थकता है कि पीड़ितों का आर्तनाद कहीं सुनाई नहीं पड़ता।

'वाल्मीकि रामायण' में अनेक स्थलों पर युद्धों का वर्णन हुआ है। इनमें प्रमुख युद्ध-वर्णन 'युद्ध-काण्ड' में हैं। जिसमें कवि ने युद्ध का पूरा विवरण प्रस्तुत किया है। रावण के साथ युद्ध आरम्भ होने से पूर्व कवि हनुमान के माध्यम से लंका की दुर्ग-रचना, फाटक, सेना-विभाग आदि का वर्णन करता है। लंका के दरवाजों पर बड़े विशाल और प्रबल यंत्र लगे हुए थे जो तीर और पत्थरों के गोले बरसाते थे। उनके द्वारा आक्रमण करने वाली सेना को आगे बढ़ने से रोका जा सकता था।[19] लंका के चारों ओर परकोटा तथा गहरी जलयुक्त खाइयां थीं।[20] संक्रम (लकड़ी के पुल) थे।[21]

इसके पश्चात् कवि ने रावण की पदाति, हय, रथ, हस्ती से युक्त चतुरंगिनी सेना का वर्णन किया है।[22] सेना के इन सभी अंगों का वर्णन रामायण में अन्यत्र भी हुआ है। सैन्य संगठन के संदर्भ में "अक्षौहिणी" का भी उल्लेख हुआ है (बाल काण्ड सर्ग 55)। भरत की चित्रकूट यात्रा में भी अक्षौहिणी सेना का विवरण मिलता है। उसमें 9000 हाथी, 60000 रथ, विविध आयुधधारी असंख्य धनुर्धर एवं एक लाख अश्वारोही थे।[23] वहां सेना के अन्य सहायक दलों—भूमि-प्रदेशज्ञ दल, सूत्रकर्म विशारद दल, नाव आदि यंत्र प्रस्तुत करने वाला दल, श्रम जीवी, यंत्र कोविद, मार्ग-रक्षक, वृक्ष-तक्षक दल, सूपकार दल, बांस और बोकल छीलने वाले तथा मार्ग ज्ञाता का दल, कुम्भकार दल, पक्षी पकड़ने वालों का दल, क्राकचिक, विशीचक, सुधाकर, कम्बलकार, स्नापक, उष्णीक तैयार करने वालों का दल, धूपक, धोबी, दर्जी, नट आदि के दल—का वर्णन भी मिलता है।[24]

रावण की सेना-व्यवस्था के निरीक्षण के पश्चात् राम की सेना के प्रस्थान का वर्णन किया गया है। यहां उसकी विशालता, शक्ति और उत्साह का निरूपण हुआ है। उसके पड़ाव (शिविर), रक्षा-व्यवस्था, सेना-विभाग का भी वर्णन हुआ है।[25]

---

19. वही, सर्ग 3/10 से 12 तक
20. वही, सर्ग 3/13
21. वही, सर्ग 3/13 से 17 तक
22. युद्धकांड 3/23-27
23. अयोध्या कांड सर्ग 83/2-4
24. वही, सर्ग 80/1-3
25. युद्धकांड, सर्ग 4/7-17

तदनन्तर रावण की अपने मंत्रियों से मंत्रणा[26], उसके प्रमुख वीरों—प्रहस्त, दुर्मुख, बज्रद्रष्ट, निकुम्भ, बज्रहनु आदि के उत्साह एवं गर्वोक्तियां,[27] रावण और, उसके सभासदों का एकत्र होकर विचार-विमर्श करने (युद्धकाण्ड सर्ग 11-12), नगर की रक्षा के लिए सैनिकों की नियुक्ति (सर्ग 12), रावण द्वारा वीरोचित अभिमान प्रकट करने (सर्ग 9/6), विभीषण द्वारा सीता को लौटाने की सम्मति देने (सर्ग 9/16-22) और रावण द्वारा उसका तिरस्कार करने (सर्ग 10/1-11) पर उसके राम की शरण में जाने (सर्ग 11/9), श्रीराम द्वारा अपने मंत्रियों से इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करके (सर्ग 11/2-8), विभीषण के राज्याभिषेक (सर्ग 18/1-9), रावण द्वारा राम के पास दूत भेजने (सर्ग 20), समुद्र सेतु (सर्ग 23) को पार करके राम की सेना के शिविर, सैन्य विभाग एवं व्यूह रचना (सर्ग 24) आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही राम की 'शरणागति' की महिमा का वर्णन कर दिया गया है, जो बाद में चारण-काव्यों में वीरता का एक विशेष राजपूती आदर्श बन गया है। इसके अतिरिक्त शकुन-अपशकुन आदि का भी संकेत किया गया है (सर्ग 26/30)।

लंका पर आक्रमण के साथ ही दूत रावण के सम्मुख राम की शक्ति का वर्णन करता है (सर्ग 26-27)। रावण भी गुप्त रूप से राम की शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने दूत भेजता है (सर्ग 20)। यहीं कवि राम तथा रावण दोनों पक्षों के अनेक वीरों का भी परिचय दे देता है (सर्ग 29-30)। उसके पश्चात् रावण का युद्ध सम्बन्धी उद्योग (सर्ग 33-34), माल्यवान द्वारा संधि-प्रयास (सर्ग 35), रावण द्वारा नगर-रक्षा का प्रबन्ध (सर्ग 36), सुबेल पर्वत से राम द्वारा लंका का निरीक्षण करने (सर्ग 39) आदि का वर्णन किया गया है। युद्ध आरम्भ होने से पूर्व की इतनी विस्तृत पृष्ठभूमि उस काल की युद्ध-विधि का यथेष्ठ परिचय दे देती है। इसके पश्चात् कवि ने विविध प्रकार के युद्धों का वर्णन किया है। सुग्रीव और रावण के मल्ल युद्ध एवं अन्य सैनिकों के पदाति युद्ध का वर्णन किया गया है (सर्ग 40)। वानरों की चढ़ाई, लंका को चारों ओर से घेरने और राक्षसों से उनके घोर युद्ध का वर्णन किया गया है (सर्ग 42)। यहां कवि ने लंका की भव्य ध्वजा-पताकाओं, राम के उत्साहित होकर युद्ध की आज्ञा देने, वीरों के सिंहनाद, वानरों के उत्साह, पर्वत शिखरों, वृक्षों एवं नखों, मुक्कों आदि से राक्षसों पर प्रहार करने, खाइयों को पाटने, परकोटों को तोड़ने का प्रयास करने, किलों पर चढ़ने, धावा बोलने एवं इससे क्रोधित होकर रावण द्वारा अपनी सेना को बाहर निकलने की आज्ञा देने,

---

26. वही, सर्ग 6/4-5-6

27. वही, सर्ग 8/1 से 16

शंख एवं धौंसों आदि की ध्वनि, रावण के युद्ध, वीरों के उत्साह, उनकी मुठभेड़, हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट, रथों की घरघराहट, रण-वाद्यों का भीषण रव, राक्षसों द्वारा गदा, शक्ति, शूल, फरसों आदि से प्रति-प्रहार करने, दोनों ओर के वीरों के जयघोष, क्षत-विक्षत होने, उनके रोष, क्रोध, ओज, धैर्य, गर्व, साहस, शक्ति, उत्साह एवं पराक्रम आदि का वर्णन किया गया है।[28] यहाँ भी विदित होता है कि वानरों के प्रहार के शस्त्र शिलाखण्ड, वृक्ष, मुक्के, दाँत और नाखून ही थे जबकि राक्षसों के पास कई तरह के अस्त्र-शस्त्र थे। उनके पास विमान भी थे। वे अन्तर्धान होने की विद्या भी जानते थे। माया-अस्त्रों का प्रयोग भी करते थे। लगता है कि युद्ध-विद्या में राक्षस वानर जाति से कहीं आगे थे। आर्य राम, अवश्य ही कई तरह से अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता थे। यहाँ युद्ध वर्णन की शैली प्रायः सूचनात्मक है। विद्युन्माली तथा सुषेण के द्वन्द्व-युद्ध का वर्णन केवल सात श्लोकों में हुआ है। इससे युद्ध का पूरा बिम्ब सामने नहीं आ पाता।[29]

युद्ध-भूमि का चित्रण सजीव बन पड़ा है। यथा……"वानरों और राक्षसों के शरीर से निकलकर रक्त की बहुत-सी नदियाँ बहने लगीं। वे नदियाँ सैनिकों की लाश रूपी काष्ठ समूह को बहाये लिये जाती हैं। उनके सिर के बाल ही शैवाल के समान जान पड़ते थे (सर्ग 46/17); उस समय भालों, अन्यान्य बाणों, गदाओं, शक्तियों, तोमरों, सायकों, टूटे और फेंके हुए रथों, सैनिकों, अश्वों, मरे हुए मतवाले हाथियों, वानरों, राक्षसों, पहियों तथा टूटे हुए जुओं से, जो पृथ्वी पर बिखरे पड़े थे, वह युद्ध-भूमि बड़ी भयानक हो रही थी। गीदड़ों के समुदाय वहाँ सब ओर विचर रहे थे, देवासुर संग्राम के समान उस भयानक मारकाट में वानरों और राक्षसों के कबंध समस्त दिशाओं में उछल रहे थे (वही, सर्ग 46/43-45)। कंक, गीध और कौए उन पर टूट पड़े (सर्ग 46)।

युद्ध-भूमि के ऐसे सजीव एवं यथार्थ चित्र और भी अनेक स्थानों पर मिलते हैं। रात्रि के भीषण युद्ध का भी कवि ने सजीव-चित्रण किया है (सर्ग 44)। युद्ध-भूमि में वीरों की ललकार, प्रति-ललकार, 'मारो-काटो', 'आओ दो', 'क्यों भागे जाते हो' आदि का कोलाहल, विविध रण-वाद्यों की ध्वनि, रथों की घरघराहट, हाथियों-घोड़ों आदि की चिंघाड़, योद्धाओं के आर्तनाद एवं गर्जना आदि का भी सजीव चित्रण हुआ है। युद्धभूमि के कुछ चित्र बड़े ही अलंकृत शैली में प्रस्तुत किये गये हैं (सर्ग 44/14-15, 44/24-26, सर्ग 58/28-33)।

---

28. वही, सर्ग 42-43
29. वही, सर्ग 43/35-41

सेना के समूह-युद्ध के साथ-साथ 'वाल्मीकि रामायण' में द्वन्द्व युद्धों का भी चित्रण हुआ है। धूम्राक्ष-हनुमान, वज्रदंष्ट्र-अंगद, इन्द्रजित-लक्ष्मण, अकम्पन-हनुमान, प्रहस्त-नील, रावण-राम आदि के युद्ध इसी प्रकार के हैं। इनमें सबसे अधिक भयंकर युद्ध लक्ष्मण-इन्द्रजित तथा रावण और राम का है। दोनों ही पक्षों के ये वीर अतुलनीय योद्धा थे। कवि ने दोनों ही पक्षों के इन वीरों के विपुल बल, पराक्रम, शौर्य, शक्ति, साहस, निर्भीकता, धैर्य, पौरुष, तेज एवं युद्ध-कुशलता आदि का वर्णन किया है। उनके क्रोध, अमर्ष, रोष, तेज, गर्व, हर्ष, उल्लास आदि की भी भव्य व्यंजना की गई है। राम रावण की शूरवीरता एवं पराक्रम की प्रशंसा करते हैं (युद्धकाण्ड सर्ग 109/14-18) और रावण रामपक्ष के योद्धाओं की प्रशंसा करता है।

इन युद्धों में राम, रावण, लक्ष्मण, इन्द्रजित आदि के भीषण बाण-युद्धों का अत्यन्त सजीव एवं ओजस्वी चित्रण किया गया है। विभिन्न प्रकार के बाणों के आकार-प्रकार, प्रभाव एवं शक्ति, उनके चलाने की विधि एवं कुशलता, उनकी तीक्ष्ण मार-काट, उनसे क्षत-विक्षत योद्धाओं के शरीर की दशा आदि का चित्रात्मक वर्णन हुआ है। इसी प्रकार राम और रावण के रथों के भीषण युद्ध का भी बड़ा ही विशद एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया है। रथों के आकार-प्रकार, भव्यता, शोभा, दृढ़ता-मजबूती, सामर्थ्य-शक्ति, गति, प्रत्यगति, आवाज़ एवं उनकी ध्वजा-पताकाओं आदि के साथ साथ सारथि की बुद्धि, कुशलता, चतुरता, धैर्य, दृढ़ता, साहस तथा अन्य गुणों का भी वर्णन किया गया है।

राम और रावण के इन युद्धों की भीषणता एवं भयंकरता को देखकर कवि को कहना पड़ा कि "राम और रावण का युद्ध राम और रावण के ही युद्ध के सदृश्य है।"

इन युद्धों के वर्णन में कवि ने कहीं कहीं सैनिकों की संख्या एवं आहतों की संख्या का भी निर्देश किया है (वही, सर्ग 93/31-33)। लंका दहन का भी रोमांचकारी एवं सजीव चित्र उपस्थित किया गया है (वही, सर्ग 75)।

राम की युद्ध में विजय पर रामपक्ष के वीरों, वानरों आदि के हर्षोल्लास का तथा राक्षसों के भय, आतंक एवं शोक आदि का भी वर्णन किया गया है। 'युद्ध काण्ड' का अन्त रावण की मृत्यु पर उसकी अंत्येष्टि, मन्दोदरी तथा अन्य स्त्रियों के विलाप, विभीषण के राज्याभिषेक तथा सीता की वापसी से होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि "वाल्मीकि रामायण' की युद्ध-कथा में पूर्णता, विशदता एवं सर्वांगीणता है। इसमें युद्धों का अत्यन्त सजीव, ओजस्वी तथा चित्रात्मक वर्णन हुआ है; जिसमें वीररस का समुचित परिपाक हुआ है। 'वाल्मीकि रामायण' में उस काल के युद्धों के इन आदर्शों का भी पता चलता है कि योद्धा युद्ध की मृत्यु को ही श्रेष्ठ समझते थे (वही, सर्ग 57/11), एक के युद्ध करते

दूसरा वार नहीं करता था (सर्ग 59/73-74), थके हुए को, जो युद्ध न करता हो, छिपा हो, हाथ जोड़कर शरण में आया हो, युद्ध से भाग रहा हो, पागल हो, ऐसे व्यक्ति को मारना उचित नहीं समझा जाता था (सर्ग 80/53), युद्ध से भागना, आहत होकर हटना, कायरता समझे जाते थे (सर्ग 104/1-73), ब्रह्मास्त्र आदि अस्त्रों का प्रयोग विकट स्थिति में ही किया जाता था। राक्षस कभी-कभी माया अस्त्रों का प्रयोग अवश्य करते थे। वे छल, कपट एवं कूटता से भी काम ले लेते थे (सर्ग 81 / 27)।

चुनौती मिलने पर मृत्यु का आलिंगन करना, अपमान न सहना, पीठ न दिखाना, मारना और मरना —यही योद्धाओं का जीवन वृत्त था—

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वनिवर्तिनाम्।
धर्षणामर्षण भीरू मरणादतिरिच्यते। (वही, कि० सर्ग 16/3)

शरणागत की रक्षा करना वीरों का व्रत था।

'वाल्मीकि रामायण' के युद्ध प्रसंगों से उस युग की सेना-व्यवस्था, सेना-विभाग, सेना के विविध रूप, नगर रक्षा की व्यवस्था, दुर्ग-रचना, युद्ध विधि, युद्ध नीति, युद्ध-विद्या,युद्ध में प्रयुक्त होने वाले विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों आयुधों, ध्वजा-पताकाओं,व्यूह रचना, रण कौशल, उपचार की औषधियों, युद्ध आदर्श, विग्रह शांति परिषद् आदि की स्थिति का यथेष्ठ परिचय मिल जाता है।

यहाँ 'वाल्मीकि रामायण' के युद्ध वर्णन का इतनी विशदता एवं विस्तार से विवेचन करने का हमारा उद्देश्य यही रहा है कि हम जान सकें कि भारतीय साहित्य के इस 'आदिकाव्य' में आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व युद्ध का कितना विशद निरूपण हुआ है। उस समय यहाँ युद्ध विद्या कितनी विकसित थी तथा कवि को युद्ध-स्थिति का कितना सूक्ष्म ज्ञान था और उस युग की वीरता का क्या आदर्श था। 'वाल्मीकि रामायण' में वीरता का आदर्श अत्यन्त पवित्र, उच्च एवं उदात्त था। यहाँ सत्य, न्याय, सदाचार और धर्म की स्थापना के लिए 'सत्य पराक्रम' का प्रदर्शन हुआ है। यहीं से भारतीय वीरकाव्य परम्परा का विधिवत प्रवर्त्तन होता है और यह उस परम्परा का एक आदर्श काव्यग्रंथ है।

'महाभारत'—एक श्रेष्ठ वीरकाव्य

'रामायण' की वीर-भावना 'महाभारत' में और अधिक पुष्ट होकर सामने आती है। 'महाभारत' में कहा गया है कि "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के सम्बन्ध में जो कुछ इस ग्रंथ में है, वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।"[1] यह भारत की दीर्घकालीन ज्ञान-परम्परा, धर्म-दर्शन, संस्कृति नीति शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि का विश्वकोष है। यह पुराण, इतिहास, महाकाव्य अथवा धर्मग्रंथ आदि में से कोई एक नहीं है, वरन् सब कुछ मिलकर एक महाग्रंथ है।"[2]

'महाभारतकार ने इसे 'आख्यान' की संज्ञा दी है'[3], जिसका मुख्य आख्यान कौरवों और पांडवों का युद्ध है। 'महाभारत' में 'शकुन्तलोपाख्यान', 'मत्स्योपाख्यान' 'रामोपाख्यान्' 'शिबि उपाख्यान्', 'नलोपाख्यान्' आदि अन्य अनेक उपाख्यान अवान्तर कथाओं के रूप में भी आये हैं। ऐसे अधिकतर उपाख्यान कौरव-पांडव युद्ध के मुख्य आख्यान के नैतिक पक्ष को उभारते हैं। समाज को पतित अवस्था से ऊपर उठाने की प्रेरणा देते हैं।

'महाभारत' अनेक युगों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा संकलित, सम्पादित, परिवर्तित, परिवर्धित और संशोधित होकर हम तक पहुँचा है।[4] इसके रचना विकास के तीन प्रमुख पड़ाव स्वीकार किये जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि इसका मूल रूप कृष्ण द्वैपायन द्वारा रचित था और उसे 'जय' नाम दिया गया

---

1. धर्मे ह्यर्थे कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
   यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

   —महाभारत, आदिपर्व

2. वा० गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 237
3. महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् — आदिपर्व 56/32।
4. (1) बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 87।
   (2) वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 260।

था ।[5] इस नाम का संकेत 'महाभारत' में विद्यमान है ।[6] विद्वानों का मत है कि पांडवों की विजय के कारण सम्भवतः उस कथा का ऐसा नामकरण हुआ ।[7] अर्थात इस महाग्रंथ की मूलकथा कौरव-पांडवों के युद्ध और उसमें पांडवों की विजय से सम्बन्ध रखती थी । इस मूलकथा में अन्य आख्यान-उपाख्यान कुछ भी नहीं थे ।[8] इसकी दूसरी अवस्था का नाम 'भारत' था ।[9] इसी 'भारत' को वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था ।[10] इसमें 24000 छन्द थे, जबकि 'जय' में केवल 8800 छन्द थे ।[11] इसी को परवर्ती विद्वानों ने बढ़ाया और उसमें अनेक ऐतिहासिक, लोक-प्रचलित, काव्य-परक वृत्तों एवं धर्माधर्म आदि के प्रसंगों, उपाख्यानों को जोड़कर उसे 'महाभारत' का नाम दिया ।[12] 'महाभारत' के मूलरूप के विषय में विंटरनित्स ने लिखा है कि, "महाभारत युद्ध का वर्णन पहले वीर गीतों के रूप में प्रचलित रहा होगा । सम्भव है किसी एक महान कवि ने इन वीर गीतों का संकलन कर एक वीर रसात्मक काव्य का रूप दिया हो । सैकड़ों वर्षों में इन वीर गीतों के चारों ओर विभिन्न विषयों का एक जाल सा बिछ गया । पहले तो महाभारत के प्रमुख पात्रों का जीवन वृत्त इसमें जोड़ दिया गया; तत्पश्चात् इसी क्रम से अन्य वीरों की गाथाओं का भी समावेश होता गया । ये गाथायें सूतों द्वारा गाई जाती थीं । इस प्रकार 'महाभारत' वीर गीतों का संकलन ही नहीं रह गया वह प्राचीन चरित गीतों (बाडिक सॉंगस) का प्रकाण्ड संकलन हो गया ।[13]

---

5. वही, पृ० 246 ।
6. जय नामेतिहासोऽयम् (आदिपर्व 62/20) ।
7. (1) वा० गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 246 ।
   (2) बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 82 ।
8. वा० गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 250 ।
9. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 82 ।
10. (1) बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 82 ।
    (2) वा० गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 247 ।
11. वही ।
12. (1) वही, पृ० 247-250 ।
    (2) बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 82 ।
    (3) Vinternitz, A History of Indian Literature Vol. I p. 318-20, 24, 26, 459
    (4) Macdonald, History of Sanskrit Literature, pp. 284
13. History of Indian Literature, Vol. I, p. 315.

व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति के अनुसार 'भारत' शब्द का अर्थ है—"वह ग्रंथ जिसमें भारतवंशीय राजाओं के पराक्रम या युद्ध का वर्णन हो।"[14] सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने भी भारत का अर्थ 'संग्राम' बताया है[15] और इस तरह 'महाभारत' का अर्थ हुआ 'महा संग्राम'।[16] महाभारत के परवर्ती परिवर्धित संस्करण में से यदि अवान्तर कथाओं के रूप में आये विविध आख्यानों उपाख्यानों को निकाल दें, तो उसके दोनों मूल रूपों 'जय' एवं 'भारत' की मुख्य कथा कौरव पांडव युद्ध एवं उसमें पांडवों की विजय ही है। 'महाभारत' की समग्र वर्तमान कथा के निरीक्षण से भी ज्ञात होता है कि उसमें यही घटना प्रमुख है। उसमें कुल अठारह पर्व हैं। 'आदिपर्व' में चंद्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पांडवों की उत्पत्ति का वर्णन है। 'सभापर्व' में है—द्यूत क्रीड़ा—जो युद्ध का प्रत्यक्ष कारण बनी; 'वन पर्व' में पांडवों का वनवास; 'विराट पर्व' में पांडवों का अज्ञात वास; 'उद्योग पर्व' में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शांति का उद्योग करना; 'भीष्म पर्व' में अर्जुन को गीता का उपदेश सुनाकर युद्ध के लिए तैयार करना, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध तथा शरशय्या पर पड़ना; 'द्रोण पर्व' में अभिमन्यु वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; 'कर्ण पर्व' में कर्ण का युद्ध और वध; 'शल्यपर्व' में शल्य की अध्यक्षता मे लड़ाई तथा उसका वध; 'सौप्तिक पर्व' में पांडवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध; 'स्त्री पर्व' में स्त्रियों का विलाप (युद्ध का परिणाम); 'शांति पर्व' में युधिष्ठिर को मोक्ष-धर्म का उपदेश; 'अनुशासन पर्व' में धर्म तथा नीति की कथायें; 'अश्वमेध पर्व' में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना; 'आश्रमवासी पर्व' में धृतराष्ट्र गांधारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना; 'मौसल पर्व' में यादवों का मूसल के द्वारा नाश; 'महाप्रस्थानिक पर्व' में पांडवों की हिमालय यात्रा; तथा 'स्वर्गारोहण पर्व' में पांडवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।[17]

इस विवरण से स्पष्ट है कि धर्म और नीति के कुछ प्रसंगों को छोड़कर अन्यत्र सभी पर्वों में युद्ध की पृष्ठभूमि, कारण, उसकी स्थिति और स्वरूप (युद्ध-वर्णन) तथा परिणामों आदि का वर्णन ही प्रमुखता से हुआ है। डॉ० बलदेव उपाध्याय के इस कथन में बड़ी सच्चाई है कि 'महाभारत' में वीर-रस प्रधान होने से चित्त में उद्वेग तथा क्षोभ उत्पन्न करने वाले भीषण कूट संग्रामों की ही चर्चा अधिक है।[18]

---

14. गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 249।
15. पाणिनी, अष्टाध्यायी : 4/2/56।
16. वा० गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 238।
17. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 84।
18. वही, पृ० 57।

वस्तुतः, 'वीरकाव्य' के सभी तत्त्व इसमें प्रचुरता से विद्यमान हैं। यह भी कहा जा सकता है कि 'वीरकाव्य' के लक्षण निरूपणार्थ यह एक आदर्श लक्ष्य-ग्रंथ है।

'महाभारत' में घमासान-घोर युद्धों का इतना विशद एवं ओजस्वी चित्रण हुआ है कि 'महाभारत' शब्द ही भीषण एवं भयंकर युद्ध का पर्याय बन गया है। इसमें अनेक प्रकार के युद्धों का सर्वांगीण एवं यथार्थ वर्णन हुआ है। युद्ध के कारण, युद्ध-शिक्षा, युद्ध-विद्या, युद्ध से सम्बन्धित सामग्री, शिविर-रचना; सैनिक परिधान, सैन्य-व्यवस्था, उसके विभिन्न अंगों, सैन्य-संचालन-रीति; सैनिक-अनुशासन, सेना की संख्या व शक्ति, दुर्ग-निर्माण-कला, युद्ध के लिए उचित युद्ध-भूमि का चुनाव, सेना-प्रस्थान के समय की व्यूह-रचना, युद्ध-भूमि में व्यूह-रचना, सेनापतियों की नियुक्ति, विविध प्रकार के रथों, अश्वों, ध्वजा-पताकाओं, रण वाद्यों, वाहन, दोनों पक्षों की सेना की शक्ति की तुलना, उनके प्रमुख वीरों का परिचय, विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों, युद्धाचार, युद्ध नीति, युद्धधर्म, युद्ध परिषद, गुप्तचर विभाग, दूतों की निपुणता, संधि प्रस्ताव एवं विजय के हर्षोल्लास आदि का विस्तृत विवरण 'महाभारत' में मिलता है। युद्धों के अन्तर्गत योद्धाओं की युद्ध-कुशलता, साहस, पराक्रम, पौरुष, बल, निर्भीकता, दृढ़ता, धैर्य, उत्साह, अमर्ष, गर्व आदि का ओजस्वी चित्रण हुआ है और युद्ध भूमि के कोलाहल से युक्त भयावह दृश्यों का निरूपण भी व्यवस्थित एवं विशद रूप में हुआ है।

'रामायण' की ही भाँति 'महाभारत' में भी सैनिक प्रशिक्षण की विस्तृत चर्चा है। उसमें अग्निवेश्याश्रम, जमदग्न्याश्रम, नैमिषारण्य आश्रम, कृपा आश्रम, द्रोण आश्रम, अगस्त्याश्रम आदि अनेक आश्रमों का उल्लेख है, जहाँ इस प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। इनमें से द्रोण एवं कृपाश्रम बहुत प्रसिद्ध थे। यहाँ छात्रों को उनकी मानसिक अभिरुचि एवं शक्ति के अनुरूप शस्त्र-विद्या दी जाती थी। इन प्रसंगों में शिक्षण-प्रणाली, वीरों के कठोर एवं नियमित अभ्यास तथा कठिन परीक्षा आदि का भी निरूपण हुआ है। अर्जुन तो रात्रि के अंधकार में भी बाण संधान का अभ्यास करता था।

युद्ध परिषद की कार्य विधि का भी 'महाभारत' में वर्णन मिलता है (शांति पर्व अ० 138)। युद्ध के दोष-निर्णय हेतु युद्ध परिषद् को कई बार बुलाने की आवश्यता पड़ी थी। द्रोण पर्व में संग्राम समिति के कई रूप देखने को मिलते हैं।

'महाभारत' में दोनों पक्षों की सेना का समुचित विवरण दिया गया है। सेना-संगठन में सेना के विभिन्न अंगों (रथ, अश्व, हस्ति, पदाति), श्रेणियों तथा उनके पदाधिकारियों का भी निर्देश है। उस युग में पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी आदि सेना की मुख्य श्रेणियाँ थीं,

जिनमें रथों, गजों, अश्वों, पदाति आदि की संख्या निर्धारित होती थी। पात्तिक, गुल्मपति, वाहिनीपति, सेनापति, सेना नायक, बलाध्यक्ष, अर्द्धरथ, रथ, महारथ, अतिरथ आदि पदाधिकारी होते थे।

शिविर एवं युद्ध-भूमि में अथवा सेना-प्रस्थान के समय आवश्यकतानुसार व्यूह रचना का भी 'महाभारत' में यथेष्ठ वर्णन है। उसमें ऐसे अनेक व्यूहों का विवरण दिया गया है, जिनमें से मुख्य हैं—वज्र व्यूह, क्रौन्च व्यूह, श्येन व्यूह, चक्र व्यूह, गरुड़ व्यूह, मकर व्यूह, सर्वतोभद्र व्यूह पद्मव्यूह आदि। इन व्यूहों की रचना करने वाले विशेषज्ञ भी थे। विशेष अवस्था में विशेष प्रकार के व्यूह की रचना की जाती थी। प्रायः सेना प्रस्थान के समय 'दंड व्यूह' की, शिविर में कमल व्यूह की तथा चारों ओर से आक्रमण की स्थिति में 'दंड' की रचना की जाती थी। 'मनुस्मृति' में भी दण्ड, शकट, वराह, सूची, गरुड़, पद्म, बज्र, मकर आदि व्यूहों का उल्लेख मिलता है[19]। 'अग्नि पुराण' में भी व्यूह रचना की चर्चा हुई है। व्यूह रचना युद्ध के लिए सैन्य रचना का एक प्रकार है।

'महाभारत' में शिविर संरचना का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। 'भीष्म पर्व' के अनुसार शिविर के एक भाग में यंत्रायुद्ध, वैद्य और परिचारक रहते थे। दूसरे भाग में ज्या, धनुष, वर्म-कवच, अस्त्र-शस्त्र, महायंत्र, तोमर, नराच, परशु आदि होते थे। राजधानी में भी शिविर रचना का वर्णन है। शिविर की रक्षा की समुचित व्यवस्था होती थी। 'महाभारत' में दुर्ग रचना का भी उल्लेख है।

'महाभारत' में विभिन्न वर्णों, चिह्नों एवं आकार की ध्वजाओं का भी वर्णन हुआ है। ये ध्वजायें चौकोर, त्रिकोण आदि के आकार की; दीर्घ, विशाल, अथवा लोल होती थीं। वे प्रायः बकुल, साल, पलाश, कदम्बक एवं बाँस आदि के दण्ड से बनी होती थीं। उनके श्वेत, पीत, रक्त, नील, कुर्बर आदि अनेक वर्ण होते थे। इन पर मयूर, वानर, गाय, सूर्य, गृध, विटप, सिंह के चित्र खचित होते थे। प्रमुख योद्धाओं के रथों पर सुन्दर ध्वज सुशोभित होते थे। उनके ध्वज भी अलग अलग होते थे। धनुर्धर अर्जुन की ध्वजा पर हनुमान का चित्र खचित था, सिंह की पूंछ भी उसमें चित्रित रहती थी (द्रोण पर्व 105/8); कृपाचार्य की ध्वजा पर साँड की छवि अंकित थी (द्रोण-105) मद्रराज शल्य की ध्वजा पर हल बना हुआ था (वही), जयद्रथ की ध्वजा पर वराह की छवि थी (वही), दुर्योधन की ध्वजा पर रत्नों का बना हाथी रहता था (वही)। कृष्ण की गरुड़ ध्वज थी और बलराम की ताल ध्वज। ध्वजाओं का प्रयोग शांति के समय भी होता था और युद्ध के समय भी। युद्ध संकेतों के लिए भी उनका उपयोग होता था। विजय और पराजय की सूचक अलग अलग ध्वजायें थी। वेदों, पुराणों तथा

19. मनुस्मृति म० 7/187-191।

'रामायण' में भी ध्वजाओं का यथेष्ठ वर्णन मिलता है। 'युक्तिकल्पतरु' में ध्वजा निर्माण का विशद वर्णन पाया जाता है।' महाभारत' में ध्वजाओं के प्रयोग का बड़ा महत्त्व है।

'महाभारत' के युद्ध-वर्णनों में झर्झर, पणव, गोमुख, भेरी, दुंदभि, मृदंग, आडम्बर, क्षुद्र पटह, कोणाघात, पेश्य, क्ष्वेड, ककच, जयमंगल, मुरज, शंख आदि अनेक रणवाद्यों का उल्लेख हुआ है। योद्धाओं के अनेक प्रकार के शंख थे, जिन की अलग अलग ध्वनि होती थी। वे भिन्न भिन्न धातु और आकार के होते थे। कृष्ण के 'पाँचजन्य', और अर्जुन के देवदत्त की विशिष्ट ध्वनियाँ थीं, जिन्हें सुनकर शत्रु आतंकित हो उठते थे। भीमसेन के शंख का नाम 'पौंड्र' था और युधिष्ठिर का 'अनन्तविजय'।

इस रचना में युद्ध के विविध वाहनों का भी विशद वर्णन है। विभिन्न प्रकार के रथों एवं अश्वों आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। घोड़ों की अनेक जातियों एवं वर्णों आदि का भी निरूपण है। योद्धा विशेष की रथ से निःसृत होने वाली ध्वनि भी विशिष्ट थी।

'महाभारत' में विविध प्रकार के आक्रमणकारी, रक्षात्मक एवं ध्वंसात्मक आयुधों का वर्णन हुआ है। प्रहार करने वाले शस्त्रों में फरसे, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, भुग्दर, परिघ, यष्टि, पाश, गदा, खड्ग, बर्छा, बल्लम, मूसल, वज्र, कुल्हाड़ी, त्रिशूल, परशु, कटार मुख्य थे। 'रामायण' की ही भाँति यहाँ कभी-कभी, पर कम, पत्थर, वृक्ष आदि से भी काम लिया गया है। कितनी ही तरह के धनुष और कितनी ही तरह के बाणों का प्रयोग हुआ है। 'रामायण' की ही भाँति यहाँ भी अनेक प्रकार के अस्त्रों का उल्लेख है। अर्जुन ने इन्द्र से आग्नेय, वारुण, ब्रह्म, पारमेष्टेय, याम्य, कौबेर, महास्त्र प्राप्त किए थे। सुघोष दिव्य वादित्र भी इन्द्र से प्राप्त किया था (वनपर्व 165-169)। इनके अतिरिक्त 'महाभारत' में कच-ग्रह विक्षेप, आशीविषधर-यंत्र, सर्जरसंपासु यंत्र, अयोगुड्जोपल, कालीभिन्दिपाल, पर्जन्यास्त्र, कंकपत्र, नाराच, अर्द्धनाराच, जलौघास्त्र, वैष्णवास्त्र, नारायणास्त्र, सुदर्शनचक्र आदि अनेक अस्त्रों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। अनेक योद्धा उनके प्रयोग में निपुण थे। रक्षात्मक आयुधों में शिरस्त्राण, शिरोवेष्टन, उष्णीष, वक्षस्त्राण, कम्बल, कवच, ढाल आदि का प्रयोग हुआ है। कवच के अनेक प्रकार थे—उरु वर्म, पार्श्व वर्म, पृष्ठ वर्म। ये लोहे के भी होते थे और चर्म के भी। ये भिन्न भिन्न आकार के होते थे। कुछ हल्के होते थे कुछ भारी। ऋक्ष चर्म, व्याघ्रचर्म तथा हस्तिचर्म आदि से रथों, अश्वों एवं हस्ती आदि को ढकने का काम लिया जाता था। योद्धाओं के आयुधों के साथ साथ उनकी वेशभूषा का भी कुछ संकेत मिलता है। 'विराट पर्व' में योद्धाओं के शरीर पर चार वर्ण के परिच्छेद मिलते हैं, जो उनकी मनोवृत्ति के भी सूचक हैं। कर्ण के लाल,

अश्वत्थामा के नील, भीष्म द्रोण के श्वेत तथा कृष्ण के पीत परिधान क्रमशः उनके राजस, तामस, सात्त्विक भाव एवं बुद्धिमत्ता आदि के परिचायक हैं।

'महाभारत' में पदाति-युद्ध, अश्व-युद्ध, रथ-युद्ध, गज-युद्ध एवं मिश्रित युद्ध के; खड्ग-युद्ध, गदा-युद्ध, मल्ल-युद्ध, बाण-युद्ध, परशु-युद्ध एवं चक्र-युद्ध आदि के अत्यन्त उद्वेगपूर्ण एवं ओजस्वी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें द्वन्द्व युद्ध भी हैं और दोनों पक्ष की सेनाओं का संकुल युद्ध भी। भीष्म एवं अभिमन्यु (उद्योग पर्व अ० 47), भीष्म तथा अर्जुन (वही, अ० 52, 60), भीष्म और भीमसेन (वही, 70), भीम और दुर्योधन, अर्जुन और कर्ण, द्रोण और अर्जुन आदि के भीषण द्वन्द्व युद्ध अतुलनीय उत्साह एवं उद्वेग उत्पन्न करने वाले हैं और उनमें वीर रस का पूर्ण परिपाक होता है। इन प्रचण्ड युद्धों के एक दो उदाहरण देने असंगत न होंगे। भीमसेन का भयंकर गदा युद्ध दर्शनीय है :—

*"राजन्! उस समय संग्रामभूमि में हम लोगों ने महामना पाण्डुनन्दन भीमसेन का अत्यन्त आश्चर्यमय अतिमानुष कर्म देखा था।6। घोड़े, हाथी, तथा रथ सहित जितने भी भूपाल वहाँ आगे बढ़ रहे थे, उन सब को केवल गदा की सहायता से भीमसेन ने बिना किसी घबराहट के रोक दिया।7।...पूर्णतः फौलाद की बनी हुई विशाल एवं भारी गदा हाथ में लेकर भीमसेन दण्डपाणि यमराज की भाँति आपके सैनिकों पर टूट पड़े।11। फिर वे प्रभावशाली बलवान् पाण्डुनन्दन रथियों और घोड़ों के समूह को नष्ट करके अपनी भुजाओं के वेग से रथों के समुदाय को खींचते और नष्ट करते हुए प्रलयकाल के समान यमराज की भाँति संग्रामभूमि में विचरने लगे।12।...महाबाहु भीमसेन रथों से रथियों को, हाथियों से हाथी सवारों को, घोड़ों की पीठों से घुड़सवारों को और पृथ्वी पर पैदलों को मसलते हुए गदा से आपके पुत्र की सेना के सब लोगों को उसी प्रकार नष्ट कर देते थे, जैसे हवा अपने वेग से वृक्षों को उखाड़ फेंकती है (14-15½)। हाथियों और घोड़ों को मार गिरानेवाली उनकी यह गदा भी मज्जा, वसा, मांस तथा रक्त में सनकर बड़ी भयानक दिखाई देती थी।16½। भीमसेन की उस संहारकारिणी भयंकर गदा को लोगों ने प्रलयकाल में पशुओं (जीवों) का संहार करने वाले रुद्र के पिनाक और यमदण्ड के समान भयंकर देखा। उसकी आवाज इन्द्र के वज्र के समान थी (18-19)। अपनी गदा को घुमाते हुए महामना कुन्तीकुमार भीमसेन का रूप युगान्त काल के यमराज के समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था।20। उस विशाल गदा को बारम्बार घुमाने वाले भीमसेन को मौत के समान आते देख समस्त योद्धाओं का मन उदास हो जाता था (21)। भीमसेन गदा उठाकर जिस जिस ओर देखते थे, उधर उधर से सारी

* हिन्दी अनुवाद

सेनाओं में दरार पड़ जाती थी (22)।...उस समय बड़ी भारी गदा उठाये हुए भयंकर पराक्रमी भीमसेन को देखकर भीष्म जी सहसा वहाँ पहुँच गये (23-24)।...मुँह फैलाये हुए यमराज के समान भीष्म जी को आते देख महाबाहु भीमसेन अमर्ष में भरकर उनका सामना करने के लिए आगे बढ़े (26)"... (भीष्म पर्व—अध्याय 63)।

भीष्म एवं अर्जुन के तीर युद्ध का एक दृश्य देखिए :—

*"नरेश्वर! तदनन्तर सम्पूर्ण विश्व में विख्यात महारथी भीष्म ने अर्जुन पर 'सतहत्तर' बाण चलाये, द्रोण ने पचीस, कृपाचार्य ने 'पचास', दुर्योधन ने चौसठ, शल्य ने नौ, जयद्रथ ने नौ, शकुनि ने पाँच तथा विकर्ण ने दस, भल्ल नामक बाणों द्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुन को बींध डाला (23-25½), इन समस्त तीखे बाणों द्वारा चारों ओर से बिद्ध होने पर भी महाधनुर्धर महाबाहु अर्जुन तनिक भी व्यथित नहीं हुए। ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी पर्वत को बाणों से बींध दिया हो (26½)। तत्पश्चात् अभेय आत्मबल से सम्पन्न किरीटधारी पुरुषसिंह अर्जुन ने भीष्म को पचीस, कृपाचार्य को नौ, द्रोण को साठ, विकर्ण को तीन, शल्य को तीन, तथा राजा दुर्योधन को पांच बाणों से घायल कर दिया (27-28½)।...तब रथियों में श्रेष्ठ भीष्म ने पाण्डुनन्दन अर्जुन को अस्सी पैने बाण मारकर बींध डाला। यह देखकर आपके सैनिक हर्ष से कोलाहल करने लगे (32½) उन समस्त कौरवों का हर्षनाद सुनकर प्रतापी पुरुषसिंह अर्जुन ने उनकी सेना के भीतर प्रवेश किया। राजन्! उन महारथियों के भीतर पहुँच कर अर्जुन उन सब को अपने बाणों का निशाना बनाकर धनुष से खेल करने लगे।...(32-34½)। इसी प्रकार सब पाण्डव भी अर्जुन को सब ओर से घेर कर महायुद्ध के लिए वहाँ डटे हुए थे, अतः उनमें भारी युद्ध छिड़ गया (41½)।"

"गंगानंदन भीष्म ने उस रणक्षेत्र में नौ बाणों से अर्जुन को गहरी चोट पहुँचाई। तब अर्जुन ने भी उन्हें मर्मभेदी बाणों द्वारा बींध डाला (42½)।...वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष में भरकर युद्ध का अभिनन्दन करने वाले थे। दोनों ही दोनों के किए हुए प्रहार का प्रतिकार करते हुए समान भाव से युद्ध करने लगे। (45½) भीष्म के धनुष से छूटे हुए सायकों के समूह अर्जुन के बाणों से छिन्न भिन्न होकर इधर उधर बिखरे दिखाई देने लगे (46½)। इसी प्रकार अर्जुन के छोड़े हुए बाण समूह गंगानन्दन भीष्म के बाणों से छिन्न भिन्न हो पृथ्वी पर सब ओर पड़े हुए थे (47½)। अर्जुन ने पचीस तीखे बाणों से मारकर भीष्म को पीड़ित कर दिया। फिर भीष्म ने भी समरभूमि में अपने तीक्ष्ण सायकों द्वारा अर्जुन को बींध डाला (48½)। वे दोनों शत्रुओं का दमन करने वाले तथा अत्यन्त बलवान् थे।

* हिन्दी अनुवाद

अतः, एक दूसरे के घोड़ों, ध्वजाओं, रथ के ईषादण्ड तथा पहियों को बाणों से बींध कर खेल सा करने लगे ($49\frac{1}{2}$)। महाराज! तब प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ भीष्म ने कुपित होकर तीन बाणों से भगवान् श्रीकृष्ण की छाती में गहरी चोट पहुँचायी ($50\frac{1}{2}$)। श्रीकृष्ण को घायल हुआ देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने तीखे सायकों द्वारा कुरुकुल वृद्ध भीष्म के सारथि को विदीर्ण कर डाला" ($52\frac{1}{2}$)··· (भीष्म पर्व अध्याय 52)।

यहाँ युद्ध वर्णन के इतने विस्तृत उदाहरण देने का हमारा उद्देश्य यही रहा है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हमारे साहित्य में वीरकाव्य का जो रूप रहा है और युद्ध के जो ओजस्वी चित्र उपस्थित किये गए हैं, उनको सामने रख कर हम परवर्ती वीरकाव्यों का अध्ययन कर सकें।

इन वर्णनों को देखने से विदित होता है कि युद्ध का वर्णन यहाँ भी बहुत कुछ 'वाल्मीकि रामायण' की पद्धति पर हुआ है। यद्यपि यहाँ 'रामायण' की अपेक्षा विस्तार एवं व्यापकता अधिक है। युद्ध वर्णन में यथार्थता, स्वाभाविकता, चित्रात्मकता, (exactness, accuracy) भी अधिक है। यहाँ एक दूसरे पर चलाये गये तीरों की संख्या तक दे दी गई है। जबकि 'रामायण' में ऐसा कोई बिम्ब नहीं उभरता।

'महाभारत' में युद्धों का चित्रण वर्णनात्मक शैली में हुआ है। संजय युद्ध का आँखों देखा सारा विवरण आजकल की रेडियो कॉमेंटरी की शैली में धृतराष्ट्र को सुनाते हैं। लेकिन इस विवरण में गजब की चित्रात्मकता एवं यथार्थता है।

युद्ध के इन चित्रों में युद्ध-कथा की पूर्णता एवं सर्वांगीणता भी है और साथ साथ योद्धाओं के पराक्रम, शौर्य, साहस आदि की प्रशंसा भी कवि करता चलता है। जिससे आगे चलकर वीरकाव्यों के दोनों रूपों—'युद्ध कथात्मक वीर-काव्य' तथा 'प्रशस्ति मूलक वीर-काव्यों' का विकास हुआ।

'महाभारत' के इन ओजस्वी युद्ध वर्णनों में योद्धाओं के प्रहार-प्रतिप्रहार, रणकौशल, उनकी अद्भुत वीरता, पराक्रम, शौर्य, साहस, तेज, निर्भीकता, पौरुष, धैर्य, दृढ़ता का चित्रण भी हुआ है और उनके उत्साह, गर्व, हर्ष, उल्लास, अमर्ष आदि की भी भव्य व्यंजना हुई है। इन उत्साहवर्धक युद्धों में वीर रस के सभी अवयव मौजूद हैं और रस का पूर्ण परिपाक होता है। भीष्म, अर्जुन, द्रोण, कृपाचार्य, भीम, कर्ण, अभिमन्यु आदि 'महाभारत' के अमर वीर पात्र हैं। 'महाभारत' में पुरुषार्थ, वीरता और पौरुष को पुरुष का आदर्श घोषित किया गया है। उनमें कहा गया है कि, 'संसार की कोई नारी ऐसे पुत्र को जन्म न दे, जो अमर्ष शून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रम से रहित तथा शत्रुओं का आनन्द बढ़ाने वाला हो (उद्योग पर्व अध्याय 133/30)। ···वीर पुरुष को चाहिए कि वह सदा उद्योग ही करे, किसी के आगे नतमस्तक न हो, क्योंकि उद्योग करना ही पुरुष का कर्तव्य

—पौरुष है। वीर पुरुष असमय में ही नष्ट भले हो जाय, वह किसी के सामने सिर न झुकावे (उद्योग पर्व अध्याय 127/19)। 'महाभारत' में ऐसे ही वीरों का चरित्रांकन हुआ है। 'महाभारत' में योद्धाओं के गुण दोषों का भी सविस्तार निरूपण हुआ है और योद्धाओं के लक्षण भी बताये गये हैं (शांतिपर्व—अ० 101)।

युद्ध-वर्णन के अन्तर्गत 'महाभारत' के कवि ने रथों, गजों, अश्वों, पदाति की मुठभेड़; रथों की घरघराहट, गजों की चिंघाड़ अश्वों की हिनहिनाहट, वीरों की गर्जना, रण वाद्यों की ध्वनि, अस्त्र-शस्त्रों की टकराहट आदि से उत्पन्न तुमुल कोलाहल तथा क्षत विक्षत योद्धाओं, रथों, अश्वों, गजों, शस्त्रों आदि से युक्त रक्त रंजित युद्धभूमि के भयावह दृश्यों का भी अत्यन्त सजीव एवं लोमहर्षक वर्णन किया है।

'महाभारत' में उस युग के युद्धाचार अथवा युद्ध धर्म का भी निर्देश है। युद्ध आरम्भ होने से पूर्व दोनों पक्षों ने मिलकर युद्ध सम्बन्धी कुछ नियम बनाये थे। युद्ध धर्म की मर्यादा स्थापित की थी (भीष्मपर्व 1/26-34)। प्रद्युम्न ने भी अपने कुल के युद्ध धर्म का उल्लेख किया है (वनपर्व अ० 18, 19)। निपतित पर एवं 'मैं आपका हूँ' कहने पर आघात न करना; विरथ, मुक्त केश, भग्न आयुध, निःशस्त्र, सोये हुए पर या जिसने लड़ना बन्द कर दिया हो, उन पर वार न करना युद्ध के मान्य आदर्श थे। रात के समय पाण्डव शिविर में चोरी से घुस कर अश्वत्थामा द्वारा पाण्डव पुत्रों का वध करने से उसकी शुभ्र कीर्ति मलिन हो गई थी। क्योंकि शिविर में सोये हुए बच्चों, स्त्रियों, वृद्धों का वध करना अधर्म समझे जाते थे। दूत भी अवध्य था। 'मनुस्मृति' में भी इस प्रकार के युद्ध धर्म का निरूपण हुआ है (अध्याय 7/90-93)।

'महाभारत' में सामान्यतः इन नियमों का पालन हुआ है, पर इनकी उपेक्षा भी हुई है। यहाँ कूटनीति से भी काम लिया गया है। इस सम्बन्ध में शुक्राचार्य का कथन है कि "युद्ध में न्याय और अन्याय का प्रश्न बेकार है, युद्ध में शत्रु का ध्वंस ही परम ध्येय है। अतः, कूटनीति से काम लेना चाहिए" (शुक्रनीति अ० 7) 'महाभारत' में एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि "राजनीति में न कोई किसी का मित्र है न कोई किसी का शत्रु। मित्र और शत्रु सभी अर्थ की दृष्टि से आबद्ध हैं।" (शांतिपर्व—138)॥

'महाभारत' में भी 'वाल्मीकि रामायण' की भाँति वीर रस का स्वरूप अत्यन्त उदात्त एवं स्पृहणीय है। कौरवों का पक्ष असत्य, अनीति, अन्याय और अधर्म का पक्ष है, जबकि पाण्डवों का पक्ष सत्य, नीति, न्याय और धर्म का पक्ष है और अन्त में विजय भी सत्य, न्याय और धर्म की ही होती है। 'महाभारत' के युद्धों का प्रत्यक्ष कारण भूमि (पाण्डवों के राज्य की वापसी) ही है। लेकिन,

श्रीकृष्ण यह स्पष्ट कर देते हैं कि वास्तविक कारण मात्र राज्य की वापसी (भूमि) का नहीं है, प्रश्न न्याय और धर्म का है। कौरव क्योंकि अन्याय कर रहे हैं, इस लिए सत्य, धर्म और न्याय की रक्षा हेतु युद्ध अवश्य होगा और इसलिए वह युद्ध हुआ, अन्यथा पाँच गाँव अथवा उससे भी कहीं अधिक भूमि पाण्डवों को कृष्ण अथवा कोई भी और नरेश दे सकता था। स्वयं पाण्डव अपने बाहु बल से कहीं भी विजय प्राप्त करके अपना राज्य स्थापित कर सकते थे। लेकिन, वे तो न्याय चाहते थे और नीति और धर्म की स्थापना हेतु ही यह महाविध्वंसकारी महा-संग्राम हुआ। अर्थात् यह युद्ध एक 'महान् प्रयोजन' को लेकर हुआ। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'महाभारत' का अंतिम लक्ष्य युद्ध करके भूमि प्राप्ति करना अथवा स्वार्थ सुख नहीं है, वरन् भौतिक जीवन एवं जगत की निस्सारता दिखा-कर प्राणियों को मोक्ष के लिए उत्सुक बनाना है।

पांडव युद्ध में विजय प्राप्त करके, सारे राज्य के स्वामी बनकर भी, उस सत्ता और साम्राज्य के सुख को भोगने के इच्छुक नहीं हैं, वरन् उस सब को पाकर भी त्याग देते हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिए उत्सुक होकर निकल पड़ते है। युधिष्ठिर एक स्थान पर कहते हैं कि "वे वही सुख चाहते हैं, जो धर्म प्राप्ति करवाने वाला हो" (उद्योगपर्व 26/5)। यही कारण है कि विद्वान 'महाभारत' में वीर रस की प्रधानता को स्वीकार करते हुए भी उसका मुख्य रस (अंगी रस) 'शांत' मानते हैं; क्योंकि अन्ततः वीर रस की परिणति शांत रस में ही हो जाती है।[20] वीरता का यह एक अनुपम आदर्श है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'महाभारत' में युद्धों का ही सर्वांगीण, विशद एवं ओजस्वी चित्रण नहीं हुआ, वरन् यहाँ युद्ध-कथा एवं युद्ध-कला सम्बन्धी अन्य सभी विवरण भी विस्तार से मिलते है। इसमें वीरों के शौर्य, साहस एवं उत्साह आदि की भी भव्य अभिव्यंजना हुई है तथा वीर रस का भी पूर्ण परिपाक होता है और उस वीर रस का रूप अत्यन्त उदात्त है। निस्सन्देह, 'महाभारत' में 'वीर-काव्य' के सभी तत्त्व तथा प्रकार प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।

---

20. (i) बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० 92।
(ii) वा० गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 238।
(iii) आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोक उद्योत-4।

संस्कृत वीरकाव्य का स्वरूप

यद्यपि ऋग्वेद में वीर-भावना की ओजस्वी अभिव्यंजना हुई है, तथापि वीर-काव्य का समुचित एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्फुटन 'वाल्मीकि-रामायण' एवं 'महाभारत' में ही हुआ। संस्कृत-साहित्य में वीर-काव्यों की विशिष्ट स्वतन्त्र परम्परा नहीं मिलती। संस्कृत में 'रामायण' और 'महाभारत' के अनन्तर दो प्रकार के महाकाव्यों का प्रणयन हुआ। एक पौराणिक, दूसरे ऐतिहासिक। पौराणिक महाकाव्य 'रामायण', 'महाभारत', 'भागवत' एवं 'विष्णु पुराण' आदि के आख्यानों पर आधारित हैं तथा 'विक्रमांकदेव चरित', 'कुमारपाल चरित' 'हमीर महाकाव्य' आदि ऐतिहासिक परम्परा के महाकाव्य हैं। इन महाकाव्यों के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट सन्दर्भों में वीर-भावना की व्यंजना हुई है। इनके अतिरिक्त 'शिशुपालवध', 'रावणवध' जैसे कुछ ऐसे भी महाकाव्य हैं, जिन्हें विशुद्ध "वीरकाव्य" की श्रेणी में रखा जा सकता है, किन्तु इनमें भी युद्ध वर्णन जिस परिमाण में उपलब्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा कहीं अधिक परिमाण में इतर वर्णन मिलते हैं। प्रायः इन सभी काव्यों में शृंगारिक वर्णन अतिशयता से मिलते हैं। काव्य चाहे किसी राजा या सामंत के जीवन पर आधारित हो, चाहे शिव, कृष्ण, राम या किसी अन्य अवतारी पुरुष के जीवन पर, प्रायः सभी में शृंगारिक वर्णन अधिकता से मिलते हैं। कवि सायास ऐसे प्रसंगों की योजना कर लेते हैं, जहाँ स्त्रियों के सौन्दर्य, उनके शृंगार, वन विहार, जलक्रीड़ा, विलास, चन्द्रोदय संभोग आदि का विस्तृत वर्णन किया जाता है। उसके माध्यम से कवि काव्य का चमत्कारिक सौन्दर्य दिखाकर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करता है।

संस्कृत के अधिकतर महाकाव्य राजदरबारों में लिखे गये। कालिदास, भारवि, भट्टि, भट्टभीम आदि के राज्याश्रित होने में तो किसी को सन्देह ही नहीं है, धार्मिक-भावना से अनुप्राणित "सौन्दरनन्द" के प्रणेता कवि अश्वघोष के

सम्बन्ध में भी कई विद्वानों का मत है कि वे राज्याश्रित थे।

उस युग के राजाओं-सामंतों का आदर्श था—प्रजा-पालन एवं धर्मपरायणता। वे जहां सुन्दर ललनाओं की प्राप्ति हेतु युद्ध करते थे, वहां अपने कुल की मान-मर्यादा को बढ़ाने के लिए, यश की प्राप्ति के लिए अथवा दिग्विजय हेतु भी युद्ध में प्रवृत्त होते थे।

संस्कृत-साहित्य में सर्व प्रथम महाकाव्य के लिखने का श्रेय प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि को दिया जाता है। उस महाकाव्य का नाम था 'पाताल-विजय' अथवा 'जाम्बवती विजय'। जाम्बवती को लाने के लिए कृष्ण भगवान को पाताल में जाकर विजय प्राप्त करनी पड़ी थी। अतः, 'पाताल-विजय' 'जाम्बवती विजय' का नामान्तर मात्र है। यह महाकाव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।[1]

अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, भट्टि आदि कवियों ने संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा को समुन्नत किया है। अश्वघोष को प्रथम शताब्दी का कवि माना जाता है। उन्होंने 'बुद्ध चरित' एवं 'सौन्दरनन्द' की रचना की थी। "बुद्धचरित" एक धर्म प्रधान रचना है तथापि इसमें दैत्यमार और उसकी राक्षसी सेनाओं के विरुद्ध बुद्ध के युद्ध का ओजस्वी चित्र उपस्थित किया गया है। सेना की साज-सज्जा का भी रूपक अलंकार की सहायता से अच्छा वर्णन किया गया है।

कालिदास मूलतः प्रेम एवं सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने अपने महाकाव्यों "रघुवंश", तथा "कुमार संभव" में भी सौन्दर्य, प्रेम, ऐश्वर्य, वैभव, विलास, विहार आदि का वर्णन अधिक किया है, तथापि वीर भावना की अभिव्यंजना इनमें पर्याप्त मात्रा में हुई है। 'रघुवंश' ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा का काव्य है और "कुमार-संभव" पौराणिक परम्परा का। 'रघुवंश' में पाँच युद्धों का वर्णन है।

प्रथम युद्ध रघु का इन्द्र के साथ अश्वमेध के अश्व को लेकर हुआ। यहां युद्ध का 14 छन्दों में संक्षिप्त विवरणमात्र प्रस्तुत किया गया है(सर्ग 3/51-64)। शेष युद्ध रघु की दिग्विजय हेतु हुए हैं। यहां भी एक सर्ग के 88 श्लोकों में रघु को उत्तर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण के सभी राज्यों पर विजय करते दिखाया गया है। इस वर्णन में इतिवृत्त ही अधिक हैं, यद्यपि युद्ध के कुछ ओजस्वी चित्र भी इसमें मिलते हैं (4/62-63, 4/77-79)।

तीसरा युद्ध अज का स्वयंवर में प्राप्त इन्दुमती की रक्षार्थ हुआ। जब अज इन्दुमती से विवाह करके लौट रहे थे तो अन्य राजाओं ने ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत

---

1. बलदेव उपाध्याय "संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ, 151, 152

होकर उन्हें मार्ग में रोक लिया। रघु के दिग्विजय के समय उनका धन छीन लिया गया था। इसकी कसक एवं प्रतिशोध की भावना भी उनके मन में थी (7/34)।

अस्तु, यहाँ नारी, प्रतिशोध, वैमनस्य या ईर्ष्या-द्वेष के कारण युद्धों की प्रवृत्ति के वर्णन होते हैं।

चौथा युद्ध राम का ताड़का, मारीच एवं सुबाहु आदि के साथ यज्ञ की रक्षार्थ अथवा धर्म-स्थापना के महत् प्रयोजन को लेकर हुआ (11/1-30)। शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर वध भी इसी वर्ग में आता है(25/2-11)। विराधवध (12/28-31) तथा रावणवध के प्रसंगों (12/40-102) में युद्धों का कारण नारी की रक्षा ही है। राम यह भी कहते हैं कि उन्होंने यह युद्ध अपनी स्त्री के हरण का बदला लेने के लिए किया (14/41)। कवि ने रघु की प्रशंसा एक नीतिवान एवं प्रजारक्षक राजा के रूप में की है। अज भी भोग की इच्छा से नहीं वरन् पिता की आज्ञा पालन के लिए ही राज्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार की पृष्ठभूमि से इन युद्ध वर्णनों में उदात्तता आ जाती है।

"कुमार संभव" के युद्धों का एक ही उद्देश्य है। वह है—असुर-संहार। इसमें युद्धों का अधिक सजीव एवं विशद चित्रण हुआ है। युद्ध-कथा को भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। देव-सेना के उत्साह के साथ प्रस्थान, कार्तिकेय का विश्वास एवं गतिविधियां, दैत्य सेना की तैयारी और युद्ध के लिए प्रस्थान, तारक का युद्धोत्साह एवं गतिविधियां, दोनों सेनाओं के भीषण युद्ध, तारक एवं कार्तिकेय के पराक्रम, शौर्य, साहस, अमर्ष एवं उत्साह आदि का ओजस्वी चित्रण हुआ है। कवि ने रथ के रथ से (16/25-26), अश्व के अश्व से (16/18-30), हस्ति के हस्ति से (16/29-32), पदाति के पदाति से (16/33-34) भिड़ने का सजीव वर्णन किया है (सर्ग 16)। दोनों सेनाओं के संकुल युद्धों का भी चित्रण किया गया है और तारक तथा कार्तिकेय के द्वन्द्व युद्ध का भी (17/13-5) इसमें बाणों का युद्ध भी है और तलवार तथा भाले का भी एवं मल्ल युद्ध भी। "कुमार संभव" का अंगीरस भी वीररस स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि यहाँ शृंगार रस का पर्यवसान भी वीर-रस में हुआ है।

इन महाकाव्यों में युद्ध के निम्नलिखित कारण सामने आये हैं:

(1) असुर-संहार।

(2) यज्ञ की रक्षा अथवा धर्म-स्थापना।

(3) दिग्विजय-एवं यश-प्राप्ति।

(4) नारी-रक्षा।

(5) प्रतिशोध, वैमनस्य, ईर्ष्या और द्वेष।

आगे चल कर वीर-काव्यों में प्रायः ये ही युद्धों के मुख्य कारण बने। पौराणिक परम्परा के काव्यों में असुर-संहार एवं धर्म-स्थापना की भावना सुरक्षित है और ऐतिहासिक परम्परा के काव्यों में नारी तथा प्रतिशोध की भावना मुख्य रही।

कालिदास ने वीरों के पराक्रम, शौर्य, उत्साह, गर्व, वीरोचित, अमर्ष (16/45-46) आदि का, उनके अनुभवों के साथ जैसा सजीव चित्रण किया है, उनमें वीर रस का पूर्ण परिपाक होता है। युद्धों के ऐसे ओजस्वी चित्र चित्त में अदम्य उत्साह उत्पन्न करते हैं। इन योद्धाओं के अमर्षपूर्ण अनुभाव, गर्वपूर्ण उक्तियाँ युद्धोल्लास तथा पौरुषपूर्ण कृत्य उस उत्साह को उद्दीप्त करके रस रूप में परिणत करने में सहायक होते हैं।

कवि ने वीरों की वीरता, रणोत्साह आदि की प्रशंसा भी की है, जो प्रशस्ति मूलक-वीर-काव्यों के अनुरूप बन पड़ी है (रघु० 7/23)।

वीरों के आतंक के चित्रण के सम्बन्ध में कवि ने शत्रु पक्ष की स्त्रियों के भयभीत होकर, साज-सिंगार छोड़कर घर से भागने, (रघु 4/52-55), उनके बालों पर धूल पड़ने तथा यवनियों के मदिरा से लालिम गालों के मुरझाने (रघु० 4/61) आदि का भी उल्लेख किया है। हिन्दी के कवि भूषण पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।

'रघुवंश' में छः प्रकार की सेना का उल्लेख मिलता है।[2] सेना के प्रस्थान का दोनों ही काव्यों में सजीव चित्रण हुआ है।[3] 'रघुवंश' में यह संक्षिप्त है, 'कुमार संभव' में विशद।

देव सेना के प्रस्थान के समय उसकी साज-सज्जा, अलग-अलग वाहनों पर चढ़कर नगारे बजाते हुए उत्साह के साथ प्रस्थान का अत्यन्त चित्रात्मक एवं ओजस्वी चित्रण किया गया है। रथों की घरघराहट, हाथियों की चिंघाड़, मतवाले वीरों की ललकार, घंटों एवं नगाड़ों की ध्वनि (14/34-55), टनटनाते हुए घुंघरुओं वाली झंडियों (14/44) आदि से उत्पन्न कोलाहल ने उस चित्र को और भी यथार्थ एवं सजीव बना दिया है।

इन रचनाओं में 'महाभारत' की भाँति ध्वजाओं आदि का विशद वर्णन तो नहीं है, किन्तु केतु अथवा ध्वजा का उल्लेख अवश्य मिलता है। रणवाद्यों में भी केवल तुरही, नगाड़ों एवं घंटों आदि का उल्लेख हुआ है। 'कुमार संभव' (14/38

---

२ षड्विध बलमादाय प्रतस्थे दिग्विजगीषया, रघु० 4/२6।

3. रघुवंश (7/40-43) कुमार संभव 14/15-22, 30-35, 1५। 7-12, 14। 4-15।

-45) में वाहन के रूप में पालकी, अश्व, हस्ति, रथ, बैल, मेढ़े तथा प्रेतका, और अस्त्र-शस्त्रों में धनुष, बाण, भल्ल, छुरे, भाला, चक्र, तलवार, कृपाण, वज्र, गदा, दण्ड, त्रिशूल, भाला, करवाल के अतिरिक्त वायव्यास्त्र (आँधी उत्पन्न करने वाला अस्त्र), वरुणास्त्र (वर्षा करने वाला), गरुड़ास्त्र, शक्ति,अग्निबाण आदि के प्रयोग का वर्णन हुआ है। एक स्थान पर शिला,पत्थर एवं वृक्ष का भी उपयोग हुआ है। दुर्ग का संकेत भी मिलता है और अपशुकन आदि का भी वर्णन है (कु०स०15/13-32)।

कवि ने पराजित राजाओं द्वारा अधीनता स्वीकार करने, भेंट देने, विजय पाने के हर्षोल्लास तथा युद्ध में मृत्यु हो जाने पर देवता बनने या अप्सराओं द्वारा वरण करने (रघु० 7/51) का भी निरूपण किया है।

यहाँ रघुवंश के राजाओं के युद्धों को 'धर्मयुद्ध' कहा गया है। राजा अतिथि के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे धर्म की लड़ाई लड़ते थे (रघु०17/66)।

वस्तुत:, इन महाकाव्यों में युद्धकथा एवं युद्ध-चित्रण 'महाभारत' अथवा 'वाल्मीकि रामायण' जितना विस्तृत तो नहीं है तथापि युद्धों के उद्देश्य, सेना-प्रस्थान, अभियान, सेना के विस्तार एवं शक्ति, युद्ध-सामग्री, योद्धाओं के प्रहार-प्रतिप्रहार, उनके पराक्रम, शौर्य, उत्साह, विजयोल्लास एवं गर्वोक्तियों आदि सम्बन्धी वीर-काव्य के प्रायः सभी तत्त्व इनमें विद्यमान हैं। उनमें युद्ध कथात्मक वीरकाव्य के दर्शन भी होते हैं तथा प्रशस्तिमूलक वीर-काव्य के भी।

इन रचनाओं के पश्चात् संस्कृत की वीर-रसात्मक काव्य-परम्परा में 'किरातार्जुनीय,' 'शिशुपालवध' 'रावणवध', 'कीचकवध' आदि उल्लेखनीय हैं। भारवि कृत 'किरातुर्जनीय' वीर एवं शृंगार के वर्णन से ओतप्रोत कलात्मक महाकाव्य हैं। इस काव्य के बारहवें सर्ग से अठारहवें सर्ग तक किरात और अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। कवि ने अर्जुन और किरात (शिव) के बाण, तलवार, मुष्टि, मल्ल एवं बाहु-युद्ध का सजीव चित्रण किया है। द्वन्द्व युद्ध से पूर्व दोनों की सेनाओं के युद्ध का भी वर्णन है। युद्ध के अति विस्तार के कारण कुछ पुनरावृत्ति भी हो गई है। यह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण रचना है। व्याकरण एवं अलंकरण में पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण रस-बोध में भी बाधा पड़ती है। यहाँ वीररस प्रमुख है और शृंगार रस उसका अंग बनकर आया है।

भट्टि कवि के 'रावण-वध' में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन की कुछ घटनाओं का सरल रीति से वर्णन हुआ है। इसका भी मुख्य रस वीर है। किन्तु, भट्टि वीर रस का समुचित विकास नहीं कर सके, क्योंकि इस रचना में कवि का उद्देश्य राम कथा के साथ-साथ व्याकरण के नियमों के उदाहरण देना भी रहा है। विद्वत्ता-प्रियता के कारण कवि का ध्यान काव्य की विशेषताएं प्रदर्शित करने में तथा यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की सुन्दर छटा दिखाने में ही

अधिक रहा है। प्रसंगवश ही शृंगार रस का वर्णन इसमें हुआ है।

भट्टि को आदर्श मानकर भट्ट भीम ने 'रावणार्जुनीय', काव्य की रचना की। इस महाकाव्य में 27 सर्ग हैं। कीथ के अनुसार इसकी मुख्य कमी इसकी जीर्ण कथावस्तु है।[4] इस काव्य का उद्देश्य भी वीर रस निरूपण की अपेक्षा व्याकरण के नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करना है।[5] युद्ध प्रसंग में सेना द्वारा समुद्र पार करने का वर्णन सजीव बन पड़ा है। बीच में जल-क्रीड़ा एवं अन्य शृंगारिक वर्णन भी उपलब्ध हैं।

इसी परम्परा में कुमारदास का 'जानकीहरण' आता है। यह बीस सर्गों का 'विजय काव्य' है, जो 'रामायण' की कथा पर आधारित है। इसमें सत्रहवें सर्ग से बीसवें सर्ग तक युद्ध का वर्णन आता है। अन्त में राम की रावण पर विजय के साथ यह समाप्त होता है।

वीर रस प्रधान काव्यों की श्रेणी में माघ का 'शिशुपालवध' विशिष्ट महत्त्व की रचना है। माघ के सम्बन्ध में एक प्रशस्ति प्रचलित है कि उनमें कालिदास की सी उपमा, भारवि का अर्थ-गौरव तथा दण्डी का सा पद-लालित्य-तीनों गुण उपलब्ध हैं।

'शिशुपाल-वध' शृंगार और वीर के सम्मिश्रण की पद्धति पर रचित एक विशिष्ट कृति है। इसमें नारद की प्रेरणा से युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदि नरेश शिशुपाल का, जो मनुष्य और देवताओं के लिए भयप्रद हो रहा था, कृष्ण द्वारा वध का वर्णन है। कथा 'महाभारत' पर आधारित है। चौथे से ग्यारहवें सर्ग तक मुख्य कथावस्तु को बिलकुल छोड़कर वर्णनों में अपना वैदग्ध्य प्रदर्शित किया गया है। वैसे माघ वीर और शृंगार दोनों के कुशल चित्रकार हैं। 'शिशुपाल वध' में उन्होंने सेना के पड़ाव (सर्ग-5), युद्ध के लिए सेना की तैयारी, दूत भेजने, व्यूह-रचना, दोनों प्रतिद्वंद्वियों का सामना होने तथा बाण एवं दैवी-अस्त्रों के प्रयोग आदि का वर्णन यथा स्थान किया है। किन्तु, इन वर्णनों में इतिवृत्त ही अधिक है। युद्ध-वर्णन विस्तृत अवश्य है किन्तु वे पुस्तकों के आधार पर खींच गये चित्र लगते हैं। सेनाओं की भिड़न्त के ध्वन्यात्मक वर्णनों में, शिशुपाल की गौरवपूर्ण उक्तियों में तथा कुछेक युद्ध-वर्णनों में ओजस्विता एवं सजीवता है। बीच में ऐसे शृंगारिक प्रसंग भी विस्तार से आये है, जिनमें स्त्रियों के सौन्दर्य, उनके शृंगार, वन-विहार, जलविहार, नायकों द्वारा उनके वेश से मोहित होने, चन्द्रोदय, काम-भावना की उत्पत्ति, उनके कटाक्षों से नायकों के बिंधने, रति, सम्भोग, मद्यपान आदि का माधुर्यपूर्ण चित्रण हुआ है। कवि ने अपनी

4. कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 145

5. वही, पृ० 165

शब्दचातुरी, चित्र-रचना एवं अलंकरण-चमत्कार का भी खूब प्रदर्शन किया है। वस्तुतः, यह एक कलात्मक रचना है। इसका अंगीरस वीर है और अंग रूप में शृंगार रस का निरूपण हुआ है।

शिशुपाल क्योंकि अत्याचारी है और उसका वध कृष्ण, इन्द्र द्वारा भेजे हुए नारद की प्रेरणा से करते हैं, इसलिए इसका उद्देश्य असुर-संहार है और यही कारण है कि इसमें उदात्त वीर-भाव की व्यंजना हुई है।

प्रवरसेन के 'रावणवध' अथवा 'दशमुखवध' या 'सेतुबंध' में रावण के विरुद्ध प्रयाण और लंका के लिए सेतु-निर्माण से लेकर रावण वध तक की कथा का वर्णन है। इसी प्रकार अभिनन्दन का 'रामचरित' एक सरस काव्य है, जिसमें 'किष्किंधा काण्ड' से 'युद्ध काण्ड' तक का कथानक 37 सर्गों में निबद्ध है। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में भर्तृमेण्ठ के 'हयग्रीव वध' नामक महाकाव्य का उल्लेख किया है। किन्तु, दुर्भाग्यवश यह आज अनुपलब्ध है। भोजराज के 'शृंगार प्रकाश' के अनुसार इस काव्य के नायक हैं महादेव और प्रतिनायक हैं हयग्रीव। नायक के अतिरिक्त कवि ने हयग्रीव के शौर्य का पर्याप्त वर्णन किया है।[6]

रत्नाकर का 'हरविजय' परिमाण एवं गुण की दृष्टि से संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में एक श्रेष्ठ रचना है। यह एक 'विजय-काव्य' है और इसका प्रयोजन असुर-संहार है। इसमें 50 सर्ग हैं तथा 4321 पद्य हैं। कथानक स्वल्प है और अन्य संस्कृत महाकाव्यों की ही भाँति इतर वर्णनों का प्राचुर्य है। युद्ध-काव्य होने पर भी इसमें राजधानी, ऋतु, पर्वत शिव के गुणों एवं क्रीड़ाओं का वर्णन अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। शृंगारिक प्रवृत्ति भी प्रबल है।

कश्मीर के राजा जयसिंह (1129-1150) के सभापण्डित मंखक ने 'श्रीकंठ चरित' लिखा, जिसमें भगवान् शंकर द्वारा त्रिपुरासुर के नाश की कथा एवं युद्धों का वर्णन परम्परागत शैली में किया गया है। योद्धाओं के पराक्रम, सेना-व्यवस्था, सेना-प्रस्थान, दैत्यों के व्याकुल होने आदि का वर्णन भी यथास्थान किया गया है। मूल कथानक बहुत थोड़ा है। महाकाव्य की पूर्ति के लिए यहाँ भी जल-क्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रसाधन, केलि-क्रीडा एवं प्रभात आदि का वर्णन विस्तारपूर्वक 7वें सर्ग से 16वें सर्ग तक किया गया है। युद्धों का प्रयोजन यहाँ भी असुर-संहार है।

क्षेमेन्द्र ने 'रामायण' तथा 'महाभारत' के आधार पर 'रामायण मंजरी' तथा 'भारत मंजरी' की रचना की, जिनमें यथास्थान वीर रस का निरूपण हुआ है। पौराणिक परम्परा के इन काव्यों में वासुदेव कृत 'वासुदेव विजय' (जो अपूर्ण

---

6. कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० 159-161

है) नीतिवर्मन रचित 'कीचक-वध" तथा वासुदेव के 'युधिष्ठिर विजय' का उल्लेख भी किया जा सकता है। ये यमक प्रधान काव्य हैं, जिनमें वीररस निरूपण की अपेक्षा काव्य-चमत्कार दिखाना ही कवि का अभीष्ट है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों में 'पद्मगुप्त परिमल' 'नवसाहसांक चरित्र', 'विक्रमांकदेवचरित', 'कुमारपालचरित, 'पृथ्वीराजविजय', 'जयन्त-विजय' आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। कल्हण के अनुसार शंकुक ने 'भुवनाभ्युदय' काव्य लिखा था, जिसमें मंख और उत्पल के भयानक युद्ध का वर्णन था। हेमचन्द्र के 'कुमारपाल चरित' के प्रथम भाग में 20 सर्ग संस्कृत में हैं और शेष सर्ग प्राकृत में हैं। इसमें इतिहास के साथ व्याकरण के नियमों की व्याख्या उपलब्ध होती है। इसकी श्रृंखला में सोमेश्वर का 'कीर्ति-कौमुदी' है जो वस्तुपाल के पराक्रम और कृत्यों का निरूपण परक ऐतिहासिक काव्य है।

'पृथ्वीराज-विजय' की एक खण्डित हस्त-प्रति प्राप्त है। अजमेर और दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज की विजयों का वर्णन इसमें है। पृथ्वीराज ने सन् 1191 में गौरी पर विजय प्राप्त की थी। इसी का वर्णन इस काव्य में है। लेखक अज्ञात है।

इसी परम्परा में संध्याकर नन्दी का 'रामपालचरित' आता है। बंगाल के बलवान राजा रामपाल (1084-1130) ने अपने शासन को भीम से वापिस लिया था और मिथिला को जीता था। इस काव्य में रामपाल और रामायण दोनों की कथाएं एक साथ निबद्ध हैं।

बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित' इतिहास के सम्बन्ध में गम्भीरतर रचना है। यह सन् 1088 से पहले की रचना प्रतीत होती है। इसमें विक्रमादित्य के जीवन की घटनाएं वर्णित हैं, जिनको पौराणिक वातावरण में पल्लवित किया गया है। जयसिंह एवं चोलों के उपद्रवों का शमन ही इसका ध्येय है। काव्य में वास्तविक चरित्र-चित्रण का अभाव है। केवल महाकाव्य का प्रतिबिम्ब ही विद्यमान है। काव्य की कृत्रिम शैली के कारण इसमें अर्थ की क्लिष्टता है। बीच में स्त्री-सौन्दर्य, विवाह, सह-स्नान, मद्यपान आदि से सम्बन्धित वर्णन भी प्राप्त हैं।

ऐतिहासिक विजय-काव्यों की परम्परा में अभय कृत (19 सर्गों का) 'जयन्त विजय' (ई० 1221) काव्य भी उल्लेखनीय है, जिसमें मगध देश के राजा जयन्त की विजय का लगभग दो सहस्त्र श्लोकों में वर्णन किया गया है।

चन्द्रशेखर द्वारा रचित "सुरजन चरित" 20 सर्गों का ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें बून्दी के हाडवंशीय राजाओं के शौर्यपूर्ण चरित का वर्णन हुआ है। राजा सुरजन अकबर के विश्वास पात्र थे और उन्होंने अनेक युद्धों में भाग

लिया था।

राज नाथ डिंडिम कवि कृत 'अच्युतरायाभ्युदय' भी एक ऐतिहासिक रचना है, जिसमें 12 सर्ग हैं और उसमें अच्युतराय के युद्धों, विजयों, जीवन की अन्य घटनाओं का वर्णन हुआ है। गंगादेवी कृत 'मथुरा-विजय' में विजयनगर के साम्राज्य के आरम्भिक काल की घटनाओं का वर्णन है। इसमें वीर कम्पराय की पत्नी गंगा देवी ने अपने पति की विजयों का जीता-जागता चित्र अंकित किया है।

शिवस्वामी द्वारा प्रणीत 'काफ्कनाभुदय' का कथानक 'अवदान शतक' में वर्णित श्रावस्ती के राजा के विरुद्ध दुरभिसन्धि रखने वाले दक्षिण के एक नृपति के धर्म-परिवर्तन पर आधारित है। कफिकन दक्षिण देश के राजा थे। एक गुप्तचर से प्रसेनजित के गर्व एवं न्याय शासन का समाचार सुनकर कफिकन के दरबारी सामन्त घबरा जाते हैं, युद्ध-परिषद् की बैठक होती है और एक दूत प्रसेनजित के पास युद्ध की भर्त्सना के लिए भेजा जाता है। तदनन्तर कवि ने सेना के कूच, दीर्घ समय तक चलने वाले संघर्ष आदि का वर्णन किया है। कफिकन के धर्म-परिवर्तन से यह काव्य समाप्त होता है। अन्य काव्यों की भांति इसमें भी स्त्रियों के साथ सेनाओं की जल-क्रीडा, चन्द्रोदय, मधुपान एवं सम्भोग आदि के श्रृंगारिक वर्णन उपलब्ध होते हैं।

संस्कृत के ऐतिहासिक वीर-काव्यों की परम्परा में जयचन्द्र सूरी द्वारा रचित 'हमीर महाकाव्य' एक विशिष्ट रचना है। रणस्तम्भपुर (रणथम्भोर) के प्रख्यात चौहानवंशी राजा हमीर अपनी शरणागत-वत्सलता तथा शौर्य के लिए मध्ययुगीन इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। रणस्तम्भपुर में अलाउद्दीन खिलजी के साथ युद्ध करते हुए शरणागत वत्सल हमीरदेव ने वीरगति प्राप्त की थी।[7] इसी ऐतिहासिक घटना का सविस्तार वर्णन इस काव्य में हुआ है। इसमें 14 सर्ग हैं और 1572 श्लोक हैं। 15वीं शती में रचित यह वीरकाव्य ओजस्वी तथा स्फूर्ति प्रदायक वर्णनों से परिपूर्ण है और इसमें श्रृंगार, वीर और अद्भुत रस का अनोखा सामंजस्य उपलब्ध होता है। रणथम्भोर के किले पर यवनों की चढ़ाई, अलाउद्दीन के युद्ध स्थल पर जाकर युद्ध करने, रतिपाल के विश्वासघात, हमीर द्वारा अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए वीरगति को प्राप्त करने, राजपूतों की पराजय तथा राजपूत स्त्रियों द्वारा जौहर आदि का अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ चित्रण इस काव्य में हुआ है। हिन्दी में भी हम्मीर को लेकर कई काव्य लिखे गये। किन्तु, उनके कथानक में पर्याप्त पार्थक्य है। इन काव्यों में चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ' और जोधराज का 'हम्मीर रासो' उल्लेखनीय है।

---

7 बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 294-295

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संस्कृत-काव्य का प्रथम अवतार सात्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद पुत्रों को आश्रय देकर कवि कला को प्रोत्साहन देने वाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महीपालों के साथ सर्वथा स्थापित था।[8] कालिदास, माघ, भारवि आदि कवि तो असन्दिग्ध रूप में राज्याश्रित थे ही कुछ विद्वानों ने बौद्ध कवि अश्वघोष को भी राज्याश्रित माना है।

यही कारण है कि इन कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं के वैभव और यश को अक्षय बना रखने के लिए कुछ उठा न रखा तथापि हम देखते हैं कि इन काव्यों में भारतीय संस्कृति और अध्यात्म के उच्चतम रूप का आख्यान प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि 'प्राचीन हिन्दू राजाओं का दरबार संस्कृत विद्या का केन्द्र था और काव्य भारतीयता का सांस्कृतिक स्थल था।'[9] राजाओं के दरबार कला-कौशल और वैभव के साथ संस्कृति और सभ्यता के भी केन्द्र थे। भारतीय संस्कृति के प्रधान पीठ वे तपोवन हैं, जो "आध्यात्मिकता के आगार, नैतिकता के निकेतन, सात्विकता के शुभ सदन हैं"।[10] संस्कृत के महाकाव्य जहाँ राजदरबारों के वैभवपूर्ण एवं कलात्मक वातावरण को अपने में समेटे हुए हैं, वहां उनकी पृष्ठभूमि में तपोवन का यह सात्विक वातावरण भी विद्यमान है। बाल्मीकि तथा व्यास की ही तरह कालिदास तथा भवभूति, बाण और दण्डी ने भी एक स्वर से तपोवन के स्वरूप और महत्त्व का गुणगान किया है।[11]

परिणामस्वरूप संस्कृत में वीररसात्मक काव्यों की दो प्रमुख धाराएँ मिलती हैं, एक पौराणिक, दूसरी ऐतिहासिक। राजदरबारों में रचित अधिकतर काव्य भी 'रामायण,' 'महाभारत' या 'भागवत-पुराण' पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ 'जानकीहरण' (कुमारदास), 'रावणवध' (भट्टि), 'रघुवंश' (कालिदास), 'रावणार्जुनीय' (भट्टभीम), 'रामायण मंजरी' (क्षेमेन्द्र), 'रामचरित" (अभिनन्द) रामायण पर आधारित हैं। 'किरातार्जुनीय' (भारवि), 'शिशुपाल वध' (माघ), 'भारत मंजरी' (क्षेमेन्द्र) आदि काव्य 'महाभारत' का आधार लेकर लिखे गए हैं। 'भागवत पुराण' का आधार लेकर भी अनेक

8. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 111
9. वही, पृ० 113
10. वही, पृ० 119
11. वही, पृ० 118

काव्यग्रन्थ लिखे गए हैं।

ये तीनों ग्रन्थ भारतीय-साहित्य के महत्त्वपूर्ण उपजीव्य काव्य हैं। जिनसे स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर अर्वाचीन कालीन कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों को सजाया संवारा। 'रामायण' महाकाव्य है और कर्म-प्रधान है; 'महाभारत' इतिहास है और ज्ञान प्रधान है; 'भागवत' पुराण है और भक्ति प्रधान है। संस्कृत महाकाव्यों में निरन्तर इन तीनों प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। इस विवेचन के अन्तर्गत इन तीनों प्रकार की रचनाओं को हमने पौराणिक परम्परा में स्थान दिया है। ऐतिहासिक काव्यों में उन्हीं को स्थान दे रहे हैं जो संस्कृतकाल के किसी-राजा के ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित हैं। जैसे विक्रमादेव चरित (बिल्हण), 'कुमारपालचरित' (हेमचन्द्र), 'पृथ्वीराजविजय' (अज्ञात) तथा 'हमीर महाकाव्य' (जयचन्द्रसूरी), 'रामपाल चरित' (संध्याकर नन्दी), 'जयन्त विजय' (अभयदेव), 'काफकनाभ्युदय' (शिवस्वामी)। ऐसे काव्यों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

पौराणिक काव्य में राम (जानकीहरण, रावणवध, रघुवंश आदि), कृष्ण (शिशुपाल वध), शिव (हरविजय, किरातार्जुनीय) आदि को लेकर वीर-काव्य लिखे गए। इनमें 'रामायण', 'महाभारत', आदि से कथा-प्रसंग लेकर कथात्मक-सौन्दर्य, कोमलता, काव्यगुण एवं चमत्कार भर दिया गया है। ये काव्य राजसभाओं के लिए लिखे गए थे, इसलिए वहां के कलात्मक वातावरण के अनुरूप उसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन, आलंकारिकता एवं शृंगारिक कमनीयता का सन्निवेश सायास किया गया है। इनके इस स्वरूप को ठीक से समझने के लिए तत्कालीन दरबारी वातावरण, राजाओं की मनोवृत्ति तथा नागरिक जीवन को जान लेना उचित होगा। कीथ के अनुसार, 'भारतीय जीवन के बढ़ते हुए विस्तार ने जिसको जन्म दिया था और जिसकी रुचि के प्रीणनार्थ कवि प्रयत्नशील रहते थे, उस नागरिक के स्वरूप का चित्रण वात्स्यायन से प्राप्त होता है। उसके अनुसार सम्पत्तिशाली और नगर का निवासी इसी खोज में रहता था कि अपने अनुकूल साथी-संगियों को पाकर उनके साथ नागरिक जीवन के आमोद-प्रमोद का उपभोग जारी रखे। उसके निवास स्थान को इसका गर्व है कि उसमें युग की समस्त सुख-सुविधाएं विद्यमान हों। जैसे मुलायम आसन्दियां, उद्यानगत ग्रीष्मगृह, सुकुसुम स्थण्डिलपीठिका, अवकाश के समय साथ में रहने वाली और उसका मनोरंजन करने वाली रमणियों के विनोद के लिए दोलाएँ। उसका पर्याप्त समय प्रसाधन में जाता था। यह आवश्यक है कि वह स्नान करे तेल की मालिश की जावे, सुगन्धित पदार्थों को लगाया जावे, मालाएँ पहनाई जाएं। तदनन्तर वह चारों ओर लटकते हुए पिंजरों के पक्षियों को बोलना सिखाए,

अथवा मेषों या कुक्कुटों के युद्ध में क्रूर दृश्यों का आनन्द ले सके, वाराङ्गनाओं के साथ वह नगर के उपवनों में भ्रमणार्थ जाता है और उसके द्वारा अवचित कुसुमों से भूषित होकर घर लौटता है। संगीत समाजों, नृत्य और नाटकीय अभिनयों में भी उसका जाना होता है। उसके पास में ही वीणा रखी है, जिसको वह जब चाहे बजा सकता है। साथ में पुस्तक भी है, अवकाश के साथ पढ़ने के लिए। उसकी प्रसन्नता के लिए प्रकृत-विषयक छैल छबीले दोस्त और तरह-तरह के पिछलग्गू साथी, जिनको पुस्तक में विट, पीठमर्द या विदूषक कहा गया है, आवश्यक होते हैं। पान-गोष्ठियाँ भी पाई जाती हैं। तो भी आदर्श के प्रतिबिम्ब के कारण गंवारू अनियन्त्रण उनमें नहीं दिखाई देता। अपने आमोद के सम्बन्ध में भी नागरिक की दृष्टि भद्रता, नियन्त्रण और थोड़ी-बहुत मर्यादा की ओर रहती है।'''उसके लिए वाराङ्गनाओं का साथ आवश्यक है, परन्तु वे भी गुणों से सम्पन्न हैं। उनको साहित्यिक रसास्वादन की योग्यता के साथ-साथ सर्व-विध ज्ञान से भी सम्पन्न होना चाहिए।'''अत्यन्त समृद्ध वेश्याओं के पास बहुत सम्पत्ति होती थी। साहित्य, संगीत और कला के सम्बन्ध में उनके यहाँ जो विचार-गोष्ठियाँ होती थीं, उसमें सम्मिलित होने वालों को अवश्य ही ऐसा आह्लाद होता होगा जिसकी आशा वे अपनी स्त्रियों से नहीं कर सकते थे। अपनी स्त्रियों से तो केवल सन्तानोत्पत्ति और अपने घरों की देखभाल ही चाहते थे।"[12]

ऐसे विलासपूर्ण, शृंगारिक एवं कला सम्पन्न वातावरण में पोषित काव्य में शृंगारिकता, कलात्मकता तथा चमत्कार का आना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि इस युग के संस्कृत के वीररसात्मक पौराणिक काव्यों में भी मुख्य कथा का वर्णन जिस परिमाण में होता है, इतर प्रसंग का वर्णन कहीं अधिक परिमाण में रहते हैं। उनमें एक ओर तो स्त्री-सौन्दर्य, प्रसाधन शृंगार, जल-क्रीडा, वनविहार, चन्द्रोदय, पान-गोष्ठी, विलास-संयोग, विरह आदि के विस्तृत वर्णन किए जाते हैं और दूसरी ओर उन्हें ललित पदों की मैत्री नवीन चमत्कारी अर्थ की कल्पना, अभिनव वर्णनों के उपन्यास में शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व तथा अलंकारों के चमत्कार से सजाया संवारा जाता है। 'हरविजय', 'रावण वध' आदि युद्ध काव्यों में भी यह प्रवृत्ति दृष्टव्य है। उदाहरणार्थ 'हरविजय' 50 सर्गों का महाकाव्य है। इसमें कथा का अंश अत्यन्त स्वल्प है। आरम्भ के 15 सर्ग जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरह, पानगोष्ठी आदि के वर्णन में ही खर्च कर दिये गए हैं। इसे अलंकृत, परिष्कृत एवं मांसल बनाने में भी कवि ने कुछ उठा नहीं रखा।

---

12. कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 64-66

इस तरह के काव्यों में पाण्डित्य का बोझ इतना अधिक होता है कि उसके भीतर काव्य की स्वाभाविक रमणीयता दब-सी गई है। कवियों ने कथा के माध्यम से कहीं यमक या श्लेष में अपना कला-कौशल दिखाया है तो कहीं व्याकरण के नियमों का उद्घाटन करने में। इन काव्यों का सांस्कृतिक पक्ष भी पुष्ट है। इस का यही कारण हो सकता है कि एक तो उस समय के हिन्दू राजा प्रायः धर्मनिष्ठ, प्रजापालक एवं कर्त्तव्य-परायण थे और उनकी भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म में दृढ़ निष्ठा थी। दूसरे, कवि जिस पौराणिक आधार को लेकर काव्य लिखते थे, उनकी मूल-भावना को सुरक्षित रखना भी आवश्यक दीख पड़ता था।

इस परम्परा के काव्यों में कथा का उद्देश्य असुर-संहार या दुष्ट-विनाश है। लेकिन, कवियों का उद्देश्य पाठकों में संत-रक्षा, धर्म-स्थापना, सत्यनिष्ठा का भाव उत्पन्न करना और दुष्ट-विनाश के लिए उन्हें प्रेरित अथवा प्रोत्साहित करना इतना नहीं है, जितना उनकी कलात्मक अभिरुचि एवं शृंगारिक प्रवृत्ति को पुष्ट करना और इस तरह उनकी प्रशंसा पाना। शुद्ध वीर-काव्यों में भी कवि का मुख्य उद्देश्य अपनी कमनीय काव्य कला के प्रदर्शन द्वारा सभाओं में मान पाना है, न कि राष्ट्रीय भावना या सांस्कृतिक चेतना को उद्दीप्त करके योद्धाओं में उदात्त रणोत्साह, पौरुष अथवा पराक्रम उत्पन्न करना। इनमें कुछ 'विजय काव्य' तथा 'वध काव्य' भी हैं, जिनमें युद्धों का चित्रण कुछ विस्तार से हुआ है। कहीं-कहीं वीररस के उदात्त रूप के दर्शन भी होते हैं, विशेष रूप से पौराणिक परम्परा के काव्यों में। असुर-संहार, या दुष्ट-विनाश के उद्देश्य को लेकर लिखे गये काव्योंमें ही वीर-रस की समुचित अभिव्यंजना हुई है। "युद्ध-भूमि के वीभत्सता पूर्ण दृश्यों से युद्धों के प्रति जुगुप्सा का भाव भी जाग्रत हो सकता है। कहीं-कहीं युद्ध की भर्त्सना के भी संकेत मिलते हैं।

निःसंदेह, हिन्दी के चारण काव्य की पृष्ठभूमि भी बहुत कुछ वही नागरिक विलासपूर्ण वातावरण है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है और उन काव्यों का स्वरूप भी लगभग ऐसा ही है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दी में अधिकांश ऐतिहासिक काव्य लिखे गए हैं। इसलिए उनमें कथा का उद्देश्य इनसे कुछ भिन्न है और उनकी धार्मिक भावना एवं सांस्कृतिक चेतना भी इतनी पुष्ट नहीं है।

संस्कृत में शुद्ध ऐतिहासिक वीर काव्य तो बहुत कम लिखे गए हैं। प्रायः ऐसे ऐतिहासिक काव्य ही मिलते हैं, जिनमें बीच-बीच में वीर रस का निरूपण हुआ है।

कीथ महोदय ने संस्कृत में ऐतिहासिक काव्य के अभाव के लिए ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव, राष्ट्रीय भावना का अभाव, पौराणिकता की अभिरुचि, कर्म सिद्धान्त तथा नियतिवाद, अलौकिक घटनाओं, जादू टोने, चमत्कारपूर्ण शक्तियों

आदि में विश्वास आदि अनेक कारणों का उल्लेख किया है।[13]

हम समझते हैं कि इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उस युग में भारत में धर्म-भावना एवं आध्यात्मिक दृष्टि अधिक प्रभाव रखती थी और इसलिए कवि प्राकृत जनों के गुण गाने की अपेक्षा देवी-शक्तियों, अपने इष्टदेव आदि के गुणगान की ओर अधिक आकृष्ट होता था।

कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक भावना से परिचित ही नहीं थे। परन्तु हम समझते हैं कि यह धारणा सर्वथा निराधार है। क्योंकि "छान्दोग्य उपनिषद" (7-8), निरुक्त (यास्क), आदि में भी इतिहास विद्या का परिचय मिलता है।[14]

"पाश्चात्य इतिहास कल्पना और भारतीय इतिहास में यह अन्तर था कि पाश्चात्य इतिहास घटना प्रधान है, जिसमें युद्धादि की घटनाओं के विवरण पर जोर दिया जाता है, भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य विशेष महत्त्व नहीं रखता, वरन् हमारे जीवन सुधार से उसका जहां तक लगाव है, वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।[15] अर्थात् भारतीय संस्कृति, सभ्यता और समाज के समादृत-अनुकरणीय जीवन आदर्शों का प्रतिपादन इतिहास है—पुराण इस दृष्टि से इतिहास ही है। संभवतः, इसीलिए 'महाभारत' तथा छान्दोग्य उपनिषद में इतिहास को भी इतिहास-पुराण कहा गया है।

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् (महाभारत)
ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम्
इतिहास-पुराणं पंचम वेदानां वेदम् (छन्दोग्य उपनिषद 7.1)

संस्कृत के ऐतिहासिक काव्य इसी श्रेणी के हैं। यह कहना तो कदाचित उचित नहीं है कि उनमें ऐतिहासिक दृष्टि का सर्वथा अभाव है, लेकिन इतना जरूर है कि ऐतिहासिक घटनाओं आदि की सत्यता और यथार्थता के निर्वाह का आग्रह इन कवियों में अधिक नहीं है। वंशावलियों में नामों एवं समय की सूचियाँ निराशाजनक रूप से नियमतः अशुद्ध हैं।[16]

ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करके रंजक एवं अलौकिक प्रसंगों की कल्पनाश्रित योजना खूब की गई है। ऐसे काव्य राजाओं के प्रमोद अथवा यशो-

---

13. कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 180-188

14 बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 52

15 वही, पृ०53

16 कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 182

गान के लिए ही लिखे जाते थे, इसलिए शृंगारिक-वर्णन, चमत्कार-प्रदर्शन, आश्चर्यपूर्ण घटनाओं तथा राजाओं के वैभव, शौर्य आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण स्वाभाविक ही है। "इन कवियों का उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों के यथार्थ अंकन की अपेक्षा प्रसन्नता देने वाले ग्रंथों के निर्माण द्वारा सन्तुष्ट करना ही अधिकतर अभिमत था।" ये कवि राजाओं के जीवन को महापुरुषों के अनुरूप चित्रित करते थे, चाहे वे वैसे हों या न हों। उनके कार्यों की अस्पष्ट झांकी मात्र प्रस्तुत करते हैं, शेष कल्पना के आधार पर वस्तु-वर्णन, शृंगारिक चित्रण आदि में काव्यत्व का प्रदर्शन करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखकर 'वीरकाव्य' के निम्नलिखित लक्षण नियत किये जा सकते हैं:—

(क) युद्ध-कथात्मक वीर काव्य

(1) सम्पूर्ण युद्ध-कथा।

युद्ध की पृष्ठभूमि एवं कारण को लेकर उसकी परिणति तक की कथा।

(2) युद्ध-सामग्री, युद्ध-विद्या, युद्धाचार, युद्ध-धर्म आदि का निरूपण।

(3) युद्ध-वर्णन—सेना की तैयारी, सेना-प्रस्थान, आक्रमण, योद्धाओं की मुठभेड़, कोलाहल, प्रहार-प्रतिप्रहार, विविध प्रकार के युद्धों आदि का वर्णन तथा विजय के हर्षोल्लास आदि का चित्रण।

(4) युद्ध-भूमि का चित्रण।

(5) योद्धाओं के पराक्रम, शौर्य, साहस, रण-कुशलता, धैर्य, उद्वेग, आवेश, गर्व, उत्साह, अमर्ष आदि का चित्रण।

(6) वीरों के सम्बन्ध में प्रशस्तियाँ, उनकी गर्वोक्तियाँ आदि।

(7) वीर रस का निरूपण-उत्साह भाव की सम्यक अभिव्यंजना, जिससे वीर रस का समुचित परिपाक हो।

(8) साहस का प्रदर्शन किसी महत्प्रयोजन को लेकर किया गया हो, जिससे उस में उदात्तता हो, कर्म-सौन्दर्य हो।

(ख) प्रशस्ति मूलक वीर काव्य

वीरों के पराक्रम, शौर्य, साहस, निर्भीकता, धैर्य, दृढ़ता तथा अन्य गुणों की प्रशंसा सम्बन्धी काव्य।

साहित्येतिहास चिन्तन और हिन्दी साहित्य का इतिहास : पुनर्विचार

मानव-कार्यों का कालक्रमानुसार व्यवस्थित विवरण 'इतिहास' है और मानवीय संवेदनाओं की रमणीय अभिव्यक्ति 'साहित्य'। इस रूप में साहित्य के अधिकतर इतिहास मानव-सभ्यताओं के इतिहास भी कहे जा सकते हैं, लेकिन राजनीतिक या सामाजिक इतिहास से साहित्य के इतिहास की प्रकृति नितान्त भिन्न होती है। इसका मुख्य एक कारण यह भी है कि 'इतिहास' (राजनीतिक) विगत है, जड़ है, वर्तमान में वह जी नहीं सकता जबकि प्रत्येक साहित्यिक कृति ऐतिहासिक (अतीत की) होने के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार इस समय भी वर्तमान है, जीवित है, जीवन्त एवं प्राणवान है अर्थात् प्रत्येक प्राचीन रचना अपना समकालीन अस्तित्व भी रखती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध समीक्षक एवं कवि टी० एस० इलियट ने भी किसी भी रचना की विगतता (पास्टनेस) को स्वीकार नहीं किया।[1] साहित्य की प्रत्येक कृति अपना स्वतन्त्र, अविच्छिन्न अस्तित्व रखती है, वह सदा शाश्वत, सदा वर्तमान रहती है। सम्भवतः, इसीलिए डब्ल्यू० पी० करे जैसे विद्वानों का कहना है कि 'साहित्य का इतिहास होता ही नहीं,' अथवा 'साहित्य के इतिहास की आवश्यकता ही नहीं।' लेकिन इसका अर्थ कदापि यह नहीं है कि साहित्येतिहास नितान्त अनुपयोगी है। किसी भी देश, जाति अथवा भाषा के साहित्य के व्यवस्थित अध्ययन के लिए उसका इतिहास अत्यन्त उपयोगी होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक रचना का अस्तित्व अविच्छिन्न होता है, प्रत्येक रचना एक-दूसरे से अलग होती है, उनकी कुछ निजी विशिष्टताएं होती हैं, तथापि प्रत्येक लेखक की विविध रचनाओं में तथा इसी भांति अनेकों

लेखकों की रचनाओं में एक आन्तरिक सम्बन्ध भी होता है, हो सकता है। इन सम्बन्धों की प्रणाली का अध्ययन हम इतिहास में ही कर पाते हैं। दूसरे शब्दों में, साहित्येतिहास साहित्यिक विकास के प्रक्रम के अध्ययन का एक उपयोगी साधन है।

साहित्य के अधिकांश इतिहास राजनैतिक अथवा सामाजिक इतिहास पर आधारित हैं। इसी आधार पर 'हेनरी माली' जैसे विद्वानों ने साहित्य की कल्पना 'राष्ट्रीय जीवन-चरित' के रूप में की है और लेस्ली स्टीफेन ने इसे समूचे समाज रूपी जीवधारी का विशेष कार्य माना है। डब्ल्यू० जे० कोर्टहिप ने भी 'साहित्य में राष्ट्रीय जीवन की महत्ता' को स्वीकार किया है। लेकिन यह धारणा सर्वथा निर्दोष नहीं है, क्योंकि साहित्य राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है। इसलिए यह पूर्वाग्रह भी सार्थक नहीं है कि 'मानवीय क्रिया-कलापों की प्रासंगिक व्याख्या दिए बिना साहित्य का प्रामाणिक इतिहास विशुद्ध साहित्यक कृतियों के आधार पर ही लिखा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि हमारे निष्कर्ष यदि राजनीतिक अथवा सामाजिक इतिहास से पुष्ट होते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, अर्थात् वे हमारे निष्कर्षों के लिए सहायक हो सकते हैं, आधारभूत तत्त्व कदापि नहीं हो सकते।

अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्य का इतिहास लिखा कैसे जाय?—इस प्रसंग में विद्वानों के अनेक मत हैं और कोई भी मत सर्वथा निर्भ्रान्त अथवा सर्वमान्य नहीं है। कहा जा सकता है कि अभी तक किसी भी भाषा का कोई भी साहित्येतिहास ऐसा नहीं है, जिसकी पद्धति को सर्वथा प्रामाणिक मानकर अन्य इतिहासों के लिए आदर्श मान लिया जाय। इसके कई कारण हैं। कई कठिनाइयाँ हैं। साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन, पुनःमूल्यांकन की बदलती हुई दृष्टि, विभिन्न आलोचना पद्धतियां, मूल्यांकन के शास्त्रीय अथवा नवीन मापदण्ड, विकास के प्रक्रम की वैज्ञानिक / प्रवृत्यात्मक अथवा संरचनात्मक व्याख्याएं तथा कालक्रम या सम्प्रदायों के अनुसार अध्ययन करने से ऐसी कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। साहित्येतिहास-लेखन का एक आधार वैज्ञानिक पद्धति है। इसके अन्तर्गत वस्तु निष्ठता, निर्वैयक्तिकता, निश्चितता, वैज्ञानिक आदर्शों के समकक्ष निरपेक्ष तथ्यों के संलकन, कार्य-कारण परम्परा एवं मूल स्रोत के अध्ययन से प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों का अनुसरण करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार के 'वैज्ञानिक कार्य-कारण सम्बन्ध को जब अधिक कठोरता से लागू किया जाता है, तब इसका प्रयोग सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों को ही मुख्य कारण मानकर साहित्यिक तत्त्वों की व्याख्या के लिए होने लगता है।' लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा गया है, साहित्य इतिहास का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होता। यह अधिक जीवन्त प्रक्रिया है। इसीलिए इस पद्धति के समर्थकों ने अब हार मान

की है, या वे संशयवादी बन गये हैं। जीव वैज्ञानिक संकल्पनाओं के प्रयोग की पद्धति भी साहित्येतिहास के लिए सार्थक नहीं है। तथापि यह मानने से इंकार नहीं किया जा सकता कि आगमन, निगमन, विश्लेषण, संश्लेषण, तुलना जैसी पद्धतियाँ साहित्यिक एवं विज्ञान के अध्ययन में समान हैं, क्योंकि साहित्यिक अध्ययन की पद्धति वैज्ञानिक न होते हुए भी बौद्धिक पद्धति तो है ही। हिन्दी में भी वैज्ञानिक नाम से एक इतिहास लिखा अवश्य गया है, किन्तु उसे विद्वानों ने 'अवैज्ञानिक' ही घोषित किया है। इसमें आरम्भ में इतिहास के जो 'मूलभूत तत्व बताये गये हैं, उन्हें आगे हिन्दी साहित्य पर कहीं लागू नहीं किया गया। तत्वों का विवेचन भी अनेक मतों का गड्डमड्ड मेल मात्र है।

साहित्येतिहास लिखने की दूसरी पद्धति यह है कि अलग-अलग लेखकों पर लेखों की एक अविच्छिन्न लड़ी तैयार करके एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा की जाती है, अथवा लेखकों और उनकी कृतियों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ—गुण-दोष विचार की एक श्रृंखला बनाकर कालक्रमानुसार व्यवस्थित की जाती है। जार्ज सेन्टसबरी, आलिवर एल्टन, टेन, कजामियाँ आदि अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रेंच इतिहासकारों के बहुत से इतिहास ऐसे ही हैं। हिन्दी में चोरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, 'भक्तमाल', 'कविमाला' तथा 'कालीदास हजारा' ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनमें कुछ कवियों के परिचय उपलब्ध होते हैं। गार्सां-द-तासी का 'इस्तवार द ला लिटरेच्यूर ऑफ हिन्दुस्तान' तथा शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह-सरोज' हिन्दी के आरम्भिक इतिहास ग्रन्थ हैं। 'तासी' ने अपने इतिहास में 357 कवियों की चर्चा की है जिनमें से कुछ की तो सूचनामात्र ही दी गई है। यहाँ कवियों का परिचय कालक्रमानुसार न होकर वर्ण-क्रमानुसार है। 'शिवसिंह सरोज' में 1000 कवि हैं। इसे भी 'कवि-वृत्त संग्रह' का नाम ही दिया गया है। ग्रियर्सन ने 'द माडर्न वर्नेक्युलर लिट्रेचर आॅफ हिन्दुस्तान' में 952 कवियों का परिचय कालक्रमानुसार दिया है, जबकि मिश्रबन्धुओं ने 5000 से भी अधिक कवियों को लिया है। ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धुओं ने इतिहास के कालविभाजन आदि का प्रयास भी किया है, किन्तु मुख्यत: ये कवि-परिचयात्मक इतिहास ग्रन्थ ही हैं। इस प्रकार के इतिहासों में कालक्रमानुसार ऐतिहासिक परम्परा विवरण तो उपलब्ध हो जाता है, किन्तु ऐतिहासिक चेतना अथवा ऐतिहासिक विकास की अवधारणा का इनमें प्राय: अभाव है।

साहित्येतिहास का सर्वाधिक मान्य आधार ऐतिहासिक विकासक्रम की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। साहित्यिक कृतियों को छोटे-बड़े समूहों में व्यवस्थित करके उनका विकास-क्रम निर्धारित करना और समग्र धारा के अन्तर्गत उनका स्थान स्थिर करना साहित्येतिहास का मुख्य प्रयोजन होता है। दो या अधिक कृतियों के

सम्बन्ध का अध्ययन भी साहित्येतिहास का विषय है, लेकिन 'दो या दो से अधिक साहित्यिक कृतियों के बीच सम्बन्ध की चर्चा का पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है जब हम साहित्यिक विकास की योजना में इन्हें ठीक से रखकर देखें।'[9] विकास की श्रृंखला का निर्माण मूल्यों या आदर्शों की योजना के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है, और ये मूल्य इस प्रक्रिया के चिन्तन से ही प्रकट होते हैं,[10] पूर्वनिर्धारित मान्यताओं पर निश्चित नहीं होते। इस प्रसंग में अंग्रेजी के प्रसिद्ध समीक्षक रेनेवेलक का कथन है कि 'इतिहास मूल्यों की परिवर्तनीय योजनाओं के सन्दर्भ में ही लिखा जा सकता है और इन योजनाओं को स्वयं इतिहास से ही प्राप्त किया जा सकता है।[11] इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि 'साहित्य के इतिहास में सबसे पहली सबसे प्रकट श्रृंखला एक लेखक द्वारा लिखी गई कृतियों की है। उस लेखक की जो परिपक्वतम कृति है, उसके मूल्य की व्यवस्था अथवा लक्ष्य का निर्धारण करके शेष कृतियों पर इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है कि वे इस 'टाइप' की कृतियों के कितनी निकट पड़ती हैं। इस तरह का प्रयास एक लेखक को लेकर और फिर अन्य लेखकों को लेकर तथा किसी कालखण्ड की रचनाओं को लेकर भी किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी साहित्यिक रचना में से किसी विशिष्टता को अलग करके उसकी प्रगति और विकास का अध्ययन किसी काल या देश के समग्र साहित्य में किया जा सकता है।[12] जे० एम० कोहिन के 'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न लिट्रेचर' (A History of Western Literature) तथा डेविड डेचिज के 'ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिट्रेचर (A Critical History of English Literature) में इस पद्धति का अनुसरण किया गया है। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्याम सुन्दर दास तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के इतिहासों में इस प्रकार के प्रयास देखे जा सकते हैं।

साहित्येतिहास की सबसे बड़ी समस्या 'काल-विभाजन' की है। काल-विभाजन प्रायः दो प्रकार से किया जाता रहा है। या तो सांख्यिकी के आधार पर या राजनैतिक घटनाओं के आधार पर। पहले में शताब्दियों के बीच की पुस्तकों को ले लिया जाता है और उसमें एक निश्चित काल-सीमा का पालन किया जाता है। लेकिन इस प्रकार के काल-विभाजन में व्यावहारिक सुविधा के अतिरिक्त और कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि कैलण्डर की तिथियाँ विशुद्ध ग्रन्थ सूचियाँ तैयार करने की दृष्टि से उचित हो सकती हैं, किन्तु साहित्य के इतिहास में इस प्रकार के काल-विभाजन की कोई संगति नहीं है। अंग्रेजी के अनेक इतिहास इस पद्धति पर लिखे गये हैं। एने टिक्बल के इतिहास ग्रन्थ 'दी स्टोरी आफ इंगलिश लिट्रेचर' में 11वीं शती, 18वीं शती तथा 20वीं शती नाम से

कालों का विभाजन हुआ है। हिन्दी में भी कुछ इतिहासों में इसका अनुसरण किया गया है। ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में 'अठारहवीं शताब्दी' के साहित्य को एक अलग काल का नाम दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा आदि अन्य लेखकों ने भी अपने काल-विभाजन में काल-सीमा को निर्धारित किया है, किन्तु उन्हें स्वयं ही उसका अतिक्रमण भी करना पड़ा है। शुक्ल जी ने 'वीरगाथा-काल' की सीमा 1375 वि० तक मानी है, किन्तु उसमें रचनाएँ बाद की भी रखनी पड़ी हैं। 'भक्तिकाल' की सीमा 1700 वि० तक मानी है, किन्तु प्रेममार्गी शाखा (सूफी प्रेमाख्यान-परम्परा) के अन्तर्गत 18वीं शती तक की रचनाएँ दी गई है। यही स्थिति 'रामभक्ति' तथा 'कृष्णभक्ति' शाखा की है। इनमें भी 19वीं शती तक की रचनाओं का उल्लेख दिया गया है। इसी प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'चारणकाल' की काल-सीमा 1400 वि० तक मानी है, जबकि उसमें रचनाएँ 17वीं शती तक की ली गई हैं। अन्यत्र भी इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

साहित्येतिहास का दूसरा काल-विभाजन राजनीतिक परिवर्तन के अनुसार किया गया है। यह सोचकर कि प्रत्येक साहित्यिक-कृति के सृजन के पीछे राज-नैतिक/सामाजिक परिवर्तन सक्रिय होते हैं। लेकिन जैसी कि हमने, ऊपर स्थापना की है, यह धारणा अब अमान्य सिद्ध हो चुकी है। अंग्रेज़ी के अधिकतर इतिहासों में काल-विभाजन के लिए इस आधार को भी ग्रहण किया गया है और शासकों के शासन-काल पर कालों के नाम भी रखे गये हैं। "एलिजाबेथ", जेम्स-प्रथम, चार्ल्स-प्रथम के शासन कालों पर कितने ही भ्रामक एवं कृत्रिम विभाजन आज तक चल रहे हैं।[13] हिन्दी में भी कुछ इतिहासकारों ने राजनैतिक परिवर्तनों अथवा शासकों के नाम पर कुछ 'काल-विभाजन' किया है। जार्ज ग्रियर्सन के इतिहास में 'मुगल-दरबार के शासन-काल में हिन्दुस्तान', 'महारानी विक्टोरिया के शासन काल में हिन्दुस्तान' आदि नाम इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। लेकिन, अब कैलण्डर की शताब्दियों और राजाओं के शासनों में विभाजन का पुराना ढंग लग-भग पूर्णतः लुप्त हो गया है और इसका स्थान ऐसे कालों ने ले लिया है, जिनका नामकरण मस्तिष्क के विविध क्रियाकलापों के आधार पर किया गया है।[14] हिन्दी के प्रसिद्ध इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपना काल-विभाजन इसी आधार पर किया है। वे साहित्य को चित्तवृत्तियों का चित्रण मानते है। ये 'चित्तवृत्तियाँ मानसिक क्रियाएं ही हैं। शुक्ल जी ने इन्हें भाव या मनोविकार की संज्ञा भी दी है। साहित्य-सृजन के मूल में ये चित्तवृत्तियाँ, भाव अथवा मनोविकार ही सक्रिय रहते हैं। साहित्य में इन चित्तवृत्तियों की व्यंजना को उन्होंने 'साहित्यक प्रवृत्ति' का नाम दिया है और 'प्रवृत्ति-विशेष' को आधार

मानकर ही इतिहास का काल-विभाजन किया है। इनका काल-विभाजन सर्व-मान्य न होते हुए भी सर्वाधिक मान्यता प्राप्त कर चुका है। इस प्रवृत्ति को हम साहित्येतिहास के मूल तत्व के रूप में चर्चित मूल्य/आदर्श/अथवा लक्ष्य के समकक्ष रख सकते है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' साहित्येतिहास की मूल अवधारणा के अत्यधिक निकट है।

इधर अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में कुछ नए काल-विभाजन भी सामने आये हैं। इनमें कालों के नाम अनेक क्षेत्रों से लिए गए हैं, विशेष रूप से राजनैतिक, साहित्यिक एवं कलात्मक क्षेत्रों से। रिफार्मेशन (सुधारवाद), रीनेसाँ (पुनर्जागरण), रेस्टोरेशन, अठारहवीं शताब्दी, आगस्टन एवं 'रोमेण्टिसिज्म', विक्टोरियन' एवं 'ऐलिजबेथन' आदि के नाम क्रमशः धार्मिक, इतिहास, कला के इतिहास, राजनैतिक घटनाओं, सांख्यकी, साहित्यिक एवं राजाओं के शासन-काल पर आधारित हैं। यहाँ यह संकेत कर देना उचित होगा कि कालान्तर में 'विक्टोरियन' अथवा 'एलिजबेथन' काल उनके शासन-काल के व्यंजक नहीं रह गए हैं, वरन् वे उस काल की साहित्यिक भंगिमाओं के सूचक बन गए हैं। उन्होंने एक विशिष्ट साहित्यिक अर्थ ग्रहण कर लिया है और उनकी काल-सीमा भी वह नहीं रह गई है जो उनके शासन-काल की है।

हिन्दी में जार्ज ग्रियर्सन के इतिहास में काल-विभाजन की इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

काल-विभाजन के क्षेत्र में अब यह प्रवृत्ति भी सामने आ रही है कि अब कठोर कालक्रम पर आधारित काल पर अधिक बल नहीं दिया जाता। हिन्दी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने यद्यपि प्रत्येक काल की काल-सीमा निर्धारित की है, लेकिन प्रवृत्यात्मक विकास क्रम का निरूपण करते समय उस काल-सीमा की उपेक्षा भी की है। आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा किया है। लेकिन, मैं समझता हूँ कि साहित्येतिहास की मूल चेतना को भली-भाँति समझ कर ही उन्होंने ऐसा किया है जो कि प्रवृत्यात्मक विकास-प्रक्रम को आधार मानकर निर्धारित की गई थी। लेकिन, वे सम्भवतः साहित्यिक काल-क्रम-विभाजन की पूरी तरह उपेक्षा नहीं कर पाए। यदि काल-सीमा निर्देश को उनके साहित्य से निकाल दिया जाए तो 'साहित्येतिहास-लेखन' के लिए वह एक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है। तथापि, यह इतिहास भी और उस दृष्टि से हिन्दी का कोई भी इतिहास अभी तक सर्वांगीण, पूर्ण अथवा दोषरहित नहीं है। यह अभाव अनेक कारणों को लेकर रहे हैं। सम्पूर्ण साहित्यिक सामग्री का उपलब्ध न होना, उपलब्ध सामग्री के समुचित मूल्यांकन अथवा पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न तथा भ्रान्त धारणाओं के निराकरण की

समस्या अभी भी बनी हुई है। हिन्दी के साहित्य के 'वीरगाथा-काल' अथवा 'आदिकाल' को लेकर विद्वानों में पर्याप्त चर्चा होती रही है। 'रीतिकाल' अथवा 'श्रृंगारकाल' को लेकर भी विवाद चलता रहा है। गुरुमुखी में रचित हिन्दी के सैंकड़ों काव्य-ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। इनमें से अधिकतर उस काल की सीमा में आते हैं जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाल' अथवा 'श्रृङ्गारकाल' के नाम से अभिहित किया जाता है (संवत् 1700 से 1900 तक) इस युग में विलासिता एवं रसिकता की मनोवृत्ति प्रबल थी और आध्यात्मिक प्रवृत्ति मन्द पड़ने लगी थी, सगुण भक्ति की स्वच्छ धारा श्रृङ्गारिक रसमयी लीलाओं के समावेश से दूषित होने लगी थी और संतमत पाखण्डों एवं बाह्याचारों में उलझकर अपना प्रभाव खो चुका था। इस प्रकार उत्तरमध्यकाल में हिन्दी भाषी प्रदेश का भक्ति-आन्दोलन शिथिल पड़ चुका था और उसमें कोई ताज़गी एवं प्राणवत्ता नहीं रह गई थी, किन्तु इसी युग में पंजाब में गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित धार्मिक भावना उनके उत्तराधिकारी गुरुओं के माध्यम से उत्तरोत्तर विकसित होती जा रही थी। पंजाब में हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि मुख्यतः इन्हीं सिक्ख-गुरुओं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से हुई।

हिन्दी के विद्वानों की धारणा है कि 'रीति-कविता' राजाओं और रईसों के आश्रय में पली है और दरबारी वातावरण के अनुरूप उसमें रीति-रचना (शास्त्रीयता), श्रृंगारिकता एवं अलंकरण की प्रमुखता है। इसे ह्रासोन्मुखी एवं स्त्रैण मनोवृत्ति का साहित्य भी कहा गया है। सिक्ख रियासतों की स्थापना के पश्चात् इस काल के अन्तिम चरण में गुरुमुखी लिपि में भी ऐसी कुछ रचना हुई, लेकिन उससे पूर्व यहाँ राज-दरबारों के स्थान पर 'गुरु-दरबार' के आश्रय में हिन्दी कविता पल्लवित एवं पुष्पित हुई और यह एक प्राणवान् सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना से अनुप्राणित पौरुषपूर्ण मनोवृत्ति का साहित्य है। उसमें श्रृंगारिकता एवं शास्त्रीयता की उपेक्षा की गई है और 'वीरता' एवं 'भक्ति' की प्रवृत्तियाँ प्रमुख है। राज-दरबारों में जो रीति-सम्बन्धी श्रृंगारिक एवं चमत्कार-पूर्ण रचना हुई, वह बहुत कुछ हिन्दी भाषी क्षेत्र की रचना के ही अनुरूप है। ये रचनाएँ पूर्व प्राप्त साहित्य-सामग्री के भण्डार को सम्पन्न करके, हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर सकती हैं। किन्तु, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसी काल में यहाँ राज-दरबारों में भी नवीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना से युक्त ऐसी प्राण-वान् एवं जीवन्त काव्य-रचना हुई जो अन्यत्र किसी भी राज-दरबार में दुर्लभ है। प्रत्यक्ष में राज-दरबार में लिखी जाने पर भी वह 'गुरु-दरबार' की 'छाप' लिए हुए है—'वह गुरु-दरबार जहाँ नित्य सत-समागम होता था, धार्मिक कथाएँ होती थी, आध्यात्मिक चर्चा होती थी, हरि-कीर्तन होता था, मानवीय

एकता एवं समानता का भाव था और सभी एक साथ लंगर में भोजन करते थे।' गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी का अधिक साहित्य इसी परिवेश की प्रेरणा अथवा प्रभाव के अन्तर्गत लिखा गया है। यहाँ ऐसे दरबारी कवि भी हैं, जिन्होंने राज्याश्रय में रहकर शृंगारिक भावना की सर्वथा उपेक्षा करके धर्माश्रय के अनुकूल धर्म-भावना से अनुप्राणित सशक्त एवं जीवन्त काव्य-रचना की। राज-दरबार में रहते हुए भी भाई संतोखसिंह ऐसे ही कवि हैं जो 'गुरु-दरबार' की परम्परा के संवाहक एक युग-प्रवर्तक लोकनायक भक्त कवि हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्ति एवं वीरता को इस युग की गौण प्रवृत्तियाँ माना है, जबकि गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध साहित्य में ये दोनों प्रवृत्तियाँ बहुत प्रबल हैं। यहाँ वीरकाव्यों की एक सशक्त परम्परा रही है। मुगल शासकों द्वारा अनेक राजनैतिक एवं धार्मिक कारणों से सिक्खों के नवम गुरु तेगबहादुर की दिल्ली में नृशंसतापूर्वक हत्या की गई, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप सिक्खों के क्षोभ एवं विरोध ने खुले विद्रोह का रूप धारण कर लिया था। इसके परिणामस्वरूप गुरु गोविन्दसिंह ने आध्यात्मिकता एवं शौर्य के प्रतीक 'खालसा पंथ' की संरचना की। असत्य और अन्याय के विरुद्ध स्वयं खड्ग धारण की तथा सद्धर्म की रक्षार्थ साहस एवं शौर्य का प्रदर्शन करने के लिए अपने अनुयायियों को भी उत्साहित किया। इस चेतना की प्रेरणास्वरूप यहाँ अनेक ओजपूर्ण वीरकाव्यों का प्रणयन हुआ। स्वयं गुरु गोविन्द सिंह ने भी अनेक वीर-काव्यों की रचना की और अपने दरबारी कवियों को भी इस प्रकार के काव्य-सृजन के लिए प्रोत्साहित किया। उनके देहावसान के पश्चात् उनके निष्ठावान् सिक्खों द्वारा उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर भी अनेक 'वीरकाव्य' लिखे गए। इस प्रकार के वीरकाव्यों में 'विचित्र नाटक' (अपनी कथा) 'रामावतार', 'कृष्णा-वतार', 'रुद्रावतार', 'चण्डीचरित्र', 'शस्त्रनाम माला' (सभी दशमग्रन्थ में संकलित रचनाएँ), 'गुरु-शोभा' (सेनापति), 'जंगनामा गुरु गोविन्दसिंह' (अणीराय), 'गुरुविलास' (सुक्खासिंह), 'गुरुप्रताप सूरज' (सन्तोखसिंह) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त फुटकर रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में लिखी गईं।

वीरकाव्यों की रचना मुख्यतः राजाश्रय में ही होती है किन्तु इन ग्रन्थों की रचना धर्माश्रय में अथवा धार्मिक प्रेरणा से हुई है। इसलिए इनमें वीरता के साथ धार्मिक भावना का भी अद्भुत संयोग हुआ है। वस्तुतः, यहाँ वीरता की आधारभूमि ही धार्मिक है। गुरु गोविन्दसिंह ने अपने युद्धोत्साह के उद्देश्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

'हम इह काज जगत मों आए। धरम हेत गुरदेव पठाए।
जहाँ तहाँ तुम धरम बिथारो। दुसट दोखियनि पकरि पछारो॥'

हिन्दी भाषी प्रदेश में रचित हिन्दी के अन्य वीरकाव्यों में वीरता के साथ प्राय: शृंगारिकता का सम्मिश्रण पाया जाता है। उनके युद्धों के मुख्य कारण थे—पारस्परिक वैमनस्य, व्यक्तिगत अहंमन्यता, स्त्री हरण तथा भूमि-लिप्सा, किन्तु गुरुमुखी लिपि में रचित वीर काव्यों के युद्धों के कारण हैं—असत्य, अन्याय एवं अधर्म को विनष्ट करके सत्य, न्याय एवं धर्म की प्रतिष्ठा करना। इन वीरकाव्यों के वीरों का आदर्श था—

'धन्य जीउ तिहू को जग मै, मुख ते हरि नाम चित्त मै जुद्ध बिचारे।'

वीरता के इस आदर्श को 'वाल्मीकि रामायण' एवं 'महाभारत' में प्रतिपादित 'सत्य पराक्रम:' के समकक्ष रखा जा सकता है। हिन्दी में अन्यत्र ऐसे उदात्त वीरकाव्यों का प्राय: अभाव है। 'रामावतार' एवं 'कृष्णावतार' इस परम्परा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। संभवत:, 'कृष्णावतार' हिन्दी की पहली एवं अकेली रचना है, जहाँ कृष्ण एक यशस्वी युद्धवीर के रूप में आए हैं। यहाँ उद्धव एवं अक्रूर जैसे दूत भी पराक्रमी शूरवीर बन गये है। 'रामावतार' भी वीररस-प्रधान है और 'चण्डी-चरित' को भी शुद्ध युद्धकाव्य का रूप दे दिया गया है। 'अपनी कथा' तो एक यशस्वी शूरवीर (गुरु गोविन्दसिंह) द्वारा अपने स्वयं के युद्धों का एक विलक्षण वीर रसात्मक ऐतिहासिक दस्तावेज है जो सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अपना सानी नहीं रखता। 'अपनी कथा', 'गुरु विलास,' एवं 'गुरु प्रताप सूरज' आदि में सन्त-योद्धा गुरुगोविन्द सिंह के तड़ित से तेजस्वी एवं सिंह से सशक्त सन्त-योद्धा रूप का उद्‌घाटन होता है। ऐसा विलक्षण व्यक्तित्व शायद ही किसी अन्य काव्य-ग्रन्थ में खोजा जा सके।

गुरुमुखी लिपि में हिन्दी के लगभग 20 हजार वीररसात्मक छन्दों की रचना हुई। वीररस की उदात्तता एवं परिपूर्णता तथा युद्धों के सजीव, सर्वांगीण एवं ओजस्वी चित्रण की दृष्टि से ये वीरकाव्य उच्चकोटि के हैं। इतने बड़े परिमाण के इस गौरवपूर्ण वीररसात्मक काव्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान देने से उसका कलेवर ही बदल जाएगा और इस काल के काव्य-चिन्तन को निश्चित रूप से नयी दिशा मिलेगी।

गुरुमुखी लिपि में धार्मिकता एवं भक्ति-भावना से अनुप्राणित साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। रामभक्ति से सम्बन्धित लगभग 30 ग्रन्थ तथा कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित कोई 10 ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त सिक्खमत, निर्मले, सेवापन्थी, उदासी आदि सम्प्रदायों की प्रेरणा से सन्त साहित्य भी यथेष्ठ परिमाण में लिखा गया।

'सिख गुरुओं की वाणी इस काव्य-चिन्तन का पृष्ठाधार है। इनके अतिरिक्त

भाई गुरुदास, सेनापति, सन्तोखसिंह, मन्तरेण, सेवाराम, गुलाबसिंह, सुक्खासिंह, सन्तदास, सहजराम जैसे अन्य कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। ये कवि रीति-काल' के अन्य कवियों देव, पद्माकर, बिहारी आदि के समान विलासप्रिय अथवा रसिक नहीं हैं और न ही इनको भक्ति-भावना में उस काल के अन्य भक्त कवियों की सी जड़ता, अवसाद एवं उच्छृंखलता है। इनके काव्य में आस्था है, विश्वास है, उत्साह है, विवेक है। ये भारतीय संस्कृति के उन्नायक, क्रान्तिकारी समाज-सुधारक, मंगलमयी उदात्त धार्मिक चेतना से अनुप्राणित, निष्ठावान् एवं सशक्त भक्त कवि हैं। पाखण्डों, बाह्याचारों एवं मिथ्याचारों के खण्डन में कबीर जैसे स्वर गुरु गोविन्द सिंह तथा भाई संतोखसिंह आदि कवियों की रचनाओं में सुनाई पड़ते हैं। वही तीखापन, वही प्रखरता, वही चुभन, सत्य, संयम, सन्तोष, सेवा, त्याग, दया, विनम्रता अहंत्याग एवं नाम-स्मरण आदि की महत्ता का प्रतिपादन भी उसी निष्ठा से किया गया है और ज्ञान, योग, भक्ति, विरक्ति आदि का समन्वय लोकनायक तुलसी की-सी समन्वयवादी दृष्टि से किया गया है। इसके साथ ही ज्वलन्त राजनैतिक चेतना एवं क्रान्तिकारी सामाजिक बोध के दर्शन इन जैसे कवियों के काव्यों में होते हैं, उसके दर्शन हिन्दी के इस काल के किसी भी अन्य कवि में नहीं होते। सिक्ख-परम्परा में रचित साहित्य की एक विलक्षणता यह है कि इसमें भक्ति-भावना के साथ वीर-भावना का अद्भुत सामंजस्य हुआ है। हिन्दी तो क्या सम्भवतः किसी भी भाषा के साहित्य में इस प्रकार के वैशिष्ट्य के दर्शन नहीं होते। भक्ति-भावना ने वीरता को धर्मनिष्ठ किया है और वीरता ने धर्म-भावना को दृढ़ता प्रदान की है।

इस साहित्य की एक यह भी उपलब्धि है कि इसमें अपने युग का जितना यथार्थ एवं विशद चित्रण हुआ है, उसका सारे रीतिकालीन साहित्य में अन्यत्र अभाव है। इसमें जिस क्रान्तिकारी राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना का उन्मेष हुआ है और जो मानवीय भावना विकसित हुई है, यह भी हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक नया सन्दर्भ है। निश्चय ही इन कवियों का व्यक्तित्व, इनका परिवेश और प्रेरणादायक शक्तियाँ, उनका काव्यादर्श और लक्ष्य तथा उनकी सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक चेतना, उनकी रचनाओं में ऐसी विशिष्टता उत्पन्न कर देते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे एक ऐसा अध्याय जोड़ देते हैं जिसका प्रत्येक पन्ना चमकदार है। यह साहित्य हिन्दी साहित्य-इतिहास चिन्तन को नयी दृष्टि और दिशा प्रदान करता है। वह रीतियुग जिसमें शृंगा-रिकता एवं रसिकता की प्रवृत्तियाँ ही प्रमुख मानी जाती रही हैं, अब वीरता, भक्ति आदि प्रवृत्तियों का भी सूचक बन गया है। निश्चय ही, इस साहित्य से

हिन्दी साहित्येतिहास के काल-विभाजन और नामकरण के लिए चिन्तन का एक नया मार्ग प्रशस्त हो गया है।

●

सन्दर्भ संकेत

पाद टिप्पणियाँ—1 से 14 तक के लिए द्रष्टव्य क्रमशः, अनु० बी० एल० पालीवाल, साहित्य-सिद्धान्त (Translation of "Theory of Literature" by Rene Wellok And Ausotin Warren) पृष्ठ 331, 337, 334, 336 18, 19, 19,335, 343,341, 343,349, 349।

'मध्ययुगीन-बोध तथा
हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य

'मध्यकाल' शब्द अंग्रेजी इतिहास एवं साहित्य में प्रयुक्त 'मिडिवलऐज्' का पर्याय है। पश्चिम में इसका प्रयोग साहित्य एवं अन्य ललित कलाओं में रेनेसाँ के प्रवर्त्तक कलाकारों 'पेट्रार्क', 'मैकाविली', मौन्टेन, 'माइकेल एंजिलो', रैफिल', 'लियोनार्ड-डे-विन्ची' आदि ने किया था।

इटली, फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों के कलाविदों ने अपने से पूर्व तथा क्लासिकल साहित्य एवं अन्य क्लासिकल कलाओं के बाद के काल को (अर्थात् क्लासिकल तथा रेनेसाँ के बीच के काल को) 'मध्ययुग' का नाम दिया था। उन की दृष्टि में यह एक तरह से 'ह्रासोन्मुखी कलाओं का काल था। पुनर्जागरण या 'रेनेसाँ' का समय चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। इस प्रकार यहाँ मध्ययुग की परवर्ती सीमा पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से पूर्व की मानी जाती रही है। कुछ विद्वानों ने रोमन साम्राज्य के पतन से आधुनिक वैज्ञानिक काल के अभ्युदय के अन्तराल को मध्ययुग की संज्ञा दी है और 476 ई० से 1553 ई० तक इसकी कालावधि निर्धारित की है।

भारतीय साहित्य में और विशेष रूप से हिन्दी साहित्य में भी मध्य-काल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होने वाले पुनरुत्थान अथवा पुनर्जागरण काल से पूर्व का ही माना जाता है। दूसरे शब्दों में 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता तथा पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के विरोध में भारतवर्ष में जिस नवीन राजनैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना (रेनेसाँ) का विकास हुआ, उससे पूर्व तथा संस्कृत के क्लासिकल साहित्य के बाद का और राज्याश्रय अथवा धर्माश्रय में लिखा गया सारा सामन्तीय एवं भक्ति साहित्य मध्ययुग के अन्तर्गत रखा जाता है। इस तरह मध्ययुग का प्रयोग, हमारे यहाँ भी 'रेनेसाँ' और 'क्लासिकल साहित्य' के मध्यवर्ती साहित्य के लिए ही हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसकी पूर्ववर्ती सीमा सातवीं एवं आठवीं शताब्दी मानी है और परवर्ती सीमा अठारहवीं शताब्दी स्वीकार की है। राजनीतिक इतिहास के सन्दर्भ में इसे इस

तरह भी कहा जा सकता है कि गुप्त साम्राज्य के पतन और 'वैज्ञानिक युग' के प्रादुर्भाव के मध्य काल का साहित्य ही इसके अन्तर्गत आता है। इस तरह पश्चिमी एवं भारतीय संदर्भ में मध्ययुग की कालावधि में पर्याप्त अन्तर है। लेकिन, एक दृष्टि से दोनों में समानता है—वह यह है कि दोनों ही 'रेनेसाँ' और क्लासिकल साहित्य के मध्यवर्ती साहित्य को मध्ययुगीन साहित्य का नाम देते हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, यूरोपीय साहित्य में मध्ययुगीन साहित्य को एक प्रकार से ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति का साहित्य ही माना गया है। हमारे यहाँ भी अनेक आलोचकों ने इस काल के साहित्य को 'स्तब्ध मनोवृत्ति', 'रूढ़िवादिता', 'चिन्तन-पारतन्त्र्य', पतनोन्मुखी', 'जबदी हुई मनोवृत्ति' का साहित्य कहा है। लेकिन, दूसरी ओर भक्तिकाल के साहित्य को 'स्वर्ण-युग' की संज्ञा भी दी जाती रही है, जिससे प्रतीत होता है कि इस काल में ऐसा साहित्य भी लिखा गया जो ह्रासोन्मुखी न होकर ऊर्ध्वगामी एवं विकसनशील प्रवृत्ति, प्राणवान चेतना, उदात्त मनोवृत्ति एवं जीवन्तता का परिचायक है और इस तरह पश्चिमी साहित्य में मध्ययुगीन काव्य-चिन्तन से सम्बन्धित धारणाओं से उसमें कुछ विशिष्टताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। एक तरह से भक्ति-साहित्य को भी हम नवीन सांस्कृतिक चेतना का साहित्य कह सकते हैं और इस काल को सांस्कृतिक पुनरुत्थान की संज्ञा भी दी जा सकती है, क्योंकि इस काल में भक्ति एक धार्मिक भावना मात्र नहीं रह गई थी, बल्कि उसने एक व्यापक जन-आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया था।

इस दृष्टि से भी मध्यकालीन साहित्य के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य चिन्तन में पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है।

हमारे यहाँ मध्ययुग को एक तरह से आस्तिकता, धार्मिक आस्थाओं, श्रद्धा और विश्वास का युग माना जाता है, जो बहुत बार अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता की सीमा को स्पर्श करता दिखाई पड़ता है। आधुनिक युग की वैज्ञानिक, तटस्थ, बुद्धिवादी दृष्टि के आधार पर निर्धारित 'आधुनिक बोध' (मॉडर्न सेन्सिबिलिटि) तथा 'मध्ययुगीन बोध' (मिडिवल सेन्सिबिलिटी) जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी साहित्य-समीक्षा में प्रचलित हो रहा है और प्रायः यह देखा जाता है कि 'आधुनिकता' और 'आधुनिक बोध' को नैतिक मूल्यहीनता, सांस्कृतिक अवमूल्यन, धार्मिक अनास्था मात्र के नज़रिये से देखने वाले कुछ तथाकथित 'आधुनिकतावादी' मध्ययुगीन शब्द का प्रयोग 'हकारत' के अर्थ में ही करते प्रतीत होते हैं। वे समझते हैं कि इस काल के साहित्य में धार्मिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टि से एक 'सामन्तीय' प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है; उसमें स्वतन्त्र चिन्तन, मौलिक-तटस्थ दृष्टि तथा अग्रगामी जनवादी प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्ययुग मूलतः और प्रमुखतः श्रद्धा और

विश्वास का युग था। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के आरम्भ में ही शिव और पार्वती का अभिनन्दन करते हुए 'मंगलाचरण' में लिखा है—

'भवानीशंकरौवन्देश्रद्धाविश्वासरूपिणौ।'

यहाँ शिव और पार्वती श्रद्धा और विश्वास के रूप में रूपायित किये गये हैं। संभवतः, तुलसीदास की इसमें दृढ़ आस्था थी कि श्रद्धा और विश्वास ही वे तत्त्व हैं जो मानवीय जीवन में शिव और आनन्द की सृष्टि करते हैं। इस दृष्टि से उनका सम्पूर्ण साहित्य सांस्कृतिक-नैतिक मूल्यों में आस्था और विश्वास का साहित्य है। आधुनिक युग में भी छायावाद के प्रवर्त्तक और प्रगतिवादी चेतना के पक्षधर कवि पन्त ने यह घोषणा की थी कि 'सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन'।

निश्चय ही, शंका, सन्देह और संत्रास स्वस्थ मानव-जीवन की आधारशिला नहीं बन सकते। वे नए प्रश्नों को जन्म तो दे सकते हैं, लेकिन मानव-सभ्यता के विकास की नींव मंगलकारी नैतिक मूल्यों और उनमें आस्था और विश्वास से ही रखी जा सकती है।

हिन्दी 'मध्ययुगीन साहित्य' में स्पष्ट रूप से दो धारायें प्रवाहित होती दिखाई पड़ती हैं। एक को हम आभिजात्य परम्पराओं में आस्था और विश्वास का साहित्य कह सकते हैं, जबकि इसके समानान्तर एक धारा ऐसी है जिसे हम 'जन-वादी साहित्य' परम्परा के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं। कबीर और नानक द्वारा प्रवर्तित निर्गुण काव्य-धारा को इसी कोटि में रखा जा सकता है। जीवन के यथार्थ अनुभव पर आधारित, सामाजिक समानता-युक्त, क्रान्तिदर्शी दृष्टि-सम्पन्न यह काव्य-धारा समग्र लौकिक जीवन के विविध पक्षों का स्पर्श करती हुई अग्रसर होती है। इसमें वह बौद्धिक तटस्थ दृष्टि भी निहित है जो सभी प्रकार की गली-सड़ी मान्यताओं, चुक गये जीवन-मूल्यों और अप्रासंगिक विश्वासों के प्रति अस्वीकार है। इसमें रूढ़ियों या धार्मिक विश्वासों के प्रति अन्धश्रद्धा या भ्रान्त आस्था नहीं है, बल्कि अपने अनुभव और स्वतन्त्र चिन्तन की परख पर आधारित पहचान और स्वीकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है जो तथाकथित 'आधुनिकता' का बोध कराती है।

इस दृष्टि से मध्ययुगीन बोध के स्वरूप को रूपायित करते हुए एक तरफा फतवा देना सर्वथा अप्रासंगिक एवं अनुचित है। निर्गुण काव्यधारा के अति-रिक्त कृष्णकाव्य में भी हमें एक स्वस्थ एवं उल्लासपूर्ण जनवादी प्रवृत्ति एवं सशक्त सांस्कृतिक एवं राजनैतिक लोक-चेतना के दर्शन होते हैं। सामान्य जन-जाति का एक बालक खेल-खेल में अत्याचारी, अन्यायी, निरंकुश सामन्ती सत्ता-धारी के केश खींचकर धराशायी कर देता है, जो अपने प्रतीक-रूप में उस युग के सन्दर्भ में एक गौरवपूर्ण एवं सशक्त लोकशक्ति की समर्थता की सूचना देता है और एक नई राजनीतिक, सांस्कृतिक चेतना को जागृत करता है।

इसी तरह रीतिकाल का साहित्य, जहाँ एक ओर लौकिक जीवन की सरस, यथार्थ अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यंजना करने में समर्थ है, वहीं गुरुमुखी लिपि में ऐसा अमूल्य साहित्य उपलब्ध हुआ है जिसमें अपूर्व पौरुष का उदात्त भाव मुखरित हो रहा है। उसमें एक नवीन प्राणवान् सांस्कृतिक-सामाजिक चेतना भी स्पन्दित हो रही है, जो इस बात का संकेत देती है कि हिन्दी का मध्य-युगीन साहित्य न तो 'स्तब्ध मनोवृत्ति' का परिचायक है और न ही 'जबदी हुई चेतना' का। वह न 'पतनोन्मुखी' साहित्य है और न ही 'चिन्तन-परतन्त्रता' का। इसके विपरीत, उसमें एक जीवन्त एवं प्राणवान् चेतना स्पन्दित हो रही है। उसमें पौरुष है और स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर निर्मित जीवन-मूल्यों की स्थापना की गई है। उसे हम सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक पुनरुत्थान का साहित्य भी कह सकते हैं और इस दृष्टि से 'लोकमंगलकारी' राष्ट्रीय साहित्य की उपाधि से भी विभूषित कर सकते हैं। निश्चय ही, मध्ययुगीन बोध एवं मध्य-युगीन हिन्दी साहित्य का रूपायन एवं मूल्यांकन हमें परम्पराबद्ध, जड़ एवं भ्रान्त धारणाओं से मुक्त होकर, नवीन, स्वस्थ और तटस्थ दृष्टि से करने की आवश्यकता है।

साहित्यकार शिव की तरह विषपायी और मृत्युंजय होता है। वह अपने परिवेश का सारा विष पीकर अमृत की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण परिवेश की विसंगतियों एवं प्रदूषणों का मंथन करके स्वस्थ सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य का मंथन यदि हम इस दृष्टि से करें तो सांस्कृतिक मूल्यगत एवं साहित्यिक सौन्दर्यगत अनेक मोती और माणिक उसमें हमें मिलेंगे, जिससे चिन्तन के नए आयाम, नई दिशायें एव संभावनायें प्रशस्त होंगी।

इस साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि क्या हो—इसका निर्णय हमें उस युग के सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक सन्दर्भों को ध्यान में रख कर करना ही उचित होगा।

हिन्दी सूफी-प्रेमाख्यान : मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन

मध्ययुग में हिन्दी में बड़ी संख्या में प्रेमाख्यानों की रचना हुई। डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य' में ऐसे 31 प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रेमाख्यान हैं, जिनकी गणना इस सूची में नहीं हुई है।

1. इन आख्यानों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। (1) शुद्ध प्रेमाख्यान, (2) ऐसे प्रेमाख्यान जिनके माध्यम से भारतीय अध्यात्म-चिन्तन की अभिव्यक्ति हुई है और (3) सूफी प्रेमाख्यान। 'चन्दायन' (मुल्ला दाऊद), 'मृगावती' (कुतबन), 'पद्मावत' (जायसी), 'मधुमालती' (मंझन), चित्रावली (उसमान), 'रत्नावली' तथा 'कनकावती' (जान कवि), 'ज्ञानदीप' (शेख नबी), 'अनुराग-बांसुरी', इन्द्रावती (नूर मोहम्मद), 'हंस जवाहर' (कासिम शाह), भाषा प्रेमरस (शेख रहीम) आदि ऐसी रचनाएं हैं जिन्हें सूफी प्रेमाख्यानों की संज्ञा दी जाती है। दक्खिनी-हिन्दी में भी ऐसे अनेक प्रेमाख्यान लिखे गए हैं जिन्हें सूफी-विचारधारा से प्रभावित माना जाता है। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं, जो इन्हें 'सूफी-काव्य' नहीं मानते। उनका मत है कि हिन्दी के अधिकांश प्रेमाख्यान या तो शुद्ध प्रेमाख्यान हैं या उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनके माध्यम से भारतीय तत्त्व-चिन्तन को स्थापित किया गया है। वे जायसी कृत 'पद्मावत' में भी भारतीय अध्यात्मवाद के रूपक की परिकल्पना करते हैं। सूफी प्रेमाख्यानों की कथानक रूढ़ियों के प्रसंग में उनकी मान्यता है कि सूफी-प्रेमाख्यानों की अधिकांश कथानक-रूढ़ियां संस्कृत अथवा अपभ्रंश-साहित्य से आई हैं और उनकी शैली मसनवी न होकर अपभ्रंश की कड़वक-शैली से प्रभावित है। जहां तक इन प्रेमाख्यानों में वर्णित नायिकाओं के सौन्दर्य-चित्रण, नायक द्वारा नायिका को प्राप्त करने के लिए मार्ग की विकट बाधाओं का सामना करने तथा विरह की उत्कंठता में क्रमशः अलौकिक सत्ता के प्रति विरह की अभिव्यंजना का प्रश्न है, वे इसे आध्यात्मिक रूपक-योजना न मानकर काव्यमयी अतिरंजना अथवा

अतिशयोक्तिपूर्ण शैली की भाव-व्यंजना मात्र मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में, विशेष रूप से उत्तर भारत में, सूफियों का दीर्घकाल तक पर्याप्त प्रभाव रहा है। भारत में सूफीमत का प्रवेश तो सातवीं-आठवीं शती में हो गया था, किन्तु यहां सूफीमत का प्रचार 11 वीं शती में प्रसिद्ध सूफी अल-हुज्वरी के लाहौर आगमन से आरम्भ हुआ। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के भारत आगमन (ई० 1190) के पश्चात् भारत में सूफीमत का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध होता है। बाद में यहां चिश्ती, सुहरुवर्दिया, कादरिया, नक्श-बन्दिया और मेहदी आदि सम्प्रदायों की स्थापना हुई। पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान और संयुक्त प्रान्त के विविध नगरों-गाँवों या कस्बों में आज भी असंख्य ऐसी मज़ारें मिलेंगी, जो किसी सूफी-सन्त से सम्बद्ध हैं और जहाँ हिन्दू-मुसलमान श्रद्धालु उन पर चादरें चढ़ाते हैं, दीप जलाते हैं और मन्नतें मानते हैं। पंजाब में मुलतान, लाहौर; राजस्थान में अजमेर; हरियाणा में सढौरा, कुरुक्षेत्र, करनाल, पानीपत, हांसी, हिसार आदि स्थान विभिन्न सूफी-सम्प्रदायों एवं प्रसिद्ध सूफी फकीरों के साधना-केन्द्र रहे हैं। अतः, कोई आश्चर्य नहीं कि इन सूफी-संतों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए काव्य के माध्यम का भी उपयोग किया हो और जो प्रेमाख्यान 'सूफी-प्रेमाख्यानों' के नाम पर प्रचलित हैं, उनमें सूफी-साधना के सिद्धान्तों और तत्त्वों की अभिव्यक्ति की गई हो।

उदाहरणार्थ

(क) रहा जो जल गुपत समुन्दा / बरसा सहस अठारह बुन्दा।

आपुहि आपु जो देखै चहा। आपनि प्रभुत आपु से कहा।
सबै जगत् दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपहि देखा।
आपुहि बन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा आपु अहेरू।
आपुहि पुहुम फूलि बन फूले। आपुहि भँवर बास रस भूलै।
आपुहि घर घर महँ मुरवचा है। आपुहि आपन रूप सरा है।
दरपन बालक हाथ, मुख देखे, दूसर गनै।
तस भा दुई एक साथ, मुहम्मद एकै, जानिए। (अखरावट)

(ख) कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहि पिरीति-कबिलासू।

...............आदि में परम सत्ता, जीव, सृष्टि-प्रक्रिया आदि का निरूपण सूफी सिद्धान्तानुसार हुआ है। इन कवियों ने सूफी साधना के विविध रूपों और आयामों पर भी इन रचनाओं में प्रकाश डाला है और 'अनलहक' की स्थिति आदि का भी वर्णन किया है।

2. लेकिन एक और पक्ष भी है।

भारतवर्ष में प्रेमाख्यानों की दीर्घ एवं समृद्ध परम्परा रही है। एक साहित्यिक

और एक लौकिक। वेदों, पुराणों एवं 'महाभारत' में तथा 'कथासरित-सागर', 'बृहत्कथामंजरी', 'कादम्बरी', 'दशकुमारचरित' आदि संस्कृत काव्यों में पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी, कृष्ण-रुक्मिनी, प्रद्युमन-प्रभावती, अनिरुद्ध-ऊषा, नल-दमयन्ती, उदयन-वासवदत्ता, विक्रम-स्वप्नावती, शकुन्तला-दुष्यन्त आदि ऐसी अनेक प्रेम-कथाएँ उपलब्ध हैं जिन में नायिकाओं के अद्‌भुत सौन्दर्य, नायिका को प्राप्त करने के लिए नायक की कठोर साधना, उसके प्रेम की परीक्षा तथा प्रणय एवं विरह आदि की मार्मिक अभिव्यंजना हुई हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों और अंचलों में असंख्य प्रेम कथाएँ लोक-परम्परा में भी सैकड़ों वर्षों से चली आ रही हैं। बाल्यावस्था में अपने कस्बे के एक ऐसे लोक-कथक की स्मृति मेरे मानस पटल पर आज भी अंकित है जो एक ही कथा अथवा विविध कथाएँ कई-कई दिनों-महीनों तक रात के 8 बजे से 1/2 बजे तक सुनाया करता था। उसकी कहानियों में विचित्र रस की उपलब्धि होती होगी, तभी तो वहाँ बराबर लोगों का जमघट लगा रहता था। वर्षों तक यह क्रम चलता रहा था। किसी शुक-शुकी के संवाद और उनसे सुनी राजकुमार-राजकुमारियों की कहानियाँ, वन में शिकार करते हुए मार्ग में भटके राजकुमार, सरोवर में स्नान करती सुन्दर स्त्रियाँ, उड़ने वाली राज-कुमारियाँ, पत्थर बने मनुष्यों के सुनसान नगर, भाभी के ताने सुनकर सिंहलद्वीप की राजकुमारी की खोज में निकले राजकुमार, मार्ग में अजगर, हाथी अथवा असुर आदि से संघर्ष करना, किसी प्रेत के चंगुल में फँसी राजकन्या का उद्धार करके उससे विवाह करना, किसी कुएँ में स्थित पिंजरे में बन्द शुक को मार कर प्रेतात्मा की मुक्ति, समुद्री तूफान, शुक-शुकी या हंस आदि से प्रेमिका को सन्देश भेजना आदि विविध प्रसंगों से युक्त प्रेम, विरह एवं शौर्य की मार्मिक कहानियाँ। आज जब मैं उस कथक की कथन-शैली और वर्णन-क्षमता आदि पर विचार करता हूँ तो मुझे उसकी कल्पना-शक्ति और प्रतिभा पर आश्चर्य होता है और जब मैं उसकी कहानियों की तुलना हिन्दी के उपर्युक्त सूफी-प्रेमाख्यानों से करता हूँ तो मुझे उन में विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। ऊपर जिन प्रसंगों की चर्चा की गई है ये ही वे लोक-प्रचलित कथानक-रूढ़ियाँ हैं, जिनको जोड़-तोड़ कर, नाम, स्थान, प्रसंग, वर्णन, विवरण आदि बदलकर, वह नित्य नयी कहानी का गठन कर लेता था। अन्यथा कौन इतनी कहानियाँ और प्रसंग कंठस्थ कर सकता है। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि उपर्युक्त 'सूफी-प्रेमाख्यानों' का सम्पूर्ण कथ्य, कथानक, परि-वेश एवं शिल्प भारतीय लोक-गाथाओं पर आधारित है। निःसन्देह, इन कवियों ने उनके प्रबन्ध-सौष्ठव, वर्णनों तथा मार्मिक भाव-व्यंजना में अपनी कल्पना तथा काव्य-कौशल का प्रदर्शन किया है। ईरानी लोककथाओं में उनसे सम्बन्धित कथानक-रूढ़ियों का समावेश है और उनका परिवेश भी ईरानी है।

3. जो प्रेमाख्यान हिन्दू कवियों ने लिखे हैं उनमें उन्होंने अपने धार्मिक

विश्वासों के अनुरूप अपने इष्टदेव की वन्दना की है और अपने अन्य धार्मिक विश्वासों को प्रकट किया है। जो प्रेमाख्यान मुसलमान कवियों ने लिखे हैं, उनमें अल्लाह एवं मुहम्मद आदि की वन्दना की गई है और इस्लामी अथवा सूफी सिद्धान्तों का संकेत किया गया है। ऊपर जिन लोक-कथकों का उल्लेख किया गया है, वे भी अपनी कथा सुनाते समय बीच बीच में इस प्रकार के आध्यात्मिक संकेत कर देते थे।

यहाँ उल्लेखनीय है कि लखमी चन्द जैसे प्रसिद्ध हरियाणवी लोककवि तक अपने शृंगारी सांगों/लोक-नाट्यों में इसी पद्धति का अनुसरण करते रहे हैं। निश्चय ही हिन्दी प्रेमाख्यानों के कवियों ने भी अपनी रचनाओं में बीच-बीच में सूफी-भावना सम्बन्धी संकेत भर देने का प्रयास किया है। अन्यथा इन काव्यों की सम्पूर्ण कथा आध्यात्मिक अर्थवत्ता लिए हुए है, इसमें संदेह है। अर्थात्, इन्हें समासोक्ति भले ही कहा जाए, अन्योक्ति कदापि नहीं कह सकते।

4. हिन्दी सूफी-काव्य की समीक्षा करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध इतिहासकार एवं समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक बात कही थी कि हिन्दी-सूफी काव्यों में लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। उनके पश्चात् 'हिन्दी-सूफी-प्रेमाख्यानों' पर कार्य करने वाले सभी विद्वान् यह बात दोहराते रहे। लेकिन, जब-जब मैंने जायसी कृत 'पद्मावत' में पद्मावती और रत्नसेन के विवाहोपरान्त के संयोग एवं वियोग के विस्तृत वर्णनों का परायण किया है, तो मेरे मन में कई तरह की शंकाएँ उत्पन्न होती रही हैं और बार-बार यह प्रश्न मुझे कचोटता रहा है कि :

(अ) कुच कंचुकी सिरीफल उभे। हुलसहिं चहहिं कत हिय चुभे। 10।

× × ×

(आ) कंचन-करी जरी नग जोती। बरमा सौं बेधा जनु मोती।
नारंग जानि करि नख दिए। अधर आमरस जानहुँ लिए।
कौतुक केलि करहिं दुख नेसा। खूँदहिं कुरलहिं जनु सरहंसा। 30

× × ×

(अ) चोली के भीतर उसके श्रीफल के समान सुडौल स्तन उभरे हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों उल्लसित हो प्रियतम के हृदय में चुभ जाने के लिए व्याकुल हो रहे हों।

(आ) रत्नसेन ने उसे अपने गाढ़ालिंगन में आबद्ध कर उसके साथ इस प्रकार सम्भोग किया मानो मोती में बरमा से छेद कर दिया हो। उसने उसके कुचों पर नख-क्षत बना दिये मानो तोते ने नारंगी पर अपनी चोंच मार दी हो। उसने पद्मावती के अधरों के रस का इस प्रकार पान किया जैसे आम का रस चूसा जाता है। इस प्रकार वे दोनों रति क्रीड़ा करते हुए अपने इतने दिनों की विरह वेदना से उत्पन्न दुःखों को मिटाने लगे। वे रति क्रीड़ा करते हुए इस प्रकार शोभा दे रहे थे मानो हंसों का जोड़ा सरोवर में उछल-कूद मचाता हुआ कल्लोल कर रहा हो।

(इ) भएउ जूझ जस रावन रामा। सेज विधांसि विरह संग्रामा।
लीन्ह लंक कचंन-गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा।

(ई) विनय करै पदमावति बाला। सुधि न सुराही पिएउ पियाला।
पै, प्रिय! बचन एक सुनु मोरा। चाखु पिया मधु थोरै थोरा।
पान फूल रस रंग करीजै। अधर अधर सौ चाखा कीजे। 34।
(पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड)

आदि स्थूल मिलन-सुख का ही आस्वाद है। अन्यथा इतने घोर शृंगारिक बिम्ब तो—

'तंत्रीनाद कवित्तरस सरस राग रतिरंग।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग। (बिहारी)।

को जीवन का दर्शन मानने वाला रीतिकालीन शृंगारी कवि भी चित्रित नहीं कर सका। मैं आज तक नहीं समझ पाया कि जायसी किस आध्यात्मिक रहस्य-भावना के स्तर से ऐसे बिम्बों का सृजन कर रहे थे। मुझे तो अब भी लगता है कि काम-भावना से कुण्ठाग्रस्त कवि ही इस प्रकार के बिम्बों को प्रस्तुत कर सकता है। अपनी भावनाओं की ऐसी स्थूल अभिव्यक्ति अल-गजाली, जामी, शेख सादी, रूमी आदि किसी भी सूफी-सन्त ने स्वयं नहीं की। वस्तुतः, हिन्दी के विद्वानों को छोड़कर अन्यत्र कहीं यह देखने को नहीं मिलता कि सूफी-कवियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की प्राप्ति का प्रयास किया। लौकिक प्रेम तो लौकिक ही है। प्रेमी-प्रेमिका का मिलन न हो पाने से उसमें कुछ उदात्तता भले ही आ जाए जैसा कि हिन्दी के रीतिकालीन स्वच्छन्दतावादी कवियों में देखने को मिलता है। संयोगावस्था का लौकिक शृंगार तो अलौकिक धरातल की संवेदना जागृत कर ही नहीं सकता। प्रसिद्ध सूफियों की उक्तियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि 'तसव्वुफ का वास्तविक तत्त्व 'इश्के हकीकी' है और उन्होंने परमात्मा के प्रति अपने प्रेम की सीधे, स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है। शिवली का कथन है कि "प्रेम हृदय में अग्नि के समक्ष है, जो परमात्मा की इच्छा के सिवाय अन्य

(इ) रत्नसेन और पद्मावती में ऐसा रति-युद्ध हुआ जैसा कि राम और रावण में हुआ था।...उस रति-युद्ध में शय्या का विध्वंस हो गया।...रत्नसेन ने पद्मावती की लंक कटि को पकड़कर उस कटि के मध्य स्थित योनि का भेदन कर डाला और पद्मावती ने जो शृंगार किया था वह सब लूट लिया।...

(ई) रति क्रीड़ा में अत्यधिक मर्दित किए जाने पर पद्मावती विनय करने लगी स्वामी तुम्हें तो कुछ भी सुध-बुध नहीं रही। तुम तो प्याला पीने के स्थान पूरी सुराही चढ़ा गए।...हे प्रियतम! मेरी एक बात तो सुनो! तुम मेरे रस का पान थोड़ा-थोड़ा करके करो।" तुम रस-क्रीड़ा इस प्रकार करो जिस प्रकार पान-फल का स्वल्प-आहार किया जाता है। तुम मेरे अधर-रस का पान अपने अधरों द्वारा धीरे-धीरे करो।

सभी इच्छाओं को जलाकर भस्मीभूत कर देता है। शेख फरीद का कथन है कि "सच्चा वही है जिसको परमात्मा से हार्दिक प्रेम है—(दिलहु महबति जिने सैई सचिआं)। फरीद ने परमात्मा को कंत, सहु आदि के रूप में और स्वयं को स्त्री के रूप में चित्रित अवश्य किया है और उसके प्रति अपने प्रेम को प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—

> "फरीदा गलीए चिकड़ दूरि घरू नालि पिआरे नेहु।
> चला त भिजै कुंबली रहा त टूटे नेहु। 44।
> भिजउ सिजउ कंबली अलह बरसउ मेहु।
> जाई मिला तिना सजणा तुटउ नाही नेहु। 25।[1]

किन्तु, कहीं भी उनके प्रणय-निवेदन में स्थूलता एवं ऐहिकता के दर्शन नहीं होते। हमारे संत-भक्त कवियों ने भी अपने इष्टदेव के प्रति अपनी भक्ति-भावना को इसी रूप में व्यक्त किया है। कबीर ने तो स्वयं राम की 'बहुरिया' बनकर अपनी प्रेम-भावना को प्रकट किया था। इस स्तर पर हम कह सकते हैं कि 'ईश्वरीय प्रेम' एक ऐसा तत्त्व है जो सूफीमत एवं भक्ति में समान रूप से उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि सूफी-फकीर सादगी, गरीबी और पवित्रता का जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन, हिन्दी के उपर्युक्त प्रेमाख्यान ऐसे सूफी फकीरों द्वारा ही लिखे गए हैं अथवा साधारण लोक-कथकों द्वारा यह गम्भीर अनुसन्धान, अध्ययन एवं मनन का विषय है। ऊपर मैंने अपनी बाल्यावस्था के जिस प्रसंग की चर्चा की है, उसमें यहाँ मैं इतना और जोड़ना चाहूँगा कि जिस समय वह कथक लोक-कथाएं सुनाकर लोगों का मनोरंजन किया करता था, उन्हीं दिनों वहाँ एक प्रतिष्ठित सूफी-फकीर भी रहते थे, जिनके दर्शनों के लिए दूर-दूर से लोग आया करते थे और मैं भी प्रायः उनके पास जा बैठता था। उनका जीवन बड़ी तपस्या, साधना, गरीबी और पाकीजगी का जीवन था। किन्तु, वे बहुत कम बोलते थे, और मैंने कभी उन्हें कोई प्रेम-कहानी सुनाते या किसी प्रेमी-प्रेमिका के लौकिक बनाम अलौकिक प्रेम की चर्चा करते नहीं सुना।

●यहाँ एक बात का उल्लेख करना और आवश्यक प्रतीत होता है। हिन्दी के सभी 'सूफी-प्रेमाख्यानों' में सूफीमत के साथ-साथ नाथपंथ एवं योग-साधना का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इन कथा-काव्यों के नायक प्रायः योगी बनकर प्रेमिका की खोज में निकलते हैं और उनमें बीच-बीच में योग-मार्ग के अनेक सिद्धान्तों और साधना-पद्धति आदि के संकेत भी मिलते हैं।

---

1. "गली में कीचड़ है; मूसलाधार वर्षा हो रही है। प्रिय का घर बहुत दूर है, जाने से वस्त्र भीगते हैं और न जाने से प्रेम टूटता है।" फरीद का कहना है कि वर्षा मूसलाधार होती रहे, वस्त्र भीग जाए, किन्तु प्रिय से जाकर अवश्य मिलना है।"

इस प्रकार के संकेत इन लोक-कथकों की कथाओं में भी प्रायः मिलते थे। यह उस युग में, इस क्षेत्र में, नाथों-योगियों-सिद्धों के प्रभाव का परिणाम ही कहा जा सकता है। इसके आधार पर इन प्रेमाख्यानों अथवा लोक-कथाओं को योगमार्ग का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ नहीं माना जा सकता।

कुछ समीक्षकों का कथन है कि इन मुसलमान कवियों ने हिन्दू घरों की कहानियां लेकर और भारतीय-परिवेश का चित्रण करके हिन्दुओं और मुसलमानों को निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया। वह उद्देश्य इन कथाओं का हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। यदि यह स्वीकार करें कि ये कवि मात्र लोक-मनोरंजन के लिए ये कथाएँ लिख रहे थे तो वे परम्परा से चली आ रही इन लोक-कथाओं में अपने आसपास के उसी माहौल का वर्णन कर सकते थे, जिस माहौल की वे कथाएँ देन थी और जिस सांस्कृतिक, सामाजिक जीवन से वे जुड़ी हुई थीं। उनके अनेक श्रोता या पाठक उनको इस रूप में पढ़ने-सुनने के अभ्यस्त थे और इस रूप में ही वे इन्हें स्वीकार कर सकते थे। परिवेश में परिवर्तन लाने से ये कथाएँ उन्हें कदापि ग्राह्य न होतीं। यह दूसरी बात है कि मुसलमान-कथकों-कवियों से वे कुछ ईरानी लोक-कथाएँ सुनने के लिए भी उत्सुक रहते होंगे, जिसकी पूर्ति बाद के कुछ कवियों ने की। उन कथाओं का परिवेश ईरानी होना स्वाभाविक है।

5. यहां एक और ऐसा प्रश्न है, और वह काफी अहम प्रश्न है, जो मुझे निरन्तर झकझोरता रहा है। वह प्रश्न यह है कि ये प्रेमाख्यान अपने युग-बोध से कितने जुड़े हुए हैं और कौन-सी सामाजिक चेतना को प्रेरित करते हैं। वह युग था जब भारतीय यवनों के आक्रमणों, आतंक और अत्याचारों से आक्रान्त, प्रताड़ित और संत्रस्त थे। उनका धर्म, दर्शन और संस्कृति संकट में थे और धार्मिक एवं सामाजिक जीवन अनेक विकृतियों और विसंगतियों में ग्रस्त था। इस स्थिति से उबारने के लिए जब एक ओर कबीर, नानक, रैदास, सूर, तुलसी आदि संत एवं भक्त कवि नवीन सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक चेतना का उद्बोधन कर रहे थे, उस समय ये कवि जन-जीवन का यथार्थ चित्रण न करके अथवा किसी प्रगतिशील सामाजिक चेतना के पक्षधर न होकर, राजकुमारियों की घिसी-पिटी रोमांटिक कहानियां सुनाकर लोगों को रसिकता और विलासिता का चषक पिला कर बेसुध कर रहे थे। यह अफीम का एक ऐसा नशा था जो युग-संदर्भ को दृष्टि में रखते हुए, हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए कदापि हितकर सिद्ध नहीं हुआ। इससे शायद किसी और ही राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि होती रही हो।

मैंने अपने इस आलेख में न तो हिन्दी के प्रेमाख्यानों बनाम सूफी-प्रेमाख्यानों की लम्बी सूचियां दी हैं और न ही रूढ़िबद्ध रूप में उन का विवेचन है। मैंने तो कुछ ऐसे मुद्दे उठाने की कोशिश की है, जो यदाकदा मेरे मन को कचोटते रहे हैं। हो सकता है आप मेरी बातों से कुछ चौंके हों, कुछ-कुछ विचित्र भी लगी हों,

कुछ लोग क्षुब्ध भी हुए होंगे। लेकिन, मेरी ये निजी जिज्ञासाएँ हैं। जिज्ञासा प्रश्नों को उठाती हैं और प्रश्न ही ज्ञान के नये क्षितिज का उद्घाटन करते हैं। कुछ मौलिक या नया कहने का दम्भ भी मेरा नहीं है। मेरी तो अपनी शंकाएँ हैं, जो आप विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत की हैं। उनका समाधान खोजने के लिए। मुद्दे और भी हैं, हो सकते हैं, लेकिन सभी तो यहाँ इस समय उठाए नहीं जा सकते थे। जो उठा पाया हूँ उनके समाधान की तलाश है।

गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य

मध्ययुग में हिन्दी समस्त भारत की सर्वाधिक सम्पन्न एवं व्यापक साहित्यिक भाषा थी। हिन्दी भाषी प्रदेशों में जहां नागरी लिपि में हिन्दी का साहित्य लिखा गया, वहाँ अहिन्दी भाषी प्रदेशों में वहाँ की भाषा-लिपियों में भी हिन्दी का प्रचुर साहित्य लिखा गया। पंजाब में तो लगभग 5000 ऐसे ग्रंथ उपलब्ध हो चुके हैं, जिनकी भाषा हिन्दी है, किन्तु उनकी लिपि गुरुमुखी है। गुरुमुखी लिपि का पंजाबी भाषा से अब कुछ ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि पंजाबी और गुरुमुखी पर्याय से हो गये हैं। लेकिन, मध्ययुग में स्थिति यह नहीं थी। गुरुमुखी में रचित उस समय की अधिकतर रचनायें हिन्दी की हैं और पंजाबी का बहुत-सा साहित्य फारसी लिपि (शारदा) में भी लिखा गया है।

पंजाब में रचित इस समय साहित्य-निधि को देखने से मुझे ऐसा लगा है कि उस युग में विदेशी आक्रमण, अनाचार और अत्याचार तथा धार्मिक धर्मान्धता और असहिष्णुता के विरोध में जो राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जागरण का अभियान चला था उसकी अभिव्यक्ति का सशक्त और समर्थ माध्यम हिन्दी—ब्रजभाषा ही थी। इसी तथ्य की पुष्टि दशम-गुरु गोविन्द सिंह जी की निम्नलिखित पंक्तियों से होती है —

> दसम कथा भागोत की भाखा करि बनाइ।
> अवर बासना नाहि प्रभ धरम जुद्ध को चाइ।
>
> (2491—कृष्णावतार)

'श्रीमद्‌भागवत्' की कथा के माध्यम से सांस्कृतिक उत्थान तथा धर्म युद्ध की चेतना जागृत करने का आयोजन उन्होंने 'भाखा' के ही माध्यम से किया। 'भाषा' अर्थात् 'ब्रजभाषा'। इसी भाषा में उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से उनके दरबार में अमूल्य साहित्य का सृजन हुआ। जो परिमाण में भी इतना अधिक था, कि उसे 'विद्यासागर' का नाम दिया जाता था और उसकी पाण्डुलिपियों का भार नौ मन था। (दुर्भाग्य से अब उसमें से बहुत कम शेष हैं)।

सूफी दरवेश शेख बाबा फरीद ऐसे पहले कवि हैं, जिनकी प्रामाणिक रचना हमें गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध है, जो कि 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित है। फरीद यद्यपि मूलतः पंजाबी भाषा के ही कवि हैं, किन्तु उनके कुछ पद हिन्दी भाषा का भी परिचय देते हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

दिलहु मुहबति जिन सेई सचिआ।
जिन मनि होरु मुखि होरू से काढ़े कचिआ।
रते इसक खुदाइ रंगि दीदार के।
बिसरिआ जिनु नाम ते भोई भारु थीए।
आपि लीए लड़ि लाइ दरि दरवेश से।
तिनु घनुं जणेदी माउ आए सफलु से।
परवदगार अपार अगम बेअंत तू।
जिन पछाता सचु चूमां बेअंत तू।

फरीद 12वीं शती के कवि हैं, और इनकी भाषा के इस रूप को देखकर इन्हें हिन्दी का प्रथम कवि भी घोषित किया जा सकता है।

सिक्खमत के संस्थापक गुरु नानकदेव एक स्वतंत्र चिंतक, क्रांतिकारी समाज सुधारक एवं निष्ठावान आध्यात्मिक साधक ही नहीं थे, सृजनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न एक श्रेष्ठ कवि भी थे। उन्होंने अपनी आध्यात्मिक रहस्यानुभूतियों तथा नवीन सामाजिक,—धार्मिक और राजनीतिक चेतना को कविता के माध्यम से ही व्यक्त किया। उनकी वाणी में भाषा का मिला-जुला रूप उपलब्ध है, तथापि 'ब्रजभाषा' से सम्बन्धित बहुत से 'शब्द' भी उनकी वाणी में उपलब्ध हैं, जो उच्चकोटि की कविता की पहचान देते हैं। गुरु नानक के पश्चात् गुरुओं में उत्तरोत्तर ब्रजभाषा के प्रति आकर्षण बढ़ता गया, और पाँचवें गुरु अर्जुन देव की वाणी में ब्रजभाषा का रूप पूरी तरह निखर कर सामने आता है। इसी समय भाई गुरु दास ने भी, जिन्हें सिखमत का 'व्यास' भी कहा जाता है, अनेक कवित्त-सवैयों की रचना ब्रजभाषा में की। नवें गुरु तेगबहादुर की तो समस्त वाणी ब्रजभाषा में ही रचित है। उनका एक भक्ति-पद यहाँ उद्धृत है :—

माधो गोबिंद के गुन गावउ॥
मानस जनमु अमोलक पाइउ बिरथा काहे गवावउ।1। रहाउ।
पतित पुनीत दीन बंधु हरि सरनि ताहि तुम आवउ।
गज को त्रास मिटिओ जिह सिमरण तुम काहे बिसराउ।
तजि अभिमान मोह माइआ पुनि भजन राम चितु लावउ।
नानक कहत मुकति पंथ इहु गुरमुखि होइ तुम पावउ।2।5॥

आध्यात्मिकता एवं मानवीय-स्वतन्त्रता की चेतना को दृढ़ता से प्रतिष्ठित करने वाली उनकी काव्य-भाषा की सहजता, सरलता, सरसता, प्रेषणीयता, लालित्य एवं

माधुर्य उनकी काव्य रचना को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।

दशमगुरु गोबिन्दसिंह जी एक निष्ठावान धर्म-प्रवर्त्तक, सशस्त्र समाज सुधारक, आस्थावान चिंतक, आशावादी राष्ट्रनायक तथा साहसी योद्धा ही नहीं थे, वे एक युग-स्रष्टा महान कवि भी थे। वे स्वयं तो एक प्रतिभाशाली कवि थे ही, अनेक कवियों के आश्रयदाता भी थे। परम्परा के अनुसार उनके दरबार में 52 कवियों का होना स्वीकार किया जाता है, कुछ उनकी संख्या 72 तक मानते हैं। गुरु गोबिन्दसिंह तथा उनके दरबारी कवियों ने प्रचुर परिमाण में ब्रज भाषाकाव्य का प्रणयन किया। मंगल, हंसराम, टहकण, चंदन, सेनापति, आणीराय, हीर, अमृतराई, कुवरेश, धन्नासिंह, सुदामा, शारदा आदि उनके दरबार के कुछ ऐसे कवि हैं जिनकी काव्य-रचना के कुछ उदाहरण आज भी उपलब्ध हैं और वे ब्रज-भाषा साहित्य की अमूल्य निधि हैं। कालक्रम से रीतिकाल की सीमाओं में आते हुए भी, यह रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों से मुक्त, नवीन साँस्कृतिक एवं समाजिक चेतना से युक्त, प्राणवान एवं जीवन्त काव्य है। मैंने इसे 'गुरु-दरबार' की रचना कहा है। वह 'गुरु दरबार' जहाँ नित्य संत समागम होता था, धार्मिक कथाएँ होती थीं, आध्यात्मिक चर्चा होती थी, हरि कीर्तन होता था, मानवीय एकता और समानता का भाव था और सभी एक साथ लंगर में भोजन करते थे। गुरु-मुखी लिपि में रचित हिन्दी का अधिकतर साहित्य इसी परिवेश और प्रेरणा अथवा प्रभाव के अन्तर्गत लिखा गया है।

'दशम ग्रंथ' इस युग की एक अनुपम उपलब्धि है। इसमें अनेक रचनाएँ संकलित हैं। जिनमें से अधिकतर भक्ति और वीरता से सम्बन्धित हैं। 'जापु', अकालउस्तुति', 'ज्ञान प्रबोध', 'श्री मुखवाक सवैये' आदि भक्ति प्रधान रचनाएँ हैं', और 'विचित्रनाटक' (अपनी कथा), 'चौबीस अवतार कथाएँ— (जिनमें से'रामावतार' एवं 'कृष्णावतार' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं), 'चण्डी चरित उक्ति विलास', 'चण्डीचरित द्वितीय', 'शस्त्रनाममाला' आदि वीररसात्मक काव्य हैं। दरबारी कवियों में से सेनापति का 'गुरुशोभा' तथा अणीराय का 'जंगनामा गुरु गोबिन्दसिंह' भी विशेष उल्लेख योग्य वीररसात्मक काव्य-कृतियां हैं। शृंगारिक-भावना से ओतप्रोत रीतियुग में इस प्रकार की उदात्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना से युक्त, राष्ट्रीय-भावना से अनुप्राणित काव्य का लिखा जाना स्वयं में एक उपलब्धि है। इन काव्यों में धार्मिक भावना के साथ-साथ वीर रस के अत्यन्त उदात्त एवं ओजस्वी रूप के दर्शन होते हैं। 'कृष्णावतार' तो हिन्दी का पहला और अकेला ऐसा काव्य है, जो वीर रस प्रधान है और स्वयं कृष्ण ही नहीं अक्रूर और उद्धव भी यहाँ साहसी योद्धाओं के रूप में सामने आए हैं। इन सभी वीर रसात्मक काव्यों में गुरु गोबिन्दसिंह के निम्नलिखित आदर्श प्रतिफलित हुए हैं—

हम इह काज जगत मों आए । धरम हेत गुरदेव पठाए ।
जहाँ तहाँ तुम धरम बिथारो । दुसट दोखियनि पकरि पछारो ।
('बचित्रनाटक')

अथवा

'देहि शिवा वर मोहि इहै, शुभ कर्मन ते कबहूँ न टरों'
न डरों अरि सों जब जाइ लरों, निसचै कर आपनी जीत करों ।
('चण्डीचरित')

यहाँ कवि 'अभय' है, उसे शत्रु पर अपनी विजय का भी निश्चय है, किन्तु यह भी दृढ़ आस्था है कि वह 'शुभ कर्मों' से कभी भी विचलित न हो, धर्म की स्थापना करे और दुष्टों का विनाश करे ।

मैं नहीं समझता कि इस प्रकार की उदात्त एवं ओजपूर्ण वीर-भावना इस युग में अथवा सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अन्यत्र सुलभ है ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन वीरकाव्यों में युद्धों का अत्यन्त विशद, सर्वांगीण, सजीव एवं ओजस्वी चित्रण हुआ है । 'दशमग्रंथ' में लगभग 18000 छंद हैं जिनमें से 6000, वीररसात्मक छंद हैं । भूषण को इस युग का सर्वश्रेष्ठ वीर-रस का कवि माना जाता है किन्तु, हमारी धारणा है कि 'दशमग्रंथ' में वीररस की जैसी भव्य अभिव्यक्ति हुई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । 'भूषण' से तुलना हेतु गुरु गोबिन्दसिंह के एक दरबारी कवि 'हीर' का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है, जो काव्यशैली एवं भावबोध दोनों दृष्टियों से भूषण के ही समकक्ष है । भूषण और हीर दोनों समकालीन कवि हैं ।

तों सो बैर बाँधे धीर न धरति कहूँ
घौंसा की धुंकार धराधर धसकत है ।
दल के चलत महि हालत हलत कोल,
कूरम कहल्ल फनी फन न सकत है ।
प्रबल प्रतापी पातशाह गुरु गोबिन्द जी,
तेरे भय भारी भूप समकत हैं ।
होत भूमचाल दिगपाल पाइमाल होति
हलके हरल्ल हाथी माथे मतकत हैं ।

गुरु गोबिन्दसिंह ने मौलिक काव्य-रचना के अतिरिक्त 'महाभारत' तथा पुराणों के हिन्दी में अनुवाद भी करवाए और हिन्दी को अभिव्यक्ति के एक ऐसे सशक्त माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया कि उनके पश्चात् सैकड़ों की संख्या में यहाँ ब्रजभाषा में काव्य रचे गए अथवा संस्कृत, फारसी आदि की ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से सम्बन्धित अनेक ग्रंथ अनूदित हुए । गुरुमत के प्रभाव में तो अधिकांश साहित्य हिन्दी में लिखा ही गया, उदासी, सेवापंथी, निर्मलों आदि

विविध सम्प्रदायों का साहित्य भी हिन्दी में ही लिखा गया। यही नहीं पंजाब के राजदरबारों की काव्य-भाषा भी मुख्यत: हिन्दी ही रही।

राम एवं कृष्ण काव्य परम्परा में भी अनेकानेक ग्रंथ यहाँ लिखे जाते रहे। (1) रामकाव्य परम्परा से सम्बन्धित कुछ ग्रंथ हैं......

(क) 'अध्यात्म रामायण' (गुलाबसिंह), 'आत्म रामायण' (हरिसिंह), 'आदि रामायण' (सोढी मिहिरबान), 'सतसैया रामायण' (कीरतसिंह), 'मार-रामायण' (रामदास), 'सुधासिन्धु रामायण' (भाई वीर सिंह), 'कीरत रामायण' (कीरतसिंह), 'वाल्मीकि रामायण भाषा' (संतोखसिंह), 'राम रहस्य' (रत्नहरि), 'रामाश्वमेध' (हरिनाम), 'रामगीत' (मेहरसिंह), 'रामायण चन्द्रोदय' (निहाल), 'लवकुश कथा' (साहिब दास), 'रामचरित' (कृष्ण लाल), 'रामायण' (कविचन्द), 'रामावतार' (गुरु गोबिन्दसिंह)। इनमें से अधिकांश रचनाएँ अनूदित हैं, तथापि इनके रचयिताओं ने मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। कुछ मौलिक रचनाएँ भी हैं।

(ख) कृष्ण काव्य परम्परा से सम्बन्धित कुछ ग्रंथ हैं——

'कृष्णावतार' (गुरु गोविन्द सिंह), 'कृष्ण कौतूहल' (साहिबसिंह मृगेन्द्र), 'श्री गिरधर लीला' (कृष्ण दास), 'गीत गोबिन्द भाषा' (फतेराम), 'गोपी पचीसी' (ग्वाल) 'गोपी उधव संवाद' (कुन्दन मिश्र), 'द्रोपदीचरित' (रामदास), 'रुक्मिणी मंगल' (गुलाब), 'रुक्मिणी मंगल' (जातिदास), 'रुक्मिणी मंगल' (निहाल), 'सुदामाचरित' (उमादास, हिरदैराम, निहाल, साहिबदास, जातीराम आदि अनेक कवियों के)।'

इनमें कृष्ण-चरित के विविध प्रसंगों का मार्मिक वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त 'श्रीमद्भागवत' तथा 'भगवद्गीता' के अनुवाद भी किये गए।

हिन्दी में अनेक प्रतिष्ठित कवियों—तुलसीदास, सूरदास, केशव, मतिराम, बिहारी, चिंतामणि, देव, पद्माकर, सुरतिमिश्र, बलभद्र, ग्वाल, गंग, रघुनाथ आदि की कृतियाँ भी गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हैं, जो इस बात का संकेत दे रही हैं, कि गुरुमुखी लिपि के माध्यम से अन्यत्र रचित हिन्दी साहित्य का अध्ययन भी हो रहा था और प्रणयन भी।

रीतिकालीन मूल काव्यधारा की पद्धति पर यहाँ भी कुछ शृंगारपरक अथवा अलंकार-युक्त काव्य-कृतियों की रचना हुई और उसी कोटि के कुछ रीति-ग्रंथ भी लिखे गये। गुरुमुखी लिपि में रचित लगभग 50 रीतिग्रंथ उपलब्ध हो चुके हैं। इनमें 'सवींग निरूपक, अलंकार तथा नायिका भेद अथवा नख-शिख से सम्बन्धित ग्रंथ हैं, जो प्राय: संस्कृत के शास्त्रीय-ग्रंथों पर आधारित हैं और उनमें मौलिकता का प्राय: अभाव है। बुधसिंह, फतहसिंह, शम्भूनाथ, मुकन्द, अमीरदास, निहाल, हरिनाम, गंगाराम एवं संतोखसिंह ऐसे प्रमुख आचार्य हैं, जिन्होंने गुरुमुखी लिपि

में हिन्दी के रीति-ग्रंथों की रचना भी की है। ये मतिराम, चिंतामणि, देव, दास, पद्माकर, श्रीपति, कुलपति मिश्र आदि की श्रेणी के ही आचार्य हैं।

नायिकाओं के नख-शिख, हाव-भाव, चेष्टाओं, अभिसार, संयोग-वियोग आदि के माध्यम से कुछ शृंगारी वर्णन भी इन कवियों ने किये हैं और उनमें पर्याप्त चित्रात्मकता एवं मार्मिकता है। एक परकीया नायिका की भावपूर्ण चेष्टाओं का चित्रण देखिए निहाल कवि ने कितनी कुशलता से किया है। इसे सहजता से देव, पद्माकर, मतिराम आदि किसी भी कवि के समकक्ष रखा जा सकता है।

उझक उझक झाँक झाँक जात है झरोखन में,
झप झप झूम झूम दृग देत चिखनारी मैं।
चपला सी चौकन में चमक-चमक उठे,
चित में चालाक चारु चित बनवारी मैं,
दुर दुर देखजात मुर मुर भीतर को,
दुर के किबार वार घूंघट किवारी मैं,
भीतर ते बारी लग बारी ते अटारी लग,
झुक के अटारी दुर जात चित्रसारी मैं।
('साहित्य-शिरोमणि')

यहाँ 'अनुप्रास' की छटा भी दर्शनीय है।

इसी प्रकार साहबसिंह 'मृगेन्द्र' ने भी मानिनी नायिका की भावपूर्व चेष्टाओं, अनुभावों एवं भाव-भंगिमाओं का अनूठा चित्रण किया है, जो द्रष्टव्य है——

जिमि जिमि ऐंचत हठ किये होत जात दृग लोल।
मुख मुस्कान दुरावते बिघनत जान कपोल।
कत मोरत दृग ऐंच अली कत मोरत मुस्कान।
प्रगट कहत रंग रैन के अंग-अंग अँगरान।
('कुसुमवाटिका')

रीतिकवियों की ही परम्परा में यहाँ कुछ शृंगारपरक 'शतक' तथा 'सतसइयाँ' भी लिखी गई।[1] अमीरदास कृत 'ब्रजराज विलास सतसई' से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं, जिनको बिहारी सतसई के साथ रखकर देखने से उनके काव्य-सौन्दर्य की परख की जा सकती है।

ए तेरे तीखे तरुनी, नीले नचीले नयन।
मनो परे पिंजरा निमे, खंजन पावत न चैन।
लसै सलौनी श्याम पट, कनक किनारी रेख।
सरद विमल अम्बर मही, जनु विधु परि परिवेख।

---

1. कुछ शतक काव्य : 'यमक शतक' (महंत गुरुमुख), 'तिलशतक' एवं 'दृगशतक' (ग्वाल) 'शृंगार शतक' (गणेश सिंह बेदी), 'कृत कवित ललित शतक' (हरचरणसिंह)।

बिहारी की ही भाँति यहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की सहायता से काव्य का उत्कर्ष हुआ है।[2]

गुरुमुखी लिपि में भक्ति, वैराग्य तथा नीति आदि से सम्बन्धित 'शतक' भी मिलते हैं।

'आनन्द प्रकाश सतसई' (दलसिंह) तथा 'बसंत सतसई' (बसंत सिंह ऋतुराज) आदि इस युग की अन्य सतसइयाँ हैं, जो गुरुमुखी लिपि में रचित हैं।

इनके अतिरिक्त 'सूर रम्भा रानी' (राजाराम दुम्गल), 'सुमन संजीवन' (साहिबसिंह मृगेन्द्र), 'हीर राँझा' (अमानद मूजर), 'कथा हीर राँझे की' (गुरदास गुणी), 'कथा नल दमयन्ती' (बसंतसिंह ऋतुराज), 'किस्सा चन्द्र बदन' (मियाँ सैफुल्ला), 'गुल सनोबर की कथा' (नाथी), 'चन्द्र किरण' (निहाल), 'प्रेम पयोनिधि' (साहिबसिंह मृगेन्द्र) आदि अनेक प्रेमाख्यान भी गुरुमुखी लिपि में रचित उपलब्ध हैं।

जिस प्रकार रीतिकाल के कवियों ने अपने काव्य को अलंकारों के वैभव से सुसज्जित किया है और कहीं कहीं अलंकारों का अत्यधिक चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है, उसी प्रकार की प्रवृत्ति गुरुमुखी में रचित काव्यों में भी कहीं कहीं दिखाई पड़ती है, जहाँ कवियों ने अलंकारों के प्रयोग में अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया है। भाई संतोखसिंह के विविध अलंकार युक्त शैलियों में रचित दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(1) बंदन बिंदु बदन बर चंदन। चंदन सम अरबिंद मनिंद न।
निंद न जिह सुर करि अभिनंदन। नंदन जग बानी पद बंदन।

करितारनि से शुभ वाक बिलास विहंग बिकारन को करि तारनि।
करतार नहीं मन जानति जे तिनके हित को सिफनी करि तारन।
करि तारिनि पाप उतारन को गन दम छपै सविता करितारन।
करतार निहार गुरु बर नानक दास उधारन जिउ करि तारनि।
('गुरु प्रताप सूरज रा 1:1:8')

यहीं नहीं कहीं कहीं तो ऐसे दुरूह एवं क्लिष्ट प्रयोग भी मिलते हैं, जहाँ अर्थबोध साधारण बुद्धि के पाठक की क्षमता से बाहर है। यथा—

केकी केक कौक काक कुह कुह कुह कहै
कौहैं अघ अघी कोउ कहो कहा कह है।

कहने का अभिप्राय यही है कि गुरुमुखी लिपि में ब्रजभाषा का ठीक वैसा ही काव्य

---

2. गोपीचंद वैराग्य शतक' (वीरसिंह बल), 'नरेन्द्र नीति शतक' (अद्वैतानन्द ब्रह्म), 'आतम अनुभव शतक' (जीवनसिंह बेदी)।

भी काफी लिखा गया, जैसा कि उत्तरमध्यकाल में अन्यत्र हिन्दी भाषी क्षेत्रों में नागरी लिपि में लिखा गया था। लेकिन, यहाँ उल्लेखनीय यह है कि इस साहित्य की वास्तविक पहचान इस प्रकार के साहित्य से नहीं है। वरन्, अलंकृती और शृंगारिकता के इस काल में गुरुमुखी लिपि में नवीन सांस्कृतिक-सामाजिक चेतना एवं वीर-भावना से अनुप्राणित जो काव्य लिखा गया, उसी के कारण उसका हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ऊपर मैंने आनन्दपुर के गुरु-दरबार की रचनाओं का उल्लेख किया है। 'गुरु-दरबार' से मेरा अभिप्राय गुरु गोबिन्द सिंह तथा उनके दरबारी कवियों की रचनाओं से ही नहीं है, वरन् उस सम्पूर्ण साहित्य से भी है जो गुरु गोबिन्द सिंह जी के पश्चात् उनके अथवा अन्य गुरुओं के जीवन एवं व्यक्तित्व पर आधारित हैं, अथवा उनके आध्यात्मिक विचारों, नैतिक आदर्शों, सामाजिक चिंतन और वीर-भावना आदि से प्रेरणा पाकर लिखा गया है। ऐसी रचनाओं में यहाँ विशेष रूप से कुछ प्रबंधात्मक रचनाओं का उल्लेख करना उचित होगा जो अपने कथ्य और शिल्प की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अग्रणी स्थान पाने की क्षमता रखती हैं। ये रचनाएँ है—(1)'महिमा प्रकाश' (सरूपदास भल्ला), (2)'गुरु नानक विजय' (छंद संख्या 29000 (संतरेण), (3) 'गुरु नानक प्रकाश' (छंद संख्या-9000-भाई संतोख सिंह), (4) गुरु बिलास पातसाही-6' (सोहन), (5) गुरुविलास' (छंद संख्या 5000-कुइर सिंह), (6)'गुरु बिलास' (छंद संख्या 5000-भाई सुक्खा सिंह), (7) 'गुरु प्रताप सूरज' (छंद संख्या 5100, भाई संतोख सिंह) (8) 'गुरु गोबिन्द सिंह बिलास' (ब्रह्म अद्वैतानन्द), (9) 'गुरु नानक चन्द्रिका' (रत्नहरि)। गुरु नानक के चरित्र पर आधारित रचनाओं में आध्यात्मिक तत्त्व की प्रधानता है तथा उनमें गुरु नानक की प्रगतिशील सामाजिक चेतना एवं मानवीय एकता की भावना को प्रकट किया गया है। कुइरसिंह तथा सुक्खासिंह के 'गुरुबिलास' गुरु गोबिन्द सिंह के जीवन पर आधारित हैं और 'गुरु प्रताप सूरज' सभी सिख-गुरुओं के जीवन को आधार बना कर लिखा गया है। इन काव्य-ग्रंथों में गुरुमत के आध्यात्मिक व सामाजिक दर्शन के साथ नवीन राजनैतिक चेतना एवं वीर-भावना की भी सशक्त अभिव्यंजना हुई है। यहाँ यह संकेत कर देना भी अनुचित न होगा कि गुरुमुखी लिपि में हिन्दी के लगभग 20 हज़ार वीररसात्मक छंदों की रचना हुई है और ये सभी छंद उदात्त मानवीय मूल्यों एवं राष्ट्रीय-भावना से अनुप्राणित हैं। इन रचनाओं की एक यह भी विशेषता है कि इनमें उस युग के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का यथार्थ एवं सजीव चित्रण विशदता से हुआ है और नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना की गई है। पराजित, असहाय एवं निराश हिन्दू जनता को इन रचनाओं ने अद्भुत साहस, निर्भयता, शक्ति, बल, पौरुष एवं आत्म-गौरव का वरदान दिया है। इस युग में इस क्षेत्र में पटियाला,

नाभा, कपूरथला, जीन्द आदि अनेक 'राजदरबार' भी थे और इन राजदरबारों में काव्य-रचना भी प्रचुर मात्रा में हुई। लेकिन, अधिकांश ऐसी ही कृतियाँ वहाँ रची गईं, जिन पर 'गुरु-दरबार' की काव्य-चेतना का प्रभाव है। इस साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए और विशेष रूप से इनकी दो प्रमुख प्रवृत्तियों—आध्यात्मिकता एवं वीरता को स्पष्ट करने के लिए इन काव्य-कृतियों से एक-दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं, जो उनके काव्य-चिंतन एवं भाव-बोध का कुछ आभास दे सकते हैं।

आध्यात्मिकता अथवा भक्ति-भावना से सम्बन्धित :

(1) तोसो नहीं दाता कोउ, मोसो न भिखारी दीन,
तोसो न दयालु, दुखी मोसो न अलाइए।
मोसो नहीं क्रितघन, तोसो उपकारी नांहि,
मोसो न अनाथ, नाथ, तोसो न बताइए।
औगुनी न मोसो कोऊ, गुनवान तोसो नही,
जप तप व्रत मो मैं एक नहीं पाईए।
कवि आयो है शरण, गहे धाई के चरण,
गुरु तारन तरन, निज हाथ दै बचाइए।

भाई संतोख सिंह के इस कवित्त की तुलना तुलसीदास के विनय सम्बन्धी पदों से करने से इसके महत्त्व को समझा जा सकता है। इसी प्रकार गुरु गोबिन्द सिंह के निम्नलिखित कवित्त में वाह्याचारों एवं मिथ्याडम्बरों का ठीक उसी तीक्ष्णता से खंडन किया गया है, जैसा कि कबीर ने किया था···

पँच बार गीदर पुकारे परे सीत काल,
कुंचर औ गदहा अनेक दा पुकार ही।
कहा भयो जो पै कलवत्र लीओ काँसी बीच,
चीर चीर चोरटा कुठारन सो मारही।
कहा भयो फासी डार बूडिओ जड़ गंगधार,
डार डार फास ठग मार मार डारही।
डूबे नरक धार मूड़ गिआन के बिना विचार
भावना विहीन कैसे को बिचार ही॥
('अकाल उस्तुति')

संसार के सम्बन्धों, वैभव एवं ऐश्वर्य आदि की असारता, क्षणभंगुरता एवं मिथ्यात्व आदि का निरूपण करते हुए संतरेण ने अपनी वैराग्य-भावना को इस प्रकार प्रकट किया है :

पति सुंदर है तब नार नहीं,
जब नार सुंदर है बिभचारण।
घरि नार अहै तब पूत नहीं,
तब पूत अहे, तब आहि सधारण।
नर देहि अहे तब नाहि पढ़ा,
जब आहि पढ़ा, न पढ़्यो तब हारण।
इम संतहि रेण कहै मन को,
हम तोहि कह्यो दुख का इहु कारण।
('मन-प्रबोध')

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि यह कविता यहाँ 'रीतिकाल' में लिखी गई थी न कि 'भक्तिकाल' में और यह उसका एक अतिरिक्त वैशिष्ट्य है।

वीररस का एक उदाहरण पीछे 'हीर' कवि की रचना से दिया जा चुका है। भाई संतोखसिंह के काव्य से एक उदाहरण और प्रस्तुत है—

दल जे दिलेश अचलेश दोऊ मिलि धाए,
धुरवा से धौंसा की धुंकार उठे धोरि धोरि।
बाँधे बड़े टट्ट भट्ट घट्ट के संघट्ट जुट,
लोह की चमक छटा छबि भाँति कोरि कोरि।
गोरे परे ओरे धूम अधिक अँधेरो धूर,
हलके हरौल हला हली उठे टोरि टोरि।
तौ लौ ही बनाऊ श्री गोबिन्दसिंह राउ जौ लौ,
छोरे न समीर तीर जेहि माहि जोरि जोरि।
('गुरु प्रताप सूरज, रि० 6:1:13)

ये सभी उदाहरण उन रचनाओं से उद्धृत हैं,जो गुरुमुखी लिपि में रचित हैं और ये उदाहरण इसीलिए दिये गये हैं, जिससे इन्हें पढ़कर यह निश्चय भी हो सके कि ये हिन्दी के ही हैं, पंजाबी के नहीं।

वस्तुतः, गुरुमुखी लिपि में इतने अधिक परिमाण मे हिन्दी का साहित्य लिखा गया है और उसकी प्रवृत्यात्मक एव शिल्पगत इतनी विविधताएँ, विशेषताएँ एवं उपलब्धियाँ हैं कि एक संक्षिप्त से लेख में न तो सभी रचनाओं का विवरण ही दिया जा सकता है और न ही उनके स्वरूप की मीमांसा ही की जा सकती है। मैंने यहाँ उनकी कुछेक विशेषताओं को उद्घाटित करने का ही प्रयास किया है। प्रवृत्यात्मक दृष्टि से ही नहीं वस्तु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, छंद-विधान एवं काव्य रूपों आदि की दृष्टि से भी इस साहित्य में अनेक विशिष्टताएँ हैं। नगर, आखेट, विवाह, युद्धों, उत्सवों आदि के विशद एवं सजीव चित्रांकन, प्रकृति के संश्लिष्ट स्वतन्त्र एवं यथार्थ चित्रण की दृष्टि से भी यह साहित्य अनुपम है और

इसमें संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, पंजाबी, फारसी आदि अनेक भाषाओं के छंदों एवं काव्य-रूपों का भी कुशलतापूर्वक प्रयोग किया गया है। अन्त में मैं इतना ही कहूँगा कि गुरुमुखी लिपि में रचित हिन्दी का हमें बहुत ही मूल्यवान साहित्य उपलब्ध हुआ है और हिन्दी साहित्य के इतिहासों में इसको समाविष्ट करने से ही ये इतिहास पूर्ण एवं प्रामाणिक हो सकेंगे।

"गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य पर सम्पन्न शोध"

25-30 वर्ष पूर्व इस तरह की कोई चर्चा हिन्दी में नहीं थी कि गुरुमुखी लिपि में भी हिन्दी का साहित्य रचा गया है। हिन्दी और पंजाबी के सभी विद्वान यही समझते थे कि गुरुमुखी लिपि में रचित सम्पूर्ण साहित्य पंजाबी का ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा हिन्दी के अन्य सभी इतिहासकारों ने मात्र गुरु-नानक अथवा गुरु गोविन्द सिंह आदि का ही उल्लेख किया था। डॉ० नगेन्द्र की 'रीतिकाल की भूमिका' का प्रथम संस्करण 1949 ई० और पंचम संस्करण 1964 ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने लिखा है—" सिक्ख धर्म में भी यथेष्ठ जीवन था, परन्तु ये सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ हिन्दी-प्रान्तों से बाहर पड़ती थीं। अतःएव हिन्दी साहित्य से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था," (पृष्ठ 18)। स्पष्ट है कि डॉ० नगेन्द्र अभी तक पंजाब में सिक्ख-धर्म की प्रेरणा से रचित हिन्दी के साहित्य से विशेष परिचित नहीं थे। किन्तु, जब 1973 में डॉ० नगेन्द्र का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ तो उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "·····गुरुमुखी लिपि में लिपिबद्ध हिन्दी गद्य-पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है जिससे हिन्दी-साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएँ समझकर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वाङ्मय का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए क्योंकि हिन्दी की सही परिभाषा के अनुसार यह सब हिन्दी-साहित्य का ही अंग है।"

निःसन्देह, इन दोनों पुस्तकों के अन्तराल में बहुत कुछ घटित हो चुका था। 1962 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से पण्डित चन्द्रकान्त बाली प्रणीत 432 पृष्ठों का "पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास" (प्रथम खण्ड) प्रकाशित हुआ था जिसे डॉ० नगेन्द्र ने भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन पर उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक घोषित किया था। इन्हीं दिनों डॉ० हरभजन सिंह उनके निर्देशन में "गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-काव्य" पर शोध-कार्य कर रहे थे और उनका यह शोध-प्रबन्ध नेशनल पब्लिशिंग हाउस से 1963 ई० में प्रकाशित हो

गया था। किन्तु, अभी तक गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-साहित्य की विशेष चर्चा हिन्दी जगत में नहीं हो पायी थी और न ही इस ओर विद्वानों का विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ था। इन पंक्तियों के लेखक को 1955-56 में ऐसा संकेत मिला कि गुरुमुखी लिपि में हिन्दी का कुछ साहित्य लिखा गया है और मैंने इस दिशा में खोज शुरू की। परिणामस्वरूप 1959 में पंजाब विश्वविद्यालय रिसर्च बुलेटिन तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका-काशी, में क्रमश: मेरे दो लेख—"ब्रज-भाषा के दो पंजाबी कवि" तथा "पंजाब के कुछ ब्रजभाषा के कवि" प्रकाशित हुए। दूसरे लेख में गुरु गोविन्द सिंह के अनेक दरबारी कवियों का परिचय दिया गया था, जिन्होंने गुरुमुखी लिपि में ब्रजभाषा की उत्कृष्ट कोटि की काव्य-रचना की है। इन्हीं दिनों मुझे हिन्दी के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ "गुरु प्रताप सूरज" का पता चला। इसमें 60,000 छन्द हैं। इसकी भाषा ब्रज थी और लिपि गुरुमुखी। कैथल में संवत् 1891 से 1900 तक रचित इस काव्य-ग्रन्थ का हिन्दी के किसी भी इतिहास-ग्रन्थ अथवा अन्य पुस्तक में उल्लेख नहीं मिलता। मैंने इस पर 1962-63 में अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया और यह शोध-प्रबन्ध कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से 1966 में प्रकाशित हुआ। यह ऐतिहासिक-पौराणिक परम्परा का काव्य है और रीतिकाल की कालावधि में रचित होने पर भी इसमें अध्यात्म, भक्ति और वीरता की प्रवृत्तियों की प्रधानता है। इसमें उदात्त सांस्कृतिक एवं बृहत्तर सामाजिक-चेतना की विशद् अभिव्यक्ति हुई है। इस रचना की काव्य-चेतना, काव्य-सौन्दर्य एवं काव्य-शैली ने मुझे पंजाब-हरियाणा में प्रचलित हिन्दी-काव्य की पूर्व-परम्परा के अन्वेषण के लिए प्रेरित किया और पब्लिक लायब्रेरी-पटियाला; पंजाब भाषा विभाग, पटियाला; मोती बाग पुस्तकालय, पटियाला; पंजाब आर्काइव्ज़, पटियाला; गुरुद्वारा आनन्दपुर साहिब; सिक्ख रेफ-रेंस लायब्रेरी, अमृतसर; गुरु रामदास लायब्रेरी, अमृतसर तथा नेशनल लाय-ब्रेरी, कलकत्ता आदि अनेक पुस्तकालयों में इस प्रकार की सहस्रों पाण्डुलिपियाँ मेरे हाथ लगीं, जिनकी लिपि गुरुमुखी और भाषा हिन्दी थी। इस शोध-कार्य पर आधारित मेरी पुस्तक 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य' 1970 में प्रकाशित हुई। अब तक इस विषय पर मेरी लगभग 16 पुस्तकें तथा शताधिक लेख प्रका-शित हो चुके हैं। मुझे स्वयं अपने सम्बन्ध में यह सब लिखते हुए संकोच हो रहा है, लेकिन मैं नहीं समझता कि इसके अभाव में "गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य" पर शोध की कहानी पूरी हो सकती है। वस्तुत:, इस क्षेत्र में डॉ० हर-भजन सिंह और मैंने ही प्रारम्भिक एवं प्राथमिक कार्य किया है। डॉ० हरभजन सिंह तो हिन्दी में अपना शोध-प्रबन्ध लिखकर पंजाबी के हो गये, लेकिन मैं आज तक इस कार्य से सम्बद्ध हूँ।

यहाँ यह कहानी अधूरी ही रहेगी, यदि मैं सरदार शमशेर सिंह अशोक का

उल्लेख नहीं करूँगा। अशोक जी ने पटियाला, अमृतसर तथा अन्य स्थानों पर उपलब्ध पाण्डुलिपियों का विवरण तैयार करने में एक ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया है। इन हस्तलिखित ग्रंथों की सूचियाँ दो खण्डों में पंजाब भाषा विभाग, पटियाला से प्रकाशित हो चुकी हैं। इन सूचियों में पाण्डुलिपियों के रचयिता, रचनाकाल, आरम्भ एवं अन्त के साथ उनकी काव्य-रचना का नमूना भी दिया गया है। गुरुमुखी लिपि में हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों —तुलसी, सूर, बिहारी, रत्नाकर, रहीम आदि की रचनाओं के अनेक लिप्यान्तर अथवा टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। कुछ संस्कृत-फारसी आदि से हिन्दी में अनूदित ग्रंथ हैं और शेष मौलिक कृतियाँ हैं। निश्चय ही अशोक जी ने एक संस्था का काम किया है। खेद है कि अभी तक इनके श्रम का यथोचित उपयोग नहीं हो पाया है। कारण स्पष्ट है। ये सूचियाँ भी गुरुमुखी लिपि में प्रकाशित हुई हैं। परिणामस्वरूप हिन्दी-भाषी प्रदेशों के विद्वान् इनसे समुचित लाभ नहीं उठा पाए। पंजाब भाषा-विभाग को चाहिए कि इन सूचियों को हिन्दी में भी प्रकाशित करे।

हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विद्वानों का इस साहित्य-निधि की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए जुलाई, 1966 में मेरे प्रयासों से कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से, "गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-साहित्य" पर एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें मेरे अतिरिक्त सर्वश्री शमशेर सिंह अशोक, मनमोहन सहगल, ओम प्रकाश शास्त्री, महीप सिंह, रतनसिंह जग्गी, ओम प्रकाश भारद्वाज और गोविन्द नाथ राजगुरु ने गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-साहित्य के विभिन्न पक्षों पर आठ शोध-पत्र प्रस्तुत किये। (ये शोध-पत्र विवरण सहित, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से (पृष्ठ संख्या 128) प्रकाशित हो चुके हैं।)

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में आयोजित भारतीय हिन्दी परिषद् के 21 वें अधिवेशन (मई, 1965) में भी "गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य" पर एक विशिष्ट गोष्ठी हुई, जिसमें मैंने "गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध प्रबन्ध-काव्यों में वात्सल्य रस" पर, डॉ० मनमोहन सहगल ने "भाई गुरदास" पर तथा डॉ० ओम प्रकाश शास्त्री ने "पंजाब के रीति-ग्रन्थों का स्वरूप" पर शोध-पत्र पढ़े थे।

पंजाब भाषा विभाग ने भी समय-समय पर "गुरुमुखी में उपलब्ध हिन्दी की पाण्डुलिपियाँ", "गुरु प्रताप सूरज का हिन्दी-साहित्य में स्थान", "पंजाब का पुरातन हिन्दी साहित्य", "पंजाब का हिन्दी को योगदान", "आनन्दपुर का हिन्दी को योगदान", पंजाब का हिन्दी कृष्ण काव्य", "पंजाब का हिन्दी वीर काव्य", "पंजाब का हिन्दी भक्ति-काव्य", "पंजाब की हिन्दी भारमई परम्परा", "पंजाब में रचित हिन्दी शतक-काव्य परम्परा" आदि विषयों पर गोष्ठियाँ आयोजित कीं।

चर्चित साहित्य पर दो स्तरों पर कार्य करने की आवश्यकता थी। एक तो

इन ग्रन्थों का हिन्दी में सम्पादन कर प्रकाशित करने की और दूसरे, इस पर शोध कार्य करने की। कहना न होगा कि इन दोनों ही पक्षों पर पिछले 25 वर्षों में पर्याप्त कार्य सम्पन्न हुआ है। पंजाब भाषा विभाग, पटियाला, तथा इस क्षेत्र के विभिन्न विश्वविद्यालयों ने इस तरह की सामग्री को प्रकाशित करने का महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। पंजाब भाषा-विभाग ने "गुरुनानक रचनावली", "पुरातन जन्म साखी", "नानक प्रकाश" "वाणी गुरु अंगद देव", "वाणी गुरु रामदास" "गुरु रामदास रचनावली", "वाणी गुरु अर्जुन देव", "वाणी गुरु तेग बहादुर", "वाणी गुरु गोविन्द सिंह," "गुरु रामदास की वाणी," "कथा हीर रांझन की", "गुरु प्रताप सूरज ग्रन्थ' (आठ भाग), "गुरु बिलास" (सुक्खा सिंह), "गुरु बिलास" (कुइर सिंह)," "गुरु बिलास" (पातसाही-10), "गुरु बिलास-पातसाही-6 (कवि सोहन), "गुरु नानक विजय," "बार अमर सिंह, "बृजराज बिलास सतसई" "राम बिलास", "शोभा शृंगार, "बाल्मीकि रामायण भाषा" आदि अनेक कृतियों को हिन्दी में प्रकाशित किया है। पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, ने भी "गुरु शोभा", "जंगनामा गुरु गोविन्द सिंह," 'संक्षिप्त गुरु प्रताप सूरज' "गोसटि मिहरबानु' 'आदि कृतियाँ प्रकाशित की हैं। कुछ शोध-कर्त्ताओं ने पंजाब के हिन्दी राम-काव्य, कृष्ण-काव्य, सतसइयों एवं शतकों का सम्पादन भी किया है।

"दशम ग्रन्थ" को लेकर हिन्दी में अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं। इनमें विशेष रूप से धर्मपाल अष्टा कृत "पोईट्री ऑफ दि दशम ग्रन्थ; डॉ० रत्नसिंह जग्गी का "दशम ग्रन्थ की पौराणिक रचनाओं का आलोचत्मक अध्ययन," महीपसिंह का "गुरु गोविन्द सिंह और उनका काव्य"; डॉ० प्रसन्नी देवी सहगल का "गुरु गोविन्द सिंह"; सुशीला देवी का "दशम ग्रन्थमें मध्ययुगीन समाज और संस्कृति"; विनोद कुमार का "गुरु गोविन्द सिंह का काव्य तथा दर्शन"; मलिक सिंह का "गुरु गोबिन्द सिंह और उनका काव्य"; महेश चन्द्र शर्मा का "सम्प्रेषण क्षमता की दृष्टि से गुरु गोविन्द सिंह के ब्रजभाषा काव्य का मूल्यांकन"; मोहनजीत सिंह का "गुरु गोविन्द सिंह की हिन्दी रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन" तथा ओमप्रकाश भारद्वाज कृत "दशमग्रंथतर रामावतार तथा कृष्णावतार का काव्यशास्त्रीय अध्ययन" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ० सुरेन्द्र सिंह कोहली, प्रो० गुरबचन सिंह तालिब, डॉ० मन-मोहन सहगल, डॉ० रत्नसिंह जग्गी, डॉ० धर्मपाल मैनी, डॉ० मनोहर कौर, डॉ० जसवन्त बाजी, डॉ० प्रेम प्रकाश सिंह, रामकुमार शुक्ल, सुरेश सिंह बिलखू, जगजीत कौर, परमजीत कौर प्रभृति विद्वानों ने 'आदिग्रन्थ' अथवा गुरुनानक-काव्य के विभिन्न पक्षों को लेकर शोध-प्रबन्ध एवं समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे हैं। पिछले दिनों में गुरु गोविन्द सिंह तथा गुरु तेग बहादुर की जन्म-शताब्दियों पर भी अनेक

समीक्षात्मक एवं स्मृति-ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं। स्वयं मैंने भी गुरुनानक, गुरु तेग बहादुर, गुरु गोविन्द सिंह आदि के साहित्य पर पर्याप्त कार्य किया है।

गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध अन्य प्रकार के हिन्दी-साहित्य पर भी यथेष्ठ शोध-कार्य हुआ है और हो रहा है। "गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी का रीति-काव्य" (ईसर सिंह तांघ), "उदासी सम्प्रदाय के सन्त रेण की काव्य-साधना" (सच्चिदानन्द शर्मा), "गुरु गोविन्द सिंह के दरबारी कवि (भारत भूषण चौधरी), "पंजाब के दरबारी कवियों के परिप्रेक्ष्य में कवि ग्वाल के कवित्व का अध्ययन" (देवेन्द्र सिंह विद्यार्थी), 'गुरु प्रताप सूरज' का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन' (आशानन्द वोहरा), "पंजाब में रचित सतसई साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन" (ओम प्रकाश 'आनन्द'), "रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में आचार्य अमीरदास की कृतियों का अध्ययन" (राम प्रकाश गुप्त), साहब सिंह म्रिगेन्द्र और उनकी प्रेम पयोनिधि (ईश्वर चन्द्र गुप्त), आदि अनेक शोध-प्रबन्धों पर पंजाब/पंजाबी/गुरुनानक देव/दिल्ली/कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालयों से पी० एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त एम० लिट्, एम० फिल० तथा एम० ए० के लिए बड़ी संख्या में लघु शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं। पंजाब का हिन्दी राम-काव्य (18 वीं शती तक), पंजाब के राम काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन (उन्नीसवीं-बीसवीं शती), "गुरुमुखी में रचे हिन्दी कृष्ण-काव्य के परिप्रेक्ष्य में कृष्णावतार", "गुरुमुखी में उपलब्ध कृष्ण-काव्य का अध्ययन" "साहिब दास की रचनाएँ, "गुलाब सिंह की अध्यात्म रामायण", "गुरु-वाणी में सामाजिक चेतना, "पंजाब में उपलब्ध शतक-काव्य", "बिहारी तथा आचार्य अमीरदास की सतसइयों का तुलनात्मक अध्ययन" आदि ऐसे ही शोध-प्रबन्ध हैं। किन्तु, ये अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाये हैं।

पंजाब के भाषा-विभाग ने "कवि म्रिगेन्द तथा उनकी रचना का अध्ययन" (डॉ० ईश्वर चन्द्र गुप्त), श्री गुरु ग्रन्थ साहब: एक सांस्कृतिक सर्वेक्षण (डॉ० मनमोहन सहगल), तथा गुरु नानक का हिन्दी काव्य (डॉ० रत्न सिंह जग्गी) आदि शोध-ग्रंथों को प्रकाशित किया है। पंजाब विश्वविद्यालय ने "गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध खड़ी बोली गद्य" (गोविन्द नाथ राजगुरु) तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने "गुरु प्रताप सूरज के काव्य-पक्ष का अध्ययन" (जय भगवान गोयल) ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। कतिपय अन्य शोध-प्रबन्ध भी अन्यत्र से प्रकाशित हो रहे हैं।

'पंजाब का हिन्दी साहित्य' (डॉ० मनमोहन सहगल) में गुरुमुखी लिपि में उप-लब्ध हिन्दी-साहित्य का समुचित मूल्यांकन हुआ है। किन्तु, आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास के सन्दर्भ में इस साहित्य की संगति बिठायी जाय। इस दिशा में "रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन" (जयभगवान गोयल)

प्रथम प्रयास है।

प्रस्तुत साहित्य पर सम्पन्न शोध से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये हैं —

1. पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से पंजाब (जिसमें 1966 से पूर्व हरियाणा का क्षेत्र भी समाविष्ट था) में हिन्दुओं और सिक्खों की प्रमुख साहित्यिक भाषा हिन्दी थी और गुरुमुखी लिपि में हिन्दी के महस्त्रों ग्रन्थ यहां लिखे गये। अब तक लगभग पांच हजार ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं।

2. इनमें पद्य और गद्य दोनों तरह की रचनाएँ उपलब्ध हैं। पद्य की रचनाएँ प्रायः ब्रजभाषा में है, जबकि गद्यात्मक रचनाओं में खड़ी बोली का अधिक प्रयोग हुआ है।

3. पद्य में विभिन्न प्रकार की काव्य-कृतियों का प्रणयन हुआ, जबकि गद्य में अधिकांश अनूदित साहित्य उपलब्ध है। भक्ति-काल और रीतिकाल में हिन्दी-भाषी क्षेत्र में प्रचलित प्रायः सभी काव्य-रूपों में यहाँ भी काव्य लिखा गया। प्रबन्ध काव्य, चरित्र काव्य, वीर काव्य, पद-रचना, सतसई, शतक तथा मुक्तक आदि विशेष रूप से लिखे गये। रीतिकाल की पद्धति पर उसी तरह के अनेक "रीतिग्रन्थ" भी यहां लिखे गये हैं। राम और कृष्ण से सम्बन्धित काव्य भी काफी संख्या में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त गुरुओं के चरित्र पर आधारित साखियाँ भी लिखी गयी और फारसी काव्य के प्रभाव पर "जंगनामे" तथा पंजाबी काव्य-परम्परा के आधार पर "वारें" भी लिखी गयीं। इनमें संस्कृत और हिन्दी के छन्दों के अतिरिक्त फारसी, पंजाबी और यहां की लोकवार्ता से सम्बन्धित छन्दों का भी प्रयोग हुआ है।

रीतिकालीन पद्धति पर कुछ शृंगारिक काव्य तथा रीतिग्रन्थ यहाँ अवश्य लिखे गए, किन्तु इस क्षेत्र की प्रमुख काव्य-चेतना रीतिकालीन इतर साहित्य से सर्वथा भिन्न थी। यहाँ पर जो काव्य लिखा गया, उसमें सिक्ख धर्म (खालसा पंथ), निर्मले, सेवा-पंथी, सहजधारी, उदासी, गोसाईं तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है और उनकी सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना रीतिकालीन साहित्य के सन्दर्भ में कहीं अधिक व्यापक एवं उदात्त है। इसमें अध्यात्म, भक्ति और वीरता की प्रवृत्तियाँ कहीं अधिक प्रमुख हैं और इससे रीतिकालीन काव्य-चिन्तन को नया आयाम मिला है। यहाँ ऐसी अनेक सतसइयाँ और "शतक" भी लिखे गये, जिनकी प्रवृत्ति शृंगारमूलक न होकर वैराग्य-मूलक, भक्तिमूलक अथवा नीतिमूलक है। यहाँ के "रामकाव्य" और "कृष्णकाव्य" भी अपनी कुछ विशिष्टताएँ लिए हुए हैं। रामकाव्य में इतर प्रदेशों में रचित इस युग के रामकाव्यों की सी माधुर्य उपासना के अन्तर्गत प्रकट होने वाली शृंगारिता नहीं है। कृष्ण-काव्य में भी रसिकता अथवा उच्छृंखलता के दर्शन नहीं

होते। उदाहरण के लिए "रामावतार" और "कृष्णावतार" (दशमग्रन्थ) उच्च-कोटि के वीर-रसात्मक काव्य हैं। सम्भवतः, ये हिन्दी में अपने ढंग की विशिष्ट रचनाएँ हैं। "कृष्णावतार" में कृष्ण को एक यशस्वी युगपुरुष एवं साहसी योद्धा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उद्धव और अक्रूर भी यहाँ योद्धा बनकर आये है। होली तक के वर्णनों में भी यहाँ की काव्य-कृतियों में हास-विलास के स्थान पर युद्धोत्साह दिखाई पड़ता है। प्रकृति-चित्रण में किसी प्रकार की शृंगारिक-विलासिता नहीं है, वरन् प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य की ही अभिव्यंजना हुई है। इससे इस काव्य की विशिष्ट प्रवृत्तियों का संकेत मिल सकता है।

हिन्दी खड़ीबोली-गद्य के इतिहास को लेकर भी अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित रही हैं। किसी ने भारतेन्दु को खड़ी बोली का जन्मदाता माना तो किसी ने खड़ी बोली के प्रवर्त्तन का श्रेय सदासुखलाल, सदल मिश्र, इंशा अल्ला खाँ और लल्लु लाल प्रभृति लेखकों को देने का प्रयास किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी की "योग वाशिष्ट की भाषा" को परिनिष्ठित, परिमार्जित और प्रौढ़ खड़ी बोली के रूप में स्वीकार किया था। हिन्दी के किसी भी इतिहासकार का ध्यान इस ओर नहीं गया कि आखिर वह कौन-सी परम्परा थी, जिसका विकसित रूप रामप्रसाद निरंजनी की भाषा में सामने आया। वस्तुतः, पंजाब में खड़ी बोली की चार-पाँच सौ वर्ष पुरानी परम्परा मिलती है, लेकिन क्योंकि ये ग्रंथ गुरुमुखी लिपि में लिखे गये थे, इसलिए इनकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। "परिशोध" (अंक 1966) में मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध खड़ी बोली की कुछ गद्य-पद्य रचनाओं का परिचय दिया गया था। इधर डॉ० गोविन्द नाथ राजगुरु ने "गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध खड़ी बोली गद्य" पर अपना शोध-प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया है, जिसमें विस्तार से खड़ी बोली गद्य-परम्परा का उल्लेख हुआ है। खड़ी बोली गद्य में ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से सम्बन्धित विषयों पर फारसी एवं संस्कृत आदि से अनूदित ग्रंथ अधिक हैं। अस्तु, खड़ी बोली ज्ञान-विस्तार का माध्यम बनी, जबकि मौलिक काव्य रचनाएँ प्रायः ब्रज भाषा में ही लिखी गईं।

इस साहित्य के उद्घाटन और अनुसन्धान में पाँचवें और छठे दशक में जो प्रयास हुए, उनका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया गया है। बाद में अनेक शोधार्थी इस ओर आकृष्ट हुए और पंजाब, पंजाबी, कुरुक्षेत्र, दिल्ली, गुरुनानक देव विश्वविद्यालयों में अनेक शोध-प्रबन्ध इस साहित्य को लेकर लिखे गये और लिखे जा रहे हैं। अब देश के अन्य विश्वविद्यालयों से भी शोधार्थी इस साहित्य की ओर आकृष्ट हो रहे हैं और यहाँ के विद्वानों से सम्पर्क स्थापित कर जानकारी प्राप्त

करते रहते हैं।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि गुरुमुखी लिपि में हिन्दी की एक अक्षय निधि हमें उपलब्ध हुई है। एक बहुमूल्य खजाना है, जो हमारा था, लेकिन जिसकी हमें जानकारी नहीं थी। अब जानकारी मिल गयी है और अनेक सुधी विद्वानों ने इसका समुचित उपयोग भी किया है। इतना होते हुए भी अन्वेषण, अनुसन्धान, मूल्यांकन और उपयोग की अभी अक्षय-अनन्त सम्भावनाएँ हैं। इस साहित्य के अनुशीलन से निश्चय ही हिन्दी-साहित्य का इतिहास समृद्ध होगा। उसे नवीन दिशा एवं आयाम मिलेंगे तथा वह अपनी अपूर्णता एवं अधूरेपन से छुटकारा पाकर पूर्णता को प्राप्त कर सकेगा।

क्रांतिदर्शी एवं प्रगतिशील चिंतक—
गुरु नानक : नयी चेतना के बिन्दु

गुरू नानकदेव 500 वर्ष पूर्व के एक विलक्षण व्यक्तित्व के धनी महापुरुष थे। वे एक महान संत, निष्ठावान साधक, क्रान्तिदर्शी समाज-सुधारक, प्रगतिशील धर्म-प्रवर्त्तक तथा मानवतावादी चिन्तक थे, लेकिन आज भी उनका सन्देश उतना ही संगत और सार्थक है जितना तब था। उनके व्यक्तित्व और विचार-धारा के संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, बहुत कुछ कहा जा चुका है, इसलिए कुछ भी ऐसा नया नहीं है, जो मैं कहना या लिखना चाहता हूँ। इतना अवश्य है कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर हम अपनी अपनी आस्थाओं, अपने-अपने परिवेश और चिन्तन के सन्दर्भ में पुन: पुन: विचार करते हैं और उनसे नयी नयी प्रेरणा और शक्ति, आस्था और विश्वास प्राप्त करते हैं। आज जिस द्वन्द्व और तनाव की स्थिति से हम गुजर रहे हैं उसके निराकरण के लिये उनके चरित्र की महत्ता हमारे लिए और भी अधिक उपयोगी हो गयी है।

प्रत्येक महापुरुष का मूल्यांकन उसके युग के सन्दर्भ में करना ही अधिक समीचीन होता है। आज यद्यपि युग बदल गया है, परिस्थितियाँ और परिवेश बदल गया है, आस्थाएँ और विश्वास बदल गये हैं, दृष्टि और दिशा बदल गयी है, फिर भी आज के प्रसंग में भी उनकी प्रेरणा अति प्रासंगिक है—शायद और भी ज्यादा। आज जिस अनास्था और अविश्वास, भौतिकता और स्वार्थ, चरित्र-हीनता और चरित्रहनन, असामाजिकता और असमानता, मिथ्यात्व और अहंकार, भ्रष्टाचार और बेईमानी, मूल्यहीनता और छोटेपन के दौर से हम गुजर रहे हैं, गुरु नानक का जीवन और सन्देश हमें नया आलोक प्रदान कर हमारा समुचित मार्गदर्शन कर सकता है।

इतिहास के अनुसार गुरु नानक का जन्म अप्रैल के महीने में हुआ था। किन्तु, सिख-परम्परा में उनका जन्म शरद् पूर्णिमा को माना जाता है। गुरू नानक के जीवन पर आधारित अधिकांश जन्म-साखियों और महाकाव्यों में भी शरद्-पूर्णिमा ही उनकी जन्म-तिथि स्वीकार की गयी है। संभवत:, यह कल्पना उनके

चारित्रिक गुणों को ध्यान में रखकर की गयी है। महात्मा बुद्ध और महावीर का जन्मदिवस भी पूर्णिमा को ही माना जाता है। कबीर-पंथी भी कबीर का जन्म पूर्णिमा को ही मानते हैं। नानक बाल्यावस्था से ही शान्त, मनोहारी स्वभाव के व्यक्ति थे और जीवन भर उनका चरित्र स्निग्ध और स्पृहणीय बना रहा, जबकि कबीर के चरित्रमें अक्खड़पन, तेजस्विता, प्रखरता और प्रचण्डता है। दोनों एक-सी चुनौतियों का सामना कर रहे थे। दोनों के समाधानों में भी बहुत सी समानताएँ थीं, लेकिन चाहे धार्मिक आडम्बरों और पाखण्डों का निषेध हो या सामाजिक कुरीतियों और विसंगतियों का विरोध हो, उनकी शैली उनके स्वभाव के अनुरूप भिन्न-भिन्न थी। गुरु नानक का चरित्र शरद् के चन्द्रमा के समान स्निग्ध और शान्त था, जबकि कबीर का चरित्र ज्येष्ठ के सूर्य की तरह प्रखर और प्रचण्ड था। बाल्यावस्था से ही उनका यह स्पृहणीय, अनासक्त और निर्विकार रूप धीरे-धीरे उभरता है। किसी के प्रति कोई क्रोध नहीं, आक्रोश नहीं, कटुता नहीं। किसी की प्रताड़ना मिलने पर भी वे उसके प्रति रुष्ट दिखाई नहीं पड़ते। चाहे पिता हो अथवा पुत्र, पत्नी हो अथवा कोई अन्य, उनके मन में सभी के प्रति मंगल की भावना है। इसीलिए उनकी अक्षय कीर्ति चारों ओर ज्योत्स्ना-सी फैलती गई थी। उनकी इस कीर्ति का वर्णन भाई संतोखसिंह ने "गुरु नानक प्रकाश" में इस प्रकार किया है :

श्री गुरु नानक कीरति रानी की सेज सुहाई आकाश नहीं।
छाई नीलाम्बर सो नहिं स्यामता पास पिटारी न चंद तेही।
ना मध पाई म्रिगमद दीसत है न कलंक निसंक लही।
है कलका मलका की बिसेरी उडगन पाँति न जानी मही।

अर्थात् यह जो सुन्दर, निर्मल आकाश दिखाई पड़ रहा है, यह आकाश नहीं है वरन् उनकी कीर्ति रानी की सुहावनी सेज है। वहाँ जो श्यामता दिखाई पड़ती है वह वास्तव में सेज पर बिछा नीलाम्बर है और चन्द्रमा उसके निकट रखी शृंगार की पिटारी है। चन्द्रमा में जो कलंक दिखाई पड़ रहा है वह वास्तव में उस पिटारी में रखी हुई सुगन्धित कस्तूरी है और चारों ओर बिखरे हुए जो तारागण हैं, वे उस सेज पर बिखरी हुई मल्लिका की कलियाँ हैं।

भाई गुरुदास ने गुरुनानक के यश का वर्णन करते हुए कहा है—

"सतगुरु नानक प्रगटिया मिटी धुन्ध जग चानन होइआ—"

धुन्ध का समय भी प्रभात का होता है, जिसके निराकरण का कार्य प्रभात के बालसूर्य को करना होता है। उसकी किरणें भी चन्द्रमा सी कोमल और उज्ज्वल होती हैं, यद्यपि उनमें ऊष्मा और प्रकाश अधिक होता है। प्रचण्डता और प्रखरता तो उसमें भी नहीं होती।

गुरुनानक के पश्चात् उनके जीवन पर आधारित कई साखियाँ और महा-

काव्य लिखे गये, जिनमें "गुरुनानक विजय," "गुरुनानक प्रकाश" आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन कवियों ने जहाँ एक ओर गुरुनानक का चरित्रांकन करते हुए उनके युग के सन्दर्भ में उनकी महानता का निरूपण किया है, वहाँ उन्होंने अपने युग के सन्दर्भ में भी इनकी चिन्तनधारा का मूल्यांकन करते हुए, अपने अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप, उन्हें एक नई अर्थवत्ता प्रदान की है। निश्चय ही आज हम अपने युग की आवश्यकताओं, चुनौतियों और माँगों के अनुरूप उनसे नई प्रेरणा और दिशा प्राप्त कर सकते हैं।

गुरुनानक मध्ययुग के पहले और सम्भवत: अकेले धर्म प्रवर्तक थे, जिन्होंने उस युग के राजनीतिक आतंक, अत्याचार, हिंसा और दमन के प्रति अपना असंतोष व्यक्त किया था। बाबर द्वारा ऐमनाबाद पर आक्रमण के अवसर पर जो हिंसा और अत्याचार हुए, उनका लोमहर्षक वर्णन नानक ने किया और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की। नानक ने कहा था कि "यदि शक्तिशाली शक्तिशाली से संघर्ष करता है तो बात कुछ समझ आती है, लेकिन अगर शक्तिशाली निरीह और असहाय व्यक्तियों का वध करे तो वह कोई न्याय नहीं है। वे लोगों के दुख-दर्द से पीड़ित होकर ईश्वर को भी उलाहना देते हैं कि इतनी मार पड़ने पर भी उस प्रभु के मन में करुणा क्यों न उमड़ी।[1] इस युग के निर्दयी और नृशंस शासकों की तुलना सिंह, कुत्ते और कसाइयों से करते हुए वे उन शासकों के क्रूर कृत्यों की ओर संकेत करके उनके प्रति अपनी घृणा ही व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं।[2]

सामान्यत:, उस युग की जनता शासकों के इन अत्याचारों के प्रति अपने को सर्वथा असहाय समझती थी और इसीलिए उदासीन भी थी कि कोई भी राजा हो, उन्हें क्या अन्तर पड़ता है, क्योंकि उन्हें तो अंतत: गुलाम ही रहना है। गोस्वामी तुलसीदास ने मंथरा के माध्यम से उस युग की पराजित, नि:सहाय, दीनहीन जनता की इस मनोवृत्ति को इस रूप में प्रकट किया था..

---

1. जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई ॥1 रहाउ।
सकता सीहु मारे पै वगै खसमै सा पुरसाई।
खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुसतान डराइआ
आपै दोसु न देई करता जमु करि मुगल चढ़ाइआ
एती मार पई करलाणे तैं कि दरदु न आइआ।
करता तू सभना का सोई। (आसा महला-1)

2. राजे सिंह मुकद्दम कुत्ते, जाई जगाइन बैठे सुत्ते।
चाकर नहंदा पाइनह घाउ, रतु पितु कुत हो चटि जाहु।
...
कलि काती राजे कसाई, धरम पंख करि उडरिया॥

"कोउ नृप होउ हमहि का हानी।...
चेरी छाडि होउ कि रानी।"

(रामचरितमानस अ० काण्ड। 16/3)

भाई संतोख सिंह ने भी "गुरु नानक प्रकाश" में लोगों की इस पराजित मनोवृत्ति का चित्रण मार्मिकता से किया है। गुरु नानक को जब मुसलमान बनाने के लिए सुलतानपुर की मस्जिद में ले जाया गया, उस समय वहाँ की जनता केवल इतना ही कह सकती थी—

"हिन्दू कोई न कहि सके, तुरकन तेज बिसाल।
परमेसर ही पत राखई सिमरहु दीन दयाल॥

(नानक प्रकाश)

इससे भी यह पता चलता है कि इस युग की हिन्दू जनता में शासकों के अत्याचारों के विरोध में कुछ भी कहने अथवा कर पाने की शक्ति अथवा सामर्थ्य नहीं था। गुरु नानक उनकी मनः स्थिति और युग की उस व्यवस्था से अपरिचित नहीं थे और इसीलिए उन्होंने नई राजनीतिक चेतना जगाने का भरसक प्रयास किया। वे एक युगप्रवर्त्तक लोकनायक थे और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी उसी प्रकार जागरूक थे, जैसे कि उस युग की धार्मिक और सामाजिक विसंगतियों के प्रति। उन्होंने अन्यायी और अत्याचारी शासकों का विरोध ही नहीं किया, वरन् यह भी स्पष्ट किया कि अच्छा सुल्तान अथवा राजा कैसा होना चाहिए।

'ब्रह्म' की परिकल्पना में उन्होंने उसे 'निरभउ' और 'निरवैर' भी कहा है।[3] और मनुष्य को भी वह उसी ब्रह्म का रूप मानते हैं।[4] इससे यह संकेत मिलता है कि जब वह 'ब्रह्म' 'निर्भय' और 'निरवैर है तो मनुष्य को भी उसी प्रकार 'निर्भय' और 'निरवैर' होना चाहिए। यह एक ऐसी विलक्षण अवधारणा है जिसके माध्यम से गुरु नानक युग की राजनीतिक-चेतना को एक नई दिशा देते प्रतीत होते हैं। इसी चेतना को आगे बढ़ाते हुए गुरु तेगबहादुर ने कहा था—

"भय काहू कउ देति नहि, नहि भै मानत आनि।
कहु नानक सुनि रे मना, गिआनी ताहि बखानि॥"

गुरु गोबिन्द सिंह ने तीव्र राजनीतिक संघर्ष और विद्रोह के रूप में इस चेतना को अभिव्यक्ति दी थी और अन्याय और अधर्म के विरुद्ध धर्म-युद्ध का आवाहन करते हुए घोषणा की थी—

"दसम कथा भागौत की भाखा करि बनाइ।
अवरु बासना नाहि प्रभु, धरम जुद्ध को चाइ॥

(कृष्णावतार 241)

3. ੧ਓਕਾਰ सतिनामु करता पुरख अकाल मूरति, अजूनी निरभउ निरवैर सैभं गुरु प्रसादि।
4. ईश्वर अल्लाह नूर उपाइआ कुदरत के सब बंदे॥

निश्चय ही, यवन शासकों के अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध राजनीतिक चेतना जगाने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य गुरु नानक ने किया था, वह उनकी राष्ट्रीयता और मानवतावादी प्रवृत्ति का परिचायक है।

सामाजिक क्षेत्र में भी गुरु नानक सभी वर्गों की एकता, समानता और सामाजिक-न्याय के समर्थक थे। उस युग के सामाजिक जीवन में वर्ण और वर्ग भेद की इतनी विषमता थी कि सामाजिक समानता और एकता की कल्पना करना भी कठिन था।

गुरु नानक उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने सामाजिक अन्याय, असमानता और शोषण के विरुद्ध असन्तोष प्रकट करते हुए इसका विरोध किया और यह घोषणा की "जो नीचों से भी अधिक नीचे है नानक तो उनके साथ है। बड़े वर्ग के लोगों से उनका क्या वास्ता"—

"नीचा अन्दर नीच जाति नीचहु अति नीच।
नानक तिनके संग साथ, वडियां सिउ क्या रीस।।"

कबीर उनके समकालीन थे और उन्होंने भी सामाजिक असमानता के विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द की थी और कहा था कि "हाथी जैसा बड़ा जीव और चींटी जैसा छोटा जीव भी उसी प्रभु का रूप हैं। तब छोटे बड़े का भेद कैसा"[5]

इसीलिये भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने सभी वर्गों के व्यक्तियों को समान रूप से अधिकार देते हुए कहा था, कि—

"जाति पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि को होई।।

गुरु नानक की धारणा थी कि सामाजिक-विषमता के होते हुए सामाजिक-एकता की कल्पना संभव नहीं है। इसीलिए उन्हें संसार के सभी लोग अपने दिखाई पड़ते थे, कोई भी 'बाहरी-जीव' प्रतीत नहीं होता था—

"सभे सांझीवाल सदाइण कोई न दीसै बाहरा जीव।"

सामाजिक क्षेत्र में सामाजिक-विषमता, वर्ण-व्यवस्था तक ही सीमित नहीं थी, वरन् आर्थिक स्तर पर भी शोषण की प्रक्रिया विद्यमान थी, जिससे दो वर्गों के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी। एक ओर वह शोषक और संभ्रान्त वर्ग था जो जीवन की सभी सुविधाओं का उपभोग कर रहा था; दूसरी ओर वह दीन-हीन कृषक और मज़दूर वर्ग था जो दूसरे वर्ग के शोषण का शिकार था। नानक ने शोषण की इस पद्धति के विरुद्ध आवाज़ उठाई और भाई भागो और लालो के प्रसंग में यह सिद्ध किया कि वह उच्च वर्ग के उन व्यक्तियों से कोई संबंध नहीं

---

5. "साईं के सब जीव है कीरी कुंजर दोए।।"

रखना चाहते जो दूसरे का शोषण करते हों। अमीर वर्ग की दी हुई रोटियों को जब वह निचोड़ते हैं तो उनमें से खून टपकता है और जब गरीब आदमी की श्रम अर्जित सूखी रोटियों को निचोड़ते हैं तो उनमें से दूध निकलता है। इसी को दृष्टांत रूप में लेकर वह कहते हैं कि "यदि एक वस्त्र को खून का छोटा-सा धब्बा भी लग जाता है तो वह अपवित्र हो जाता है। उस मनुष्य की क्या गति होगी जो हमेशा दूसरों का खून चूसते हैं।[6] इस नृशंसतापूर्ण शोषण के प्रति घृणा उत्पन्न करते हुए वह पुनः कहते हैं —

"हक पराइआ नानका उसु सुअर उसु गाई ।"

अर्थात् दूसरों के हक को छीनना हिन्दुओं के लिए गाय के मांस खाने के बराबर हैं और मुसलमानों के लिए सुअर का मांस खाने के बराबर।" कहना न होगा कि आर्थिक स्तर पर इस प्रकार का प्रगतिशील-चिंतन आधुनिक बोध का संकेत देता है। आज से पांच सौ वर्ष पूर्व गुरु नानक देव ने शोषण के विरुद्ध मजबूती से और निर्भयता से अपनी आवाज उठाई थी।

गुरु नानक के समय देश की धार्मिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। अनेक प्रकार की पाखंडपूर्ण साधनाएँ तथा आडम्बरयुक्त कर्म-काण्ड प्रचलित थे, जिससे धर्म का वास्तविक रूप लुप्त हो गया था। इसीलिए गुरुनानक ने कहा था कि धर्म पंख लगाकर उड़ गया है, झूठ की अमावस्या चारों ओर छाई हुई है जिससे सत्य का चन्द्रमा कहीं दिखाई नहीं पड़ता।

"कलि काती राजे कसाई, धरमु पंख कर उडरिआ
कूड़ु अमावस सचु चन्द्रमा दीसै नाहीं कहि चड़िआ ॥

उस युग में प्रचलित विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, मतों आदि की साधना-पद्धतियों के मिथ्यात्व और निरर्थकता पर आक्षेप करते हुए गुरु नानक ने उन्हें सत्य मार्ग दिखाने की चेष्टा की है। धार्मिक ग्रन्थ पढ़कर, संध्या करके, मूर्तियों की पूजा करके, समाधि लगाकर, गले में माला डालकर और मस्तिष्क पर तिलक लगाकर अपने को पंडित कहने वालों को समझाते हुए उन्होंने कहा था कि यह सब फोकट कर्म है।[7]

---

6. जे रतु लगै कपड़जामा होइ पलीतु ।
जो रतु पीवहि माणसा तिन किउ निरमलु चीतु ।

(राग माझ)

7. पड़ि पुस्तक संधिआ बादं ।
सिल पूजसि बगुल समाधं ।
मुखि झूठ बिभूखण सारं ।
गलि माला तिलक लिलाटं ।
दुई धोती बसत्र कपाटं ।
जे जाणसि ब्रह्म करमं ।
सभि फोकट निसचे करमं (आसा की वार)

गुरुनानक के अनुसार ब्रह्म को जानने वाला ही आदर्श ब्राह्मण है। वह स्वयं भी भव सागर से पार उतरता है और औरों को भी पार उतारता है।

"सो ब्राह्मणु जो ब्रह्मु बीचारै।
आपि तरै सगलै कुल तारै॥

(राग धनासरी म०1 : स 7)

हरिद्वार में गंगा जल से पितरों को अर्घ्य देने वाले व्यक्तियों की निंदा करते हुए उन्होंने कहा था कि यदि यहाँ से तुम्हारे पितरों को जल पहुँच सकता है तो मेरी खेती को क्यों नहीं। उन्होंने इस बात का भी खंडन किया कि ईश्वर केवल पूर्व की ओर मुख करके प्रार्थना करने से मिलता है, या पश्चिम की ओर बैठकर नमाज पढ़ने से। मक्का के काज़ियों और मुल्लाओं को वह यह दिखा देते हैं कि काबा उधर ही घूमता जाता है, जिधर वह पाँव करते हैं जिससे उन्हें यह सन्देश मिलता है कि खुदा केवल पश्चिम में ही नहीं है, वह तो सब दिशाओं में है। वह सब जगह, घट-घट में निवास करता है। वह उन्हें बताते हैं कि मेहर ही मस्जिद है, सिदक ही मुस्लिम है, शील ही रोजा है। अच्छा कर्म ही काबा है, सत्य पीर है और भला करना ही कर्म है। इन सब को ग्रहण करके ही एक अच्छा मुसलमान बना जा सकता है।"

मिहर मसीति सिदुक मुसला हकु हलालु कुराणु।
सरम सुनति सीलु रोजा होहु मुसलमानु। (माँझ की वार-10)

इस युग में नाथ-योगियों का बड़ा प्रभुत्व था, जो शरीर में भस्म लगाकर, कानों को कटवाकर, किथा धारण कर, हाथ में डंडा लेकर, अलख जगाते हुए लोगों को चमत्कृत कर रहे थे। नानक की नाथों और सिद्धों से अनेक बार गोष्ठियाँ हुई। उन्होंने उन्हें बताया था कि योग बाह्य चिह्नों को धारणा करने में नही है।[8] वरन् जो समान दृष्टि से सबको देखता है, आदर्श योगी वही है :

"एक दृष्टि करि समसरि जानै जोगी कहीए सोई (1)

(राग रूही)

इस सम्बन्ध में कबीर तथा पलटू का कथन है—

(1) पढ़ि पढ़ि पोथी जग मुआ, पंडित भया न कोई

(कबीर)

(2) पढ़ि पढ़ि कथा तम कीना। पंडित अपना रूप न चीन्हा।

(पलटू)

8. जोगु न खिंथा जोगु न डंडै जोगु न भसम चड़ाईऐ।
जोगु न मुंदी मूंडि मुडाइऐ जोगु न सिंगी वाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोगु जुगति इव पाईऐ।
गली जोगु न होइ।

योगी के वास्तविक रूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने समझाया था कि "सन्तोष की मुन्दा, शरम की झोली, ध्यान की विभूति, पवित्र शरीर की किंथा और युक्ति का डंडा धारण करना चाहिए[9] और मन को जीतने से ही जग को जीता जा सकता है।[10]

सूफियों का भी इस युग के धार्मिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था और सूफियों की गरीबी और पवित्रता के जीवन से नानक बहुत प्रभावित थे। लेकिन, उनकी वेशभूषा की वास्तविक सार्थकता वह इस रूप में मानते थे कि मन को परब्रह्म के चरणों में अनुरक्त कर देना ही लाल पोशाक है, सत्य और दान सफेद पोशाक है। हृदय की कालिमा को दूर करना नीली पोशाक है। ध्यान बड़ा जामा है। संतोष ही कमरबन्द और नाम धन और यौवन है।[11]

जगन्नाथ जी की आरती करने वाले लोगों से उन्होंने कहा था :

"गगन में थालु रवि चन्द्र दीपक बने
तारिका मंडल जनक मोती।
धूपु मलआनलो पवणु चवरे करे
सगल बनराई फलंत जोती॥
कैसे आरती होई भवखंडना तेरी आरती।
अनहदा सबद बाजंत भेरी। (धनासरी सबद 9 महला 1)

उन्होंने साधुओं के एक आश्रम में देखा था कि कोई समाधि लगाकर बैठा हुआ है, कोई एक टाँग पर खड़ा है और कोई वृक्षों पर लटका हुआ है, कोई जल में खड़ा है तो कोई पञ्चाग्नि सेवन कर रहा है। नानक ने इन सब प्रकार की साधना-पद्धतियों के स्थान पर संत-सेवा और नाम-स्मरण करने को ही सच्ची साधना माना है।

वस्तुतः, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में जो भी विसंगतियाँ अथवा विद्रूपताएँ थीं, उनका परिष्कार करने का उन्होंने भरसक प्रयास किया। लेकिन, यहाँ उल्लेखनीय है कि उनके प्रति उनमें असंतोष तो है आक्रोश नहीं, विरोध है,

---

9. मुंदा संतोख सरमपति झोली।
धिआन की करहि बिभूति।
खिंथा कालु कुआरी काइआ।
जुगति डंडा परतीति।

10. आई पंथी सगल जमाती मन जीते जगु जीते।

11. रता पैनणु मनु रता सुपेदी सतु दानु।
नीली सिआही कदा करणी पहिरणु पैर धिआनु।
कमरबंदु संतोख का धनु जोबनु तेरा नामु।

विद्रोह नहीं ; निषेध है, कटुता नहीं। वे प्रभात के सूर्य अथवा शीतल चन्द्रमा की कोमल किरणों से अन्धकार को हटाते प्रतीत होते हैं, दोपहरी के प्रचण्ड सूर्य की प्रखरता से नहीं।

अहंकार को त्यागने पर उन्होंने विशेष बल दिया है। गुरु नानक ने अहंकार के विविध रूपों का बड़ी विशदता से वर्णन किया है। उनके अनुसार किसी को अपनी शक्ति का अहंकार है, किसी को अपने धन का अहंकार है, तो किसी को अपने कुल का। किसी को अपनी सुन्दरता का अहंकार है तो किसी को अपने ज्ञान अथवा यश का। गुरु नानक ने इन सभी प्रकार के 'हऊमें' को त्यागने का आग्रह किया है और उसको त्यागने का सबसे बड़ा साधन है—सत्संगति, सेवा और नाम-स्मरण।"

हिन्दू धर्म में व्याप्त विसंगतियों का निराकरण एवं परिष्कार करके हिन्दू धर्म की जिस रूप में गुरु नानक ने रक्षा की, उससे कोई भी उऋण नहीं हो सकता। यह उनका हिन्दू धर्म पर एक महान उपकार था। हिन्दू धर्म के प्रति उनके इस उपकार को स्वीकार करते हुए भाई संतोख सिंह "गुरु नानक प्रकाश" में लिखते हैं—

(क) जे जग में तन हिन्दू अहै मभि पै उपकार विसाल कर्यो।
मानहि जे न अधी नहीं को सम जाइ निरैपद बीच पर्यो।
(ख) हिन्दू जनम हुई जौन उपकार न लखि भजै।
अधम क्रितघन कौन तिस ते परे बिचारिए।
(बा० रामायण भाषा सर्ग।)

हिन्दू होकर भी गुरु नानक का उपकार न मानने वाले से बड़ा कृतघ्न और कौन हो सकता है।

हिन्दू धर्म ही नहीं, गुरु नानक ने सिद्धों, नाथों, योगियों, सूफियों और मुसलमानों के धर्म में व्याप्त विसंगतियों का भी परिष्कार करने का प्रयास किया और उन्हें समझाया कि सच्चा धर्म क्या है। वस्तुतः, गुरु नानक न तो किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय के विरोधी थे और न कोई नया धर्म और सम्प्रदाय बनाना चाहते थे। वह तो हर व्यक्ति को उसके सही धर्म का स्वरूप बताना चाहते थे। यदि कोई हिन्दू है तो अच्छा हिन्दू कैसे बन सकता है। कोई मुसलमान है तो अच्छा मुसलमान कैसे बन सकता है। सूफी एक अच्छा सूफी कैसे हो सकता है और योगी एक अच्छा योगी कैसे बन सकता है। गुरु नानक ने धर्म का मानवीय मनोवृत्तियों और आचरण से संबंध स्थापित किया और धर्म को जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। मानवीय मनोवृत्तियों का परिष्कार उनका मुख्य लक्ष्य था। अपनी मानसिक कुवृत्तियों के कारण ही मनुष्य अधर्मी, पापी, क्रूर, अत्याचारी और अन्यायी बनता है। इसलिए इन कुवृत्तियों की निन्दा करते हुए नानक

कहते हैं—

"लबु कुत्ता कुड़ चूहड़ा ठगि खाधा मुरदार।
पर निंदा परमल मुख सुधी अगनि क्रोध चंडाल॥

लोभ कुत्ते के समान है, असत्य चूहे के समान है, ठगि करना मुर्दा खाने के समान है, परनिन्दा दूसरों का मल खाने के समान है, और क्रोध चांडाल के समान है। वस्तुत, गुरु नानक मनुष्य के भीतर की आत्मा को जगाकर उसके निजी सत्य का उद्घाटन करना चाहते थे। उसे अपनेपन का सही साक्षात्कार करवाकर धर्म के आदर्श मार्ग पर चलाना चाहते थे। उनके लिए धर्म का अर्थ है आत्म-बोध और आत्म-परिज्ञान। अनासक्ति, सन्तोष, सत्य, करुणा, दया, सेवा, त्याग और सदाचार उनके लिए धर्म के अभिन्न अंग थे, क्योंकि इन्हीं को धारण करने से नर से नारायण बना जा सकता है। उनका कहना था कि मानव का लक्ष्य मानव-सेवा, मानव-प्रेम और मानव-कल्याण होना चाहिए। यह शुद्ध वैयक्तिक आचरण तथा सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में परिष्कार से ही संभव हो सकता है। इसीलिए उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि अच्छा नौकर अथवा किसान या व्यापारी कैसे बना जा सकता है। ईश्वर में विश्वास रखकर निष्ठा से अपना काम करना चाहिए। शरीर रूपी खेत में, मस्तिष्क रूपी किसान को, नाम का बीज डालकर शुभ कर्मों की खेती करनी चाहिए और सत्य के घोड़े पर बैठकर हरि कथा-श्रवण का व्यापार करना चाहिए।

वस्तुतः, गुरु नानक धर्म के व्यापक पक्ष के संस्थापक थे। वह मानव-धर्म के पोषक थे। उनके लिए जीवन के उच्च नैतिक मूल्य ही धर्म हैं। उन्होंने मात्र धार्मिक-साधना के रूप में धर्म को नहीं देखा; वरन् सारे सामाजिक संदर्भ में धर्म का प्रसार किया। आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में ग्रहण करना और खण्डन की अपेक्षा सही मूल्य की पहचान पर ध्यान देना ही धर्म का वास्तविक आदर्श है। धर्म को जीवन के हर क्षेत्र, हर पहलू और हर आचरण में उन्होंने देखा।

आज युग बदल गया है, लेकिन समस्याएँ आज भी वही हैं जो पहले थीं। केवल उनका रूप बदल गया है। मनोवृत्ति नहीं बदली। समस्याएँ और भी उग्र हो गई हैं। स्वार्थ, हिंसा, लोभ, ईर्ष्या और अहंकार और अधिक बढ़ गये हैं और उनके स्वरूप में भी विविधता आ गई है। अतः, गुरु नानक के आदर्श आज पहले से भी अधिक सार्थक और उपयोगी हैं। अपने कल्याण के लिए, सामाजिक कल्याण के लिए और मानव के कल्याण के लिए। इसे ही ध्यान में रखते हुए गुरु नानक की भाई संतोखसिंह ने इन शब्दों में वन्दना की है :—

तारे अनेक विवेक जहाज दे खोलि दिये उर मोह कि तारे।
तारे बिसाल पंखडि प्रचंडि जे, आगे अरे तिन मान उतारे।
तारे बिलोचन ते दरसे उबरे सु असंख जथा नभ तारे।
तारे तरे अरु मारे मरे गुरु नानक कीनि भए तम तारे।

सरबोत्तम जन सरबदा सरबोपरि जसु चार।
जग गुर श्री नानक नमो धरनी पर सिर धारि।
पार ब्रह्म करता पुरख श्री नानक अवतार।
दामन ब्रिद अनंद दे तिन पद बंदन धारि।

(नानक प्रकाश)

हिन्दी साहित्य में गुरु तेगबहादुर का स्थान

भारतीय साहित्य की मूल चेतना आरम्भ से ही आध्यात्मिक रही है और उसमें उच्च मानव-मूल्यों को प्रश्रय दिया जाता रहा है। किन्तु, हिन्दी साहित्य का आरम्भ जिस समय हुआ, उस समय देश में राजनीतिक सत्ता जर्जरित हो रही थी, धर्म का वास्तविक रूप लुप्त हो रहा था और सामाजिक-व्यवस्था विशृंखलित हो रही थी। एक विशेष वर्ग की सत्ता-लोलुपता एवं निरंकुशता के कारण व्यक्ति-स्वतन्त्रता को पददलित किया जा रहा था।

हिन्दी साहित्य के निर्माण में शंकर के अद्वैत-दर्शन तथा उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रवर्तित अन्य आध्यात्मिक चिंतनधाराओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य इसी चेतना से प्रेरित एवं आलोकित है। इस दर्शन के आलोक में भारतीय-मानस स्वातंत्र्य-चेतना की एक नवीन ज्योति-किरण से उद्‌भासित हो उठा। इसीलिए राजनीतिक स्तर पर पराजित एवं पराभूत होने पर भी सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय मनीषियों ने अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनाये रखी। व्यक्ति-स्वतन्त्रता की चेतना को भी इस चिंतन ने दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया। यही कारण है कि हिन्दी का वह मध्ययुगीन साहित्य जो भक्ति आंदोलन से प्रभावित हो कर लिखा गया, उत्साह एवं उल्लास का काव्य है। उसमें कहीं भी राजनीतिक पराजय से उत्पन्न निराशा के दर्शन नहीं होते। राम-भक्ति साहित्य आत्म-गौरव अथवा स्वाभिमान की रक्षार्थ प्रदर्शित पौरुष का काव्य है, तो कृष्ण-भक्ति काव्य में अलौकिक आनन्द से आत्मविभोर कर देने की अद्‌भुत क्षमता है। इस साहित्य में व्याप्त आध्यात्मिक चेतना ने जन-मानस में मानवीय स्वतन्त्रता की एक विलक्षण चिंगारी पैदा कर दी थी। उसके अन्तःकरण में यह बात बैठ गई थी कि जब उसकी आत्मा उसी सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान परब्रह्म का ही अभिन्न रूप अथवा अंश है तो कौन उसका पराभव कर सकता है, कौन उसे पददलित कर सकता है? जिसकी आत्मा निर्भय, निर्विकार, शुद्ध-प्रबुद्ध, अजर और अमर है; जो परम पावन अनंत प्रभु के दिव्य प्रकाश में सुस्नात हो चुकी है, वह मोह, मद, अहंकार आदि से दूषित अन्तःकरण वाले एक अधिनायक की निकृष्ट

भावनाओं से भला कब दबने वाली है। भक्ति-साहित्य में भौतिक वैभव एवं विषय-वासनाओं की नश्वरता एवं निस्सारता का प्रतिपादन करके लौकिक ऐषणाओं के प्रति विरक्ति तथा हरि-भक्ति एवं विवेक के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। मानवीय असमानता एवं विषमता का विरोध करके मानवीय समानता एवं मानव मंगलकारी भावना को प्रश्रय दिया गया है। निःसन्देह, हिन्दी का भक्ति-साहित्य अध्यात्म-चेतना सम्पन्न, उदात्त, लोक मंगल-कारी एवं मानवतावादी भावनाओं से अनुप्राणित साहित्य है।

इस युग का अधिकांश साहित्य धर्माश्रय में अथवा धर्म भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है। इस युग के कवि का मस्तक किसी लौकिक-ऐषणा अथवा ऐहिक सुख की इच्छा से किसी राजा-राव अथवा सामन्त के सम्मुख नहीं झुका; वरन् उनके इष्टदेव ही उसके आश्रयदाता थे और वे ही उसके संरक्षक थे। वे ही उसकी प्रेरणा थे और वे ही उसके साध्य थे। उनके इष्टदेव की रीति भी निराली थी। कोई भी सामान्य नरेश उसकी समानता नहीं कर सकता था। गोस्वामी तुलसीदास का कथन है, कि 'उनके स्वामी महाराज रामचन्द्र जी की रीति अद्भुत है। वे जिस याचक पर दया करते हैं, उसको कुछ देने के बजाय, सम्पन्न करने के बजाय, उसे दोष, दुख और दारिद्रय से दरिद्र कर देते हैं। रामचन्द्र जी का नाम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलदाता कल्पवृक्ष की भाँति है। इस प्रकार के फलदार वृक्ष को छोड़कर बबूल और रेंड को कौन रोपेगा ?—राजाओं आदि से माँगना ऐसा ही है। उनसे कौन माँगे और उनसे माँगने के लिए देश-विदेश कौन घूमे ? यदि वे देंगे भी तो दमड़ी की कौड़ी ही देंगे। इसलिये, कृपा सागर लोक-पालों के स्वामी सीतानाथ रामचन्द्र जी को छोड़कर किसी से याचना क्यों की जाये ?[1]

लेकिन, एक युग वह भी आया जब हिन्दी के कवियों ने 'मन-वांछित फल-दाता कल्पवृक्ष' को छोड़कर 'बबूल और रेंड' के वृक्षों का आश्रय ग्रहण किया। हिन्दी का उत्तरमध्यकालीन अधिकांश साहित्य ऐसे ही नरेशों के आश्रय में लिखा

---

1. रीति महाराज की नेवाजिये जो मांगनो सो
        दोष-दुख-दारिद-दरिद्र कै कै छाड़िये।
   नाम जाको कामतरु देत फल चारि, ताहि।
        तुलसी बिहाइ के बबूर रेंड गोड़िये॥
   जाचै को नरेस, देस-देस को कलेसु करै,
        देहै तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंड़िये।
   कृपापाथनाथ लोकनाथ नाथ सीतानाथ,
        तजि रघुनाथ-हाथ और काहि ओड़िये ?
                (कवितावली-उत्तर कांड-25)

गया। इस युग में आकर भक्ति-कालीन सांस्कृतिक-चेतना शिथिल पड़ने लगी थी। धर्म-भावना में वह उदात्तता, स्वच्छता, पवित्रता एवं ओजस्विता नहीं रह गई थी, और सामाजिक जीवन में भी विकृतियाँ बढ़ने लगी थी। धर्म के नाम पर रसिकता और विलासिता पनप रही थी। मुगल शासन, जो पूर्वमध्यकाल में अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था, अब उसका भी ह्रास होने लगा था। परवर्ती मुगल-शासकों में धार्मिक उदारता के स्थान पर संकीर्णता एवं कट्टरता बढ़ने लगी थी। उनके दरबार और हरम वैभव एवं विलास के केन्द्र बन गये थे और पौरुष के स्थान पर उनमें स्त्रैण-भावना बढ़ती जा रही थी। यही स्थिति मुगलों के आश्रित हिन्दू राजाओं-सामन्तों की थी। वैभव एवं ऐश्वर्य के प्रदर्शन में तथा भोग-विलास में वे भी मुगल-शासकों से होड़ लगाने लगे थे। उनके रणिवास भी अनेक वर्णों एवं प्रदेशों की सुन्दरियों—रखैलों, रक्षिताओं, दासियों आदि से भरे रहते थे। वे सुरा-सुन्दरी में सराबोर डूबे हुए थे। धर्म एवं महनीय मानव-मूल्यों का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं रह गया था। इन राज्याश्रयों में विलासिता की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही थी कि देवालय भी उसके कुप्रभाव से नहीं बच पाये थे। मंदिर वैभव और ऐश्वर्य के केन्द्र बन गये थे और नर्तकियों एवं वेश्याओं की विभिन्न कामोत्तेजक भाव-भंगिमाओं से युक्त नृत्यों की झनकार में भक्ति की सात्विकता लुप्त हो गई थी।" "मठ और मंदिर देव-दासियों और मुरलियों के चरणों की छनछन से गूंजते रहते थे।"[2]

इस युग का कवि धर्माश्रय को छोड़कर इन्हीं राज्याश्रयों में पहुँच गया था। अब उसकी काव्य-रचना की प्रेरणा सांस्कृतिक चेतना, धर्म-भावना अथवा मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा न होकर उन आश्रयदाताओं की अभिरुचि थी, जिनका जीवन भोग-विलास में डूबा हुआ था और कविता जिनके लिए मनोविनोद एवं कामोत्तेजना का एक साधन मात्र थी। ऐसी स्थिति में महनीय सांस्कृतिक तत्वों एवं जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति की उनसे अपेक्षा करना असंगत था। वस्तुतः, इस युग की अधिकांश हिन्दी कविता राजाओं-रईसों के आश्रय में ही पली और उसके प्रभाव स्वरूप उसमें शृंगारिकता, अलंकरण एवं शास्त्रीयता की प्रवृत्तियों का प्रमुख रहा। मानव-मूल्यों एवं सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि से यह हिन्दी कविता का ह्रास-काल था। यह कथन उस कविता पर विशेष रूप से चरितार्थ होता है जिसे 'रीतिकाव्य' की संज्ञा दी गई है। 'रीतिकाव्य' पर कार्य करने वाले अधिकतर विद्वानों ने इस युग की कविता में पायी जाने वाली भक्ति की प्रवृत्ति को भी "राधिका कन्हाई सुमिरन के बहाने" के रूप में स्वीकार किया है। इन कवियों की भक्ति को या तो अतिशृंगारिकता के आरोप से बचने के लिए एक कवच की संज्ञा

---

2. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका पृ० 21

दी गई है, अथवा भक्ति को भी उनकी शृंगारिकता का एक अंग स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का यह मत उल्लेखनीय है कि, "इन रीतिकवियों के विलास जर्जर मन में इतना नैतिक बल ही नहीं था कि भक्ति रस में आस्था प्रकट करते।"[3] इन कवियों की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में डॉ० बच्चनसिंह का कथन है कि, "इनकी रचनाओं में भक्त-कवियों की-सी ताजगी और उल्लास के स्थान पर एक प्रकार की क्लांति और अवसाद है, भगवान के प्रति रागात्मक उन्मेष की जगह हत् तेज मन को दीनता और आत्म-भर्त्सना है।"[4] आलोचकों ने इनके काव्य में गौण रूप से प्राप्त भक्ति-भावना को प्रगाढ़ता, स्वच्छता, आत्म-संयम, अनासक्ति, विवेक, उल्लास, आस्था, आत्म-समर्पण आदि से रिक्त पाया है और उसमें रसिकता एवं विलासिता की प्रवृत्ति को ही अधिक पाया है। गुरु तेगबहादुर की कविता इसका अपवाद है; क्योंकि उसमें भक्ति-काव्य के वे सभी गुण विद्यमान हैं, जिनके कारण भक्तिकालीन कविता गौरवान्वित हुई है।

इस युग में रचित हिन्दी साहित्य का सौन्दर्यवादी, कलावादी, मनोवैज्ञानिक अथवा यथार्थवादी दृष्टि से मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन करके कितनी ही प्रशंसा क्यों न कर दी जाय, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संस्कृति के उन मूलभूत तत्त्वों एवं जीवन-मूल्यों का उसमें ह्रास हो रहा था, जिनको भारतीय साहित्य सदा ही उद्घोषित करता रहा है। इस युग के साहित्य में वह स्वातन्त्र्य भावना भी मंद पड़ गई थी, जिसे शंकर के अद्वैत दर्शन ने हमारी चेतना में प्रतिष्ठित किया था और भक्तिकालीन सांस्कृतिक आन्दोलन ने दृढ़ किया था। इस युग में रचित अधिकतर वीरकाव्यों में भी, जो प्राय: किसी-न-किसी आश्रयदाता की झूठी-सच्ची अतिशयोक्तिपूर्ण/अत्युक्तिपूर्ण विरुदावली या प्रशस्ति मात्र के रूप में लिखे गए थे, उस उदात्त वीरभावना का प्राय: अभाव है जो 'वीर-काव्य' का वास्तविक आदर्श है। इन वीरकाव्यों के नायकों का शौर्य प्रदर्शन भी या तो किसी सुन्दर नारी के अपहरण-हेतु हुआ है, या पारस्परिक वैमनस्य अथवा अहम्मन्यता के लिए। उनमें कर्म-सौन्दर्य से युक्त उत्साह, आत्म-गौरव, पौरुष, पराक्रम, शौर्य, साहस एवं निर्भयता के उस रूप का सर्वथा अभाव है, जिसे आदिकवि वाल्मीकि ने सत्य पराक्रम की संज्ञा दी है और महाभारतकार ने 'धर्मसंस्थापनार्थाय विनाशाय च दुष्कृताम्' (4/8) के सूत्र में प्रस्तुत किया है। निश्चय ही, इस काल का कवि क्षुद्र स्वार्थ के लिए अपनी काव्य-प्रतिभा का विक्रय करता दिखाई पड़ता है। उसमें ऐश्वर्य और वैभव के प्रति अनासक्ति के स्थान पर लौकिक स्वार्थों के प्रति आसक्ति, परमार्थ के स्थान पर स्वार्थ, त्याग के स्थान पर

---

3. वही पृ० 183
4. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, पृ० 431।

लोभ, विवेक के स्थान पर विषयों के प्रति मोह की प्रवृत्ति अधिक थी। यह राजदरबार की कविता है, जबकि कंचन और कामिनी के मोह ने 'काव्य-पुरुष' को 'कविता-कामिनी' बना दिया था। काव्य रचना का प्रयोजन पूर्वमध्यकाल में यदि 'धर्म, और 'मोक्ष' था, तो इस काल की कविता का प्रयोजन 'अर्थ' और 'काम' था। किन्तु, इसके विपरीत गुरु तेगबहादुर की कविता 'गुरु-दरबार' की परम्परा की कविता है। वैराग्य, भक्ति एवं विवेक की कविता है और उसका प्रयोजन 'धर्म' एवं 'मोक्ष' ही है। साथ ही उसमें लोक-मंगल की भावना भी निहित है।

गुरु तेगबहादुर का जन्म संवत 1678 ई० में हुआ था और मृत्यु संवत 1732 में हुई। अतः, कालक्रमानुसार गुरु तेगबहादुर उसी काल के अन्तर्गत आते हैं, जिसे हिन्दी के इतिहासकारों ने 'रीतिकाल,' 'शृंगारकाल,' 'अलंकारकाल' अथवा 'कला काल' का नाम दिया है। चिंतामणि (जन्म-संवत 1683), बेनी (रचना-काल सं० 1700), मतिराम (जन्म सं० 1674), बनवारी (जन्म सं० 1690), बिहारी (जन्म सं० 1660) आदि रीतिकाल के कुछ ऐसे कवि हैं, जो काव्य-रचना की दृष्टि से गुरु तेग बहादुर के समकालीन थे, किन्तु चिंतनधारा, जीवन-दृष्टि, काव्य-प्रवृत्ति, काव्य-पद्धति एवं काव्य-शिल्प आदि की दृष्टि से गुरु तेगबहादुर इन सब से पृथक श्रेणी के कवि थे। इन कवियों की रचनाओं में शृंगार, रीति एवं अलंकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमुख हैं, जबकि गुरु तेगबहादुर की रचना इन तीनों प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त है। इन सभी कवियों की जीवन-दृष्टि भौतिक-सुखों एवं ऐषणाओं तक सीमित थी, जबकि गुरु तेगबहादुर ने भौतिक पदार्थों की नश्वरता एवं सांसारिक ऐषणाओं के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करके उनके परित्याग पर बल दिया है। इस युग के प्रतिनिधि एवं प्रतिष्ठित कवि बिहारी की निम्नलिखित पंक्तियों में इस युग के रीति-कवि के जीवन-दर्शन की झलक देखी जा सकती है :

तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥

सम्भवतः, 'रतिरंग' में डूबना ही इस युग के कवि के जीवन की सार्थकता थी। इसके विपरीत गुरु तेगबहादुर ने जीव को सांसारिक विषय-वासनाओं से विरक्त होकर हरि-भक्ति में अनुरक्त होने की प्रेरणा दी है। उनकी जीवन-दृष्टि निवृत्ति-मूलक एवं आध्यात्मिक थी और उनकी रचना में विरक्ति, विवेक एवं भक्ति की प्रवृत्तियाँ ही प्रमुख हैं। रीतिकवियों ने अलंकृत शैली में काव्य-रचना की है जब कि इन्होंने सहज, सरस एवं अनलंकृत शैली में काव्य-रचना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काल-क्रमानुसार रीतिकाल की सीमाओं के अन्तर्गत आने पर भी गुरु तेगबहादुर उस काल के प्रभावों से सर्वथा मुक्त थे। चिंतनधारा, जीवन-दृष्टि, काव्य-प्रवृत्ति एवं काव्य-पद्धति आदि की दृष्टि से वे पूर्णतः 'संत काव्य-परम्परा' के

निकट पड़ते हैं।

रीतिकाल में भी संत-साहित्य लिखा अवश्य जा रहा था, किन्तु इस युग में रचित संत-साहित्य में पूर्ववर्ती संतकवियों की सी ताजगी, सात्विकता, जीवन्तता एवं प्रखरता नहीं थी। विद्वानों की धारणा है कि इस काल में विविध संत-मतों, सम्प्रदायों एवं पंथों में गुरु-गद्दियों के माध्यम से 'गुरुडम' फैल रहा था। परिष्कृत एवं सरल साधना-मार्ग के स्थान पर उनमें मिथ्याचारों एवं पाखंडों की वृद्धि हो रही थी। न तो उनमें अनुभूति की तीव्रता थी, न चिन्तन की मौलिकता। इसलिए उनकी वाणी में भी पूर्ववर्ती कवियों का पिष्टपेषण अथवा अनुकरण मात्र हुआ है। लेकिन, गुरु तेगबहादुर की वाणी इसका अपवाद है। चिन्तनधारा एवं धार्मिक-विश्वासों की दृष्टि से पूर्ववर्ती सिक्ख-गुरुओं के अनुरूप होते हुए भी उसमें अनुभव की प्रामाणिकता तथा अनुभूति की तीव्रता के कारण ताजगी और मार्मिकता है। उसमें सम्प्रेषण, प्रभावित तथा प्रेरित करने की भी अद्भुत क्षमता है।

गुरु तेगबहादुर बचपन से ही संत-प्रकृति के व्यक्ति थे। वे एक निर्लिप्त, अनासक्त योगी का सा जीवन व्यतीत करते रहे थे। भौतिक पदार्थों के प्रति उनके मन में कोई आसक्ति नहीं थी। वे तो एक विरक्त साधु की भांति निरन्तर हरि-भक्ति में तल्लीन रहते थे। गुरुता के प्रति भी वे सर्वथा उदासीन थे और बकाला ग्राम में लगभग 20 वर्षों तक समाधि लीन रहकर ईश-चिन्तन करते रहे। समाधि की अवस्था में वे न किसी की कुछ सुनते थे, न किसी से कुछ बोलते थे। भाई सुक्खासिंह ने उनकी इस समाधिस्थ अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है —

> 'लगी समाध इह विधि प्रकार।
> बोले न वचन को कहे हजार। (गुरु विलास : 1:113)'

महाकवि भाई संतोखसिंह ने भी उनके चरित्र का विश्लेषण करते हुए उनके संत-स्वभाव का निरूपण इस प्रकार किया है —

> नहि मन कुछ श्री तेगबहादुर।
> इक रस भिनी अनादर सादर (गुरु प्रताप सूरज, राशि 8:55:45)

निश्चय ही, आदर-अनादर, निन्दा-स्तुति, घृणा-शोक, सुख-दुख में समभाव रखते हुए, वे सत्यखंड और ज्ञानखंड की ओर प्रवृत्त हो गये थे। गुरु तेगबहादुर इसी 'एकरसवृत्ति' के धनी सच्चे संत थे। अपने इसी अनुभव के आधार पर उन्होंने अपनी वाणी में भी उसी व्यक्ति को वास्तव में सुखी कहा है जो दुख, भय एवं स्नेह से विचलित नहीं होता, सुख-दुख, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान, हर्ष-शोक में समदृष्टि रखता है; स्वर्ग-नरक, अमृत और विष को समान समझता है। कंचन को मिट्टी के सदृश मानता है; काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद उसके चित्त का स्पर्श नहीं करते, मन में किसी प्रकार की आशा, अभिलाषा-लालसा नहीं रहती; वह

जगत् से अनासक्त रहता है और नित्य हरि नाम का स्मरण करता रहता है।[5] ऐसे ही व्यक्ति के चित्त में ब्रह्म का निवास होता है। गुरु तेगबहादुर ने ऐसे व्यक्ति को ही 'गुरुमुख' एवं 'मुक्तजीव'[6] कहा है। इस भौतिक जगत के सुन्दर-पदार्थ, सुख-सुविधाएँ, वैभव एवं ऐश्वर्य के आकर्षण ही मानवीय-चेतना को मोह-माया की ओर प्रवृत्त करके व्यक्तित्वाभिमान से युक्त करते हैं और उसे हरि-भक्ति से विमुख कर देते हैं। गुरु तेगबहादुर ने एक निष्ठावान संत की भांति इस मायामय जगत् की नश्वरता, अस्थिरता एवं मिथ्यात्व का निरूपण किया है।[7] उन्होंने माता-पिता, भाई, पत्नी, पुत्र, धन-सम्पत्ति, वैभव एवं प्रभुता, शरीर की सुन्दरता एवं शक्ति आदि की क्षणभंगुरता एवं मिथ्यात्व का निरूपण करके उनके गर्व को मृषा अथवा भ्रमपूर्ण कहा है।[8] ये सभी मनुष्य को अहंकार-ग्रस्त करते हैं। गुरु तेगबहादुर ने एक परम संत की भांति अहंकार के विविध उपकरणों—शरीर, यौवन, सुन्दर पत्नी, कुल-परिवार, धन-सम्पत्ति, वैभव, राज्य-सत्ता एवं शक्ति आदि की नश्वरता एवं अवास्तविकता पर प्रकाश डालकर उनके प्रति अनासक्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया है। आध्यात्मिक साधना में अहंकार ही जीव का सबसे बड़ा शत्रु है, अतः उन्होंने अहंकार को त्याग कर सत्संगति करने का उपदेश दिया है, जिससे क्षण-भर में मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है।[9] भक्तिकालीन संत कवियों की भांति गुरु तेगबहादुर ने इस तथ्य का निरूपण विशदता से किया है कि जीव को किस-किस से निवृत्ति होनी चाहिए और किस-किस में प्रवृत्ति। प्रभु-महिमा, नाम-

---

5. जो नरु दुख मै दुखु नहीं मानै।
   सुख सनेहु अरु भै नहीं जा कै कंचन माटी मानै। 1। रहाउ॥
   नह निंदिआ नह उसतति जा कै लोभु मोहु अभिमाना॥
   हरख सोग ते रहै निआरउ नाहि मान अपमाना।
   आसा मनसा सगल तिआगै जग ते रहै निरासा।
   कामु क्रोधु जिह परसै नाहनि तिह घटि ब्रह्म निवासा। आदिग्रन्थ, सोरठि,म० 9। 3।11)

   सुरग नरक अम्रित बिखु ए सभ तिउ कंचन अरु पैसा।
   उसतति निंदा ए सम जा कै लोभु मोहु पुनि तैसा। वही, गउडी, म० 9। 3। 8।

   कहु नानक सोई नरु सुखीआ राम नाम गुन गावै। (वही, रागु गउडी, म० 9। 3। 8)।
6. वही, राग बिलावल म० 9। 2। 2।
7. विस्तार के लिए दृष्टव्य – लेखक का लेख—"गुरु तेगबहादुर की
   वैराग्य भावना"-पृष्ठ 213-223।
   (गुरु तेगबहादुर : जीवन, दर्शन और विवेचन-सं० डा० प्रेमप्रकाश सिंह)
8. दृष्टव्य, वही, पृष्ठ 212-223
9. तजि अभिमानु सरनि सन्तनि गहु मुकति होहि छिन माही। (आदिग्रंथ, सारंग, म० 9। 2। 2)।

महिमा एवं सत्संगति आदि की महिमा का उन्होंने निष्ठापूर्वक वर्णन किया है और प्रभु की भक्ति में प्रवृत्ति का पुनः पुनः आग्रह किया है।[10] उनका कहना है कि काल-व्याल निरन्तर सिर पर मँडरा रहा है, इसलिए हरि-भक्ति में मन लगाओ, अन्यथा फिर अवसर हाथ नहीं आएगा—

'रे मन राम, सिउ करि प्रीति ॥
स्रवन गोबिन्द गुनु सुनउ अरु गाउ रसना गीति ॥1॥ रहाउ ॥
करि साध संगति सिमरु माधो होहि पतित पुनीत ॥
कालु बिआल जिउ परिओ डोले मुखु पसारे मीत ॥1॥
आजु कालि फुनि तोहि ग्रसि है, समझि राखहु चीति ।
कहै नानकु रामु भजि ले जात अउसरु बीति ॥2॥

(सोरठि, महला 9)

वस्तुतः, गुरु तेगबहादुर ने गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक विचारधारा एवं धार्मिक साधना-पद्धति का निष्ठा एवं दृढ़ता से प्रतिपालन किया है और अपनी वाणी में उसकी मार्मिकता से अभिव्यक्ति की है। भक्तिकाल में संतों एवं भक्तों ने जिस सांस्कृतिक-चेतना को उद्दीप्त किया था और जिन मानव-मूल्यों का प्रतिपादन किया था, गुरु तेगबहादुर भी उसी चेतना के पक्षधर थे। निश्चय ही, उन्होंने उस सांस्कृतिक आन्दोलन को आगे बढ़ाया जिसका प्रवर्त्तन कबीर, गुरुनानक, गोस्वामी तुलसीदास एवं सूरदास आदि ने किया था, किन्तु उत्तरमध्यकाल में जो तत्कालीन परिवेश के कारण मंद पड़ गया था। हिन्दी साहित्य को गुरु तेगबहादुर की यह एक अमूल्य देन है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमर आध्यात्मिक चेतना को प्रवाहमान रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

'गुरु तेगबहादुर का सम्बन्ध सिक्खों की उस गुरु-परम्परा से है, जिन्होंने अपने युग की नृशंसतापूर्ण एवं निरंकुश यवन-सत्ता की धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता एवं अत्याचारों का साहस के साथ सामना करते हुए भारतीय अध्यात्म एवं धर्म-साधना की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखा था। दमन और आतंक से अभय रहकर भारतीय स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय-गौरव को उद्दीप्त करने में अदम्य साहस एवं दृढ़ता का परिचय दिया था। गुरु तेगबहादुर उस गुरु-परम्परा में नवें गुरु हैं, जिसका प्रवर्त्तन गुरु नानक ने किया था। गुरु नानक ने एक क्रांतिदर्शी लोकनायक की तरह धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में युगान्तर उपस्थित किया था। धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार, अज्ञान, अंधविश्वास, अनीति, विषमता एवं दुराचरण का विरोध करके स्वस्थ धर्म-पालन,

10. गुरु तेग बहादुर की भक्ति-भावना के लिए द्रष्टव्य : (गुरु तेग बहादुर : चिंतन और कला)—लेखक ।

शुद्ध आचरण, मानवीय समानता तथा एकता पर बल दिया था। राजनैतिक अत्याचारों एवं धार्मिक शोषण का कड़ा विरोध किया था और मानवीय-स्वतंत्रता, निर्भयता, स्वाभिमान की पक्षधरता की थी। इसीलिए, उनके अवतरण का अभिनन्दन करते हुए भाई गुरुदास से कहा था—

सतिगुरु नानक प्रगटिआ मिटि धुंध जग चानन होइआ ॥

(कवित्त सवैये-486-88)।

नानक के उत्तराधिकारी सभी गुरुओं ने गुरु नानक की सांस्कृतिक सामाजिक एवं धार्मिक चेतना को अग्रसर किया और व्यक्ति-मानवीय स्वतन्त्रता की चेतना को दृढ़ करते हुए साहस एवं निर्भयता का परिचय दिया। उसके लिए उन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े, और कई बलिदान भी देने पड़े। गुरु तेगबहादुर के पिता गुरु हरगोविन्द को 'पीरी' के साथ 'मीरी' की तलवार धारण करके यवनों के साथ कई बार संघर्ष करना पड़ा था। गुरु अर्जुनदेव को भी स्वाभिमान एवं स्वतन्त्रता की रक्षार्थ अपना बलिदान देना पड़ा था। इन संघर्षों एवं बलिदानों ने सिक्ख परम्परा में एक नवीन चेतना का संचार किया था। दमन, आतंक एवं अत्याचार से संत्रस्त न होकर उन्होंने निर्भयता, साहस एवं शौर्य का प्रदर्शन किया था। गुरु तेगबहादुर ने भी इसी पथ का अनुगमन किया था और उन्होंने भी अपना बलिदान देकर यह दिखा दिया था कि मानवीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वे सर्वस्व न्यौछावर कर सकते हैं। 'अत्याचार और अन्याय के सम्मुख उनकी आत्मा तनिक भी नहीं झुकी थी। उनका धड़ शरीर से अलग कर दिया गया, किन्तु उन्होंने आह तक नहीं की।'

'यवनों के आतंक से हिन्दू जनता पीड़ित थी। सारी पृथ्वी हाहाकार कर उठी थी। कोई भी ऐसा वीर-क्षत्रिय दिखाई नहीं पड़ता था, जो अपना शीश देकर धरा को भार मुक्त कर सके'।[11] यवनों के अत्याचारों के सामने कोई भी हिन्दू कुछ बोल नहीं सकता था, उन्हें केवल प्रभु का ही भरोसा था।[12] गुरु तेगबहादुर ने भी अपनी वाणी में यवनों के इस आतंक एवं हिन्दू जनता की असहाय अवस्था की ओर संकेत किया है। यथा—

बलु छुटकिओ बंधन परे कछु न होत उपाई।
कहु नानक अब ओट हरि भजि जिउ होहु सहाई।53॥

---

11. तुरकन भार दुखत भई लोइ। छत्री जगत न दिखीअत कोई।
जो निज अपनो सीस चढ़ावे। निधरत धरन भार ठहरावें।

(गुरु विलास 5।15-16)

12. हिंदू कोइ न कहि सके तुरकन तेज बिसाल।
परमेसुर हा पति राखिइ, सिमरहु दीन दयाल। (नानक प्रकाश पू० : 31 / 4)

लेकिन, 'तेग' के बहादुर श्री गुरु जी यवनों के अमानुषिक अत्याचारों एवं आतंक से न तनिक भी झुके, न भयभीत हुए। वरन्, उन्होंने अपने शरीर को तृण समान न्यौछावर करके हिन्दू धर्म की रक्षा की।[13] अपना शीश देकर 'धर्म एवं मनुष्य के मानवीय अधिकारों की रक्षा की। उन्होंने अपना बलिदान दे दिया, लेकिन अपना प्रण नहीं छोड़ा'।[14] इसलिए उन्हें 'हिन्द की चादर' कहा गया था।[15] निःसंदेह, उन्होंने अनुपम निर्भयता तथा अतुलनीय साहस का परिचय दिया था और हमारे सम्मुख यह आदर्श प्रस्तुत किया था कि धार्मिक स्वतन्त्रता, सत्य एवं मानवीय-मूल अधिकारों की रक्षा हेतु प्रत्येक व्यक्ति को इसी प्रकार की 'निर्भीकता' का प्रदर्शन करना चाहिए। गुरु तेगबहादुर ने इसी आदर्श का पालन अपने जीवन में किया और इसी तथ्य का निरूपण अपनी वाणी में किया। उन्होंने सच्चा 'ब्रह्मज्ञानी' उसी को कहा है, जो न किसी से भयभीत होता है, न किसी को भयभीत करता है—

भय काहू कउ देति नहि नहि भय मानत आनि।
कहु नानक सुनि रे मना ग्यानी ताहि बखानि।

'अभय' अथवा निर्भीकता में गुरु तेगबहादुर की यह आस्था उनकी आध्यात्मिकता की देन है। सच्चा ब्रह्मज्ञानी ही मोह-माया से मुक्त होकर भय मुक्त होता है और दूसरों को भी वह भय नहीं दिखाता। 'आध्यात्मिक प्रकाश ही मानवीय व्यक्तित्व में यह चेतना पैदा करता है और उसे उदारता, सहनशीलता,' वीरता आदि गुणों से अलंकृत कर देता है। सिक्खमत में अकाल पुरुष (परब्रह्म) के लिए भी 'निरभउ' एवं 'निरवैर' शब्द का प्रयोग हुआ है। गुरुवाणी में अकाल पुरुष के इस रूप का चिन्तन भी निर्भय होकर करने का निर्देश किया गया है—

निरभउ होइ भजहु भगवान।
साध संगति मिलि कीनो दानु। (गउड़ी म० 5।3।108)

---

13. हिन्दु धरम रख मूल को राखी धरनि मझार।
तेग बहादुर धनि गुरु जिस समान नहि आरि। (गुर प्रताप सूरज, राशि 11 : 11 : 11)

14. तिलक जंञू राखा प्रभ ताका।
कीनो बडो कलू महि साका।
साधनि हेति इती जिनि करी।
सीसु दिया पर सी न उचरी।।13।
धर्म हेत साका जिनि किया।
सीसु दिया पर सिररु न दिया। (बिचित्र नाटक 5 : 13 – गुरु गोबिंद सिंह)

15. हिन्दु लाज सर्बत्र राख चादर। तुरक सुभामा को बड़ बादर।
(गुर प्रताप सूरज रा 5 : 1 : 12)

अतः, गुरुओं ने आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों क्षेत्रों में तथा चिन्तन एवं व्यवहार दोनों स्तरों पर 'निर्भयता' को मानवीय-चेतना का श्रेष्ठ लक्षण स्वीकार किया है। गुरु तेगबहादुर के जीवन, व्यक्तित्व तथा वाणी से भी हमें यही संदेश मिलता है। गुरु तेगबहादुर का यही आदर्श एवं आचरण (भय काहू कउ देत नहि नहि भय मानत आनि) संत योद्धा गुरु गोविन्दसिंह के लिए अतुलनीय प्रेरणादायक सिद्ध हुआ जिससे उन्होंने शौर्य एवं आध्यात्मिकता के प्रतीक 'खालसा पंथ' की रचना की तथा भारत के मध्ययुगीन इतिहास में मानवीय स्वतन्त्रता, साहस एवं निर्भीकता का एक विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया।

वस्तुतः, गुरु तेगबहादुर की मानवीय-स्वतन्त्रता के मूल अधिकारों में ऐसी दृढ़ आस्था थी कि अडिग निश्चय एवं संकल्प के साथ उन्होंने एक चट्टान की भांति स्थिर रहकर उसकी रक्षा की। उनकी वाणी (काव्य-रचना) आज भी हमारे अन्दर वही चेतना उजागर कर रही है। उसमें निर्बल, संत्रस्त एवं असहाय व्यक्ति में भी नया उत्साह, साहस, शक्ति एवं निर्भयता पैदा करने की अद्भुत क्षमता है क्योंकि 'भय से सच्ची मुक्ति केवल ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होती है। सच्चाई और केवल सच्चाई ही मन से भय को भगा सकती है।' गुरु तेगबहादुर ने अपनी वाणी में ऐसी ही 'निर्भयता' का प्रतिपादन किया है। जिस युग में गुरु तेगबहादुर ने काव्य-रचना की है, उस युग में शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि (रीति कवि) ने स्वातन्त्र्य-चेतना एवं मानवीय-मूल्यों में ऐसी आस्था प्रकट की हो, अथवा उनका प्रकाशन अपनी रचनाओं में किया हो। इस दृष्टि से भी गुरु तेगबहादुर का हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल के कवि होते हुए भी जीवन-दर्शन, काव्यचिन्तन, काव्य-प्रवृत्तियों एवं लेखकीय आदर्शों[16] की दृष्टि से गुरु तेगबहादुर भक्ति काव्य परम्परा के कवि हैं तथा उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं साहित्य-परम्परा के दो प्रमुख मूलभूत तत्त्वों—आध्यात्मिकता एवं मानवीय-स्वतन्त्रता की चेतना को दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया है। कथनी और करनी में समानता के कारण उनकी वाणी में विलक्षण जीवन्तता एवं प्रभविष्णुता आ गई है, इसलिए उनकी वाणी परिमाण में थोड़ी होते हुए भी हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

भाषा की सहजता, सरलता, सरसता, मार्मिकता प्रेषणीयता एवं शक्ति; पद

---

16. "गुरु तेग बहादुर का लेखकीय आदर्श" के लिए दृष्टव्य—(गुरु तेगबहादुर : चिंतन और कला—लेखक)।

रचना का लालित्य एवं माधुर्य तथा बिम्बों[17] एवं प्रतीकों की कलात्मकता उनकी काव्य-रचना की कुछ ऐसी अन्य विशेषतायें है जो उसे एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान कर देती हैं।

●

17. गुरु तेगबहादुर की वाणी में बिम्ब-प्रयोग के लिए दृष्टव्य (गुरु तेगबहादुर : चिंतन और कला—लेखक)।

गुरु गोविन्दसिंह का भविष्य-दर्शन

भारतीय परम्परा में एक विश्वास रहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है, सत्य एवं न्याय का विघटन होता है तथा अत्याचार, अन्याय, हिंसा, आतंक और भ्रष्टाचार के कारण मानवता खतरे में होती है, उस समय भगवान दुष्टों का नाश एवं सत्य, न्याय और धर्म की रक्षा करने के लिए इस भूतल पर अवतरित होते हैं। गुरु गोबिन्दसिंह जी भी इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

जब-जब होत अरिस्ट अपारा, तब-तब देह धरत अवतारा।

(चौबीस अवतार 1:2)

दशम गुरुजी स्वयं एक ऐसे ही महापुरुष थे जो उस युग की आतंकवादी एवं अन्यायी शक्तियों का नाश करके धर्म एवं न्याय की प्रतिष्ठा के लिए अवतरित हुए थे। इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि मुझे परब्रह्म परमेश्वर ने दुष्टों का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए यहाँ भेजा है—

हम इह काज जगत मो आए, धरम हेत गुरुदेव पठाए।

जहाँ तहाँ तुम धरम बिथारो, दुसट दोखियनि पकरि पछारो।

(वि० ना० 1:42)

गुरु जी के जीवन पर आधारित "गुरु शोभा", "गुरु विलास", "गुरु प्रताप सूरज" आदि जो भी काव्य-ग्रन्थ बाद में लिखे गये, उनमें गुरु गोबिन्दसिंह के इसी उद्देश्य की स्थापना विविध ऐतिहासिक सन्दर्भों में निष्ठापूर्वक की गई है।

वस्तुतः, कभी-कभी ही ऐसा युग-द्रष्टा एवं युग-स्रष्टा लोकनायक इस भूतल पर अवतरित होता है जो अपने युग की चुनौतियों का दृढ़ता से सामना करते हुए अपने मंगलकारी कृत्यों एवं अमृतमयी वाणी से इतिहास को नया मोड़ देता है। वह आने वाले युग की आहट को सुनता है और नयी स्थितियों की संभावनाओं की संकल्पना करके संतप्त मानवता को अपने जीवन्त संदेश से सींचकर जिन्दगी के दरिया में एक नई हिलोर उत्पन्न कर देता है। दसवें गुरु गोबिन्दसिंह जी एक ऐसे ही क्रान्तिदर्शी युग-पुरुष थे। उनका व्यक्तित्व विविध रूपात्मक था। वे एक स्वतन्त्र अध्यात्म-चिन्तक, भारतीय परम्पराओं के संरक्षक एवं संवर्द्धक, निष्ठावान धर्म-प्रवर्त्तक, सामाजिक समता और सामाजिक न्याय के संस्थापक, मानवता

वादी लोकनायक और एक शूरवीर राष्ट्र-नायक थे । वे सत्य, न्याय, सदाचार, निर्भीकता, दृढ़ता, त्याग एवं साहस की प्रतिमूर्ति थे । एक ओर वे पूर्व गुरुओं की भाँति मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों के धार्मिक अन्धविश्वासों, आडम्बरयुक्त बाह्याचारों, पाखण्डपूर्ण कर्मकांडों, अहंकारयुक्त साधना-पद्धतियों और रूढ़ियों का विरोध करके हऊमें के त्याग, संतसेवा एवं हरिनाम-स्मरण आदि का उपदेश देते हुए गुरु-मत अनुकूल आध्यात्मिक विचारों का प्रतिपादन करते रहे और दूसरी ओर सत्य और न्याय की रक्षा के लिए तथा दीनों एवं असहायों की प्रतिपालना के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। इस प्रकार परम सत्य की उपलब्धि को जीवन का लक्ष्य मानकर मानव-मात्र का मंगल चाहने वाले वे परमसंत थे, तथापि उनका व्यक्तित्व वज्र सा कठोर, तड़ित सा तेजस्वी, सिंह सा सशक्त एवं पर्वतशिला सा दृढ़ था । वे एक अदम्य साहस एवं अडिग धैर्य से युक्त गत्यात्मक एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व के धनी थे । वे धर्मान्ध यवन शासकों के अत्याचारों एवं आतंक से पीड़ित निरीह, असहाय एवं निर्बल हिन्दू जनता के रक्षक थे। 'दीनों' का ऐसा समर्थ हित-चिन्तक, संतों का ऐसा उद्धारक, भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्म का ऐसा तेजस्वी संरक्षक संत सिपाही भारत के इतिहास में विरला ही मिलेगा । उनके इस प्रकार के शौर्यपूर्ण कृत्यों का वर्णन उनकी अपनी रचनाओं में तो विस्तार से मिलता ही है उनके दरबारी कवियों सेनापति, हीर, अणीराय, मंगल, हंसराम तथा परवर्ती कवि कुइरसिंह, सुक्खासिंह, भाई संतोखसिंह आदि ने भी बड़ी निष्ठा और गौरव से किया है । अणीराय के शब्दों में तुरंगों की फौज को काटने वाली, मतंगों के मान का मर्दन करने वाली तथा शत्रु को अधीर कर देने वाली उनकी प्रचण्ड कृपाण का वर्णन दृष्टव्य है --

> तुरंग फौज तोर के मतंग मान मोर कै,
> लरै करैं अधीर शत्रु जत्र पत्र पान की।
> जिते समीप को गिनै, क्रिपान कौप ज्यों हनै,
> प्रचंड खंड किन मुंड तेज पुंज भान को
> घटा छटा बिदारनी, धनी धरा प्रहारनी।
> कि काल बिआल कान्त कूट गूढ़ बिआन त्रान को।
> प्रसिद्ध दीप देस मैं पुरी गनेस सेस मैं,
> गुरु गोबिन्दसिंह की क्रिपान के समान को।

इसी प्रकार एक अन्य दरबारी कवि सेनापति ने "गुरुशोभा" में लिखा है कि उनकी सेना के प्रस्थान से लोक प्रलोक का दिल दहल जाता था, सूर्य मंडल लरज उठता था, कैलाशपति भयभीत हो जाते थे और शेष सुरेश भी डर से थर-थर काँपने लग जाते थे ---

डंकन घोर सु घोर भई, सुनि कै पुरीआं सब ही लरजीं।
लरजे सब भान भिआन भए किह कारन काज चढ़्यौ हरिजी।
लोक अलोक सभै लरजे, शिवजी कैलाश पति मैं डर जी।
सुन शेस महेश सुरेश बड़े लरजे सिंह गोबिन्द के डर जी।

निश्चय ही इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुरु गोबिन्द सिंह ने अपने युग की आतंकवादी शक्तियों का बड़ी दृढ़ता के साथ मुकाबला किया था एवं संकट ग्रस्त हिन्दू धर्म की समर्थता से रक्षा की थी। उनके दरबारी कवियों ने तथा अनेक परवर्ती कवियों ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है और हिन्दू-धर्म की रक्षा करने हेतु गुरु गोबिन्दसिंह का मुक्त कण्ठ से प्रशस्ति गान किया है तथा उन्हें "हिन्दूपति सुलतान", "हिन्दुओं के रक्षक", "हिन्दूधर्म के आश्रय", "हिन्दू-धर्म के प्रतिपालक" आदि के रूप में सम्बोधित किया है, यथा—

हिन्दूपति गुरु आप सिंह गोबिन्द है।
धनुष चन्द्र खण्डा धरै **हिन्दूपति सुलतान**।
सोढ वंश अवतार हो गोबिन्दसिंह बलवान।

(जंगनामा गुरु गोबिन्दसिंह)

तुरक तेज द्रिढ तरू उखारा।
हिन्दूधर्म को राख्यो प्रतिपारा। (गुरु प्रताप सूरज)
हिन्दू धर्म राखहि जग माहीं। तुमरे करे बिनस है नाहीं।
हिन्दू धरम जग जियो बचाई। सभि सुर गन की कीनि सहाई।
हिन्दू धरम के आसरा तुरकन तेज बिसाल।
श्री गुरु गोबिन्द जी नमो चरण के पास।

भाई संतोख सिंह ने तो "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ में यहाँ तक घोषणा की है कि जो हिन्दू होकर गुरु गोबिन्दसिंह का उपकार नहीं मानता, उससे अधिक अधम और कृतघ्न और कौन हो सकता है :—

जे जग में तन हिंदू अहै सभि पै उपकार बिसाल कर्यो।
मानहि जे न अधी नहीं को सम जाइ निरैगद बीच पर्यो।
बीर बली गुरु गोबिन्द सिंह महाँ तुरकान को तेज हर्यो।
हिंद धिर्यो बड जंग जुर्यो भट ब्रिंद गर्यो रसबीर भयो।

अस्तु, इसमें दो मत नहीं हो सकते कि गुरु गोबिन्दसिंह एक महान युग-पुरुष थे और इतिहास को उन्होंने एक नई दिशा दी थी। जब हिन्दुओं की ऐसी शोचनीय स्थिति थी और वे सोचते थे कि —

हिन्दू कोई न कहि सके, तुरकन तेज बिसाल।
परमेसुर ही पत राखई, सिमरहु दीन दयाल।

(गुरुनानक प्रकाश-31/4)

और उनकी मानसिकता इतनी पराजित हो गई थी कि वे यह सोचते थे कि
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी, चेरी छाड़ि अब होब कि रानी"
(रामचरितमानस" अ० का० 6।3)

उसी समय गुरु गोबिन्दसिंह ने भारतीय अध्यात्म-परम्परा को एक नया आयाम दिया और उसमें साहस और शौर्य का समावेश करके अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपनी जाति, अपने देश, अपनी स्वतंत्रता और अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए खड्ग को धारण करने का आवाहन किया और भारतीयों की सुप्त वीर-शक्ति को जगाकर उसमें नई चेतना का संचार किया। शायद इसीलिए भाई संतोख सिंह ने यह कहा कि—

"अब आन की आस निरास भई कलगीधर वाम कियो मन माही।"

महान लोकनायक वही होता है जो अपने युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी भविष्य की संभावनाओं की कल्पना करके उनके समाधान हेतु भावी-पीढ़ियों के लिए सार्थक सन्देश देता है। इस दृष्टि से गुरु गोबिन्द सिंह एक भविष्य-द्रष्टा लोकनायक थे और आज के संदर्भों में, जब हिंसा और आतंकवाद, जातीयता, धर्मान्धता, संकुचित राष्ट्रीयता, स्वार्थ, ईर्ष्या और द्वेष बढ़ता जा रहा है और मानव-मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है, गुरु गोबिन्दसिंह जी का सन्देश हमारे लिए और भी अधिक प्रासंगिक, सार्थक एवं उपयोगी है। गुरु गोबिन्दसिंह की आधुनिक युग के संदर्भ में सार्थकता को अनेक स्तरों पर आंका जा सकता है और उससे हमें यह आभास मिल सकता है कि वे कितने भविष्य-द्रष्टा युग-पुरुष थे।

आज विश्व विविध क्षेत्रों, धर्मों, जातियों, वर्गों, वर्णों, वादों और भाषाओं के आधार पर बँटा हुआ है और अपने-अपने संकुचित दायरे में घिरे हुए हम टूटते और बिखरते जा रहे हैं, मानवता खण्डित होती जा रही है और निहित स्वार्थों के कारण पारस्परिक भय, हिंसा, संघर्ष और आतंक बढ़ता जा रहा है। घोषणा-पत्रों में मानवतावाद की दुहाई अवश्य दी जाती है, लेकिन मानवतावादी चेतना जैसे कहीं खो गई है और हम मानव न रहकर किसी विशेष देश, जाति, वर्ण अथवा वर्ग के वजूद के प्रतीक बन कर रह गए हैं। यद्यपि भारतीय आध्यात्म-चिंतन और सांस्कृतिक परम्परा की यह विशिष्टता रही है कि उसमें मानववादी चिंतन को ही मूल लक्ष्य स्वीकार किया गया है, लेकिन मध्ययुगीन धार्मिक और राजनैतिक संघर्षशीलता के बीच गुरु गोबिन्दसिंह ने जिस प्रकार मानवतावादी दृष्टि का प्रतिपादन और प्रवर्तन किया, वह आज के युग में भी हमारा मार्गदर्शन कर सकती है। आध्यात्मिक स्तर पर वे सभी जीवों को परमात्मा का रूप स्वीकार करते हुए अभिन्न और अभेद मानते थे। "अकाल उस्तुति" में उन्होंने स्पष्ट कहा

है कि जैसे एक अग्नि से करोड़ों अग्नि स्फुल्लिंग उत्पन्न होकर अलग-अलग दिखते हैं, लेकिन सब अग्नि रूप हैं, जैसे एकनद से करोड़ों तरंगें उत्पन्न होती हैं मगर सब जल रूप हैं, उसी प्रकार सब जीवों की स्थिति है।[1] प्राणी मात्र की एकता और अभिन्नता में विश्वास प्रकट करते हुए गुरु जी कहते हैं कि "सभी मनुष्यों के एक ही से कान, नाक, आँखें, शरीर हैं, सभी एक से तत्त्वों से बने हैं; फिर भेद भाव कैसा ? सभी मानव एक ही तो हैं। प्रतीयमान भेद केवल भ्रम है। हिन्दू, तुर्क, राफजी, इमाम, शाफी आदि सभी देशों के प्राणी एक ही हैं; वे केवल बाह्य वेश-भूषा से भिन्न प्रतीत होते हैं, एक ही वह बनावट है, उसी का सारा प्रसार है और वह सबमें व्याप्त है—

हिन्दू तुरक कोऊ राफजी इमाम शाफी।
मानस की जात सबै एकै पहचानवो।
देहरा मसीत सोई पूजा औ निवाज ओई,
मानस सबै एक पै अनेक को भ्रमाउ है।
एकै नैन एकै कान एकै देह एकै बान,
खाक बाद आतश औ आब को रलाउ है।

जाति-पाति, वर्ण-भेद आदि को भ्रमजाल बताते हुए उन्होंने उसका खण्डन किया है और हिन्दू, मुसलमान, योगी, संन्यासी, ब्राह्मण, राजा-रंक सभी को मानव रूप में मानकर उनकी एकता में विश्वास प्रकट करते हुए कहा है—

कहूँ हुई के हिन्दुआ, गाइत्री को गुपत जपिओ।
कहूँ हुई के तुरका पुकारे बाँग देत हो।
कहूँ धरमधारी कहूँ सरब ठौर गामी।
कहूँ जती कहूँ कामी कहूँ देत कहूँ लेत हो।
कहूँ जटाधारी कहूं कंठी धरे ब्रह्मचारी।
कहूँ जोग साधी कहूँ साधना करत हो।

निश्चय ही गुरु गोबिन्दसिंह द्वारा प्रवर्त्तित यह मानवतावाद आज की विघटनकारी परिस्थितियों में विश्व का सही मार्गदर्शन कर सकता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आज भौतिकतावादी जीवन-दृष्टि पनपती जा रही है और उसके परिणामस्वरूप स्वार्थ, तृष्णा, लालसा, ईर्ष्या, द्वेष, अकेलेपन,

---

1 जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
न्यारे-न्यारे हुइकै फेरि आग में मिलाहिंगे।
जैसे एक नद ते तरंग कोट उपजत है,
पानि के तरंग सबै पानि ही कहाहिंगे।

(अकाल उस्तुति, 37)

परायेपन और संत्रास ने मनुष्य जाति को अपनी जकड़ में लिया हुआ है तथा उसमें मनुष्यत्व का ह्रास होता जा रहा है। गुरु गोबिन्दसिंह ने सदाचरण, सेवा, परोपकार, दया, क्षमा, विनम्रता, उदारता, सत्य, न्याय, दीनों की रक्षा, आदि उच्च एवं उदात्त जीवन-मूल्यों को जीवन का वास्तविक लक्ष्य मानकर एक अच्छे मानव की जो परिकल्पना की है, वह आज भी मानव-मात्र के लिए मंगलकारी एवं अनुकरणीय है।

आत्म-चिन्तन के स्तर पर गुरु गोबिन्दसिंह की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन धार्मिक और सामाजिक जीवन में लोकतांत्रिक स्थापनाओं से सम्बन्धित है। धर्म-साधना के क्षेत्र में उन्होंने लोकतन्त्रीय-मूल्यों को विशेष महत्त्व दिया है। कठोर परिश्रम एवं निष्ठापूर्वक कर्त्तव्य-पालन द्वारा प्राप्त फल का औचित्यपूर्ण उपभोग ही लोकतंत्रीय पद्धति का मूलाधार है। सिखमत में सभी मनुष्यों को धर्म साधना का समान अधिकार दिया गया है और इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति बिना वंशगत, वर्गगत, जातिगत वैशिष्ट्य के, अहंकार के त्याग और एकनिष्ठ हरि-भक्ति द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। सिक्ख-परम्परा में गुरुपद का भी वही अधिकारी होता था, जो अपने सद्गुणों के कारण इसके योग्य हो। वंश-परम्परा अथवा आयु को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। गुरु गोबिन्दसिंह ने इस गुरु-परम्परा को जीवित ही नहीं रखा, वरन् उसमें एक नया आयाम प्रस्तुत किया। उन्होंने 'पंथ' को गुरुता प्रदान की और "खालसा" की स्थापना के समय यह आदेश जारी किया कि पाँच या उससे अधिक सिक्खों का आदेश गुरु-आदेश समझा जाए, जिसे "गुरुमत" की संज्ञा दी गई। धर्मों के इतिहास में लोकतंत्रीय आदर्शों की स्थापना का यह एक अनूठा उदाहरण है। इसे पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए स्वयं गुरु गोबिन्दसिंह ने सदैव 'गुरुमता' के निर्णयों का पालन किया और आने वाले समय के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया। आने वाले समय में यह संस्था कितनी उपयोगी सिद्ध हुई, सिख-इतिहास इसका साक्षी है और आज भी यह संस्था महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। एक क्रान्तिदर्शी लोकनायक ही ऐसे दूरगामी परिणामों की कल्पना कर सकता है। आपने "गुरु ग्रन्थ साहब" को गुरुता प्रदान की और गुरुपद-प्राप्ति के लिए सम्भावित संघर्षों एवं गुरु-व्यक्ति में आ जाने वाले दुर्गुणों की आशंकाओं से पंथ को मुक्त कर उसकी उन्नति की सम्भावनाओं को प्रशस्त किया। इससे भी उनकी दूरदर्शिता एवं नेतृत्व योग्यता का परिचय मिलता है।

गुरु गोबिन्दसिंह ने सामाजिक-समानता और सामाजिक-न्याय को भी अत्यधिक महत्त्व दिया है। भारतीय समाज की वर्णगत अथवा जातिगत विषमताओं को समाप्त करके सामाजिक-समता की स्थापना के लिए "गुरुमत" में लंगर-प्रथा का प्रवर्तन किया गया था। गुरु जी, ने भी जिस समय 'खालसा' की

स्थापना की, तो एक ओर तो अपने 'पंच-प्यारों' में विविध-जातियों एवं क्षेत्रों के लोगों को सम्मिलित किया, दूसरी ओर सामाजिक विषमता की खाई को पाटने के लिए एक सामूहिक भोज का आयोजन किया जिसमें वर्ग-जाति भेद को कोई स्थान न था। इस प्रकार गुरु गोबिन्दसिंह एक ऐसे प्रगतिशील एवं गत्यात्मक समाज की स्थापना करना चाहते थे, जो आज भी हमारा आदर्श बन सकती है।

सिक्ख-साधना में 'सेवा' को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, उसका भी सामाजिक उत्तरदायित्व से गहरा सम्बन्ध है। 'वंड खाना' का सिद्धान्त शोषण प्रक्रिया का प्रतिद्वन्द्वी है। गुरु गोबिन्दसिंह इन सिद्धान्तों के प्रबल समर्थक थे। वे सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक किसी भी प्रकार के शोषण अथवा अत्याचार के शिकार दीनवर्ग के सबसे बड़े सहायक तथा संरक्षक थे। अपने इष्टदेव को भी वे 'गरीबुल निवाज' कहा करते थे और स्वयं को उनका 'दास' कहकर अपने को भी 'दीनों' की पंगत में खड़ा करते थे क्योंकि उन्हें वे अपना ही अंग समझते थे। इस वर्ग को अत्यधिक प्रतिष्ठा देते हुए वे कहते हैं कि उन्हीं की सहायता से उन्होंने युद्ध में विजय प्राप्त की और उन्हीं के सहारे सब शत्रुओं का विनाश किया —

जुद्ध जिते इनहीं के प्रसादि
इनहीं के प्रसादि सुदल करे।
इनहीं के प्रसादि सुविधा लइ
इनहीं की कृपा सभ सत्रु मरे।

वस्तुतः, दीनों का ऐसा समर्थ हित-चिन्तक रक्षक, उद्धारक और मददगार इस युग में और कोई दिखाई नहीं देता। वर्ग-विषमता, वर्ग-भेद, शोषण और वर्ग-संघर्ष के इस युग में भी गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त मूल्य-चेतना हमारे लिए अनन्त प्रेरणा और कल्याण का स्रोत हो सकती है।

गुरु गोबिन्दसिंह के भविष्य-दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष संत-परम्परा में शौर्य अथवा वीर-भावना के समावेश और 'खालसा' की स्थापना से सम्बन्धित है। गुरु गोबिन्दसिंह ने तीव्रता से यह महसूस किया था कि असहाय अवस्था में रहकर, कायरता को धारण कर कोई भी देश, संस्कृति, जाति या धर्म जीवित नहीं रह सकता, भले ही उसका अध्यात्म चिंतन एवं सांस्कृतिक परम्परा कितनी ही उदात्त और महान क्यों न हो। इसलिए उन्होंने आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ शक्ति-साधना पर भी बल दिया और भक्ति में शौर्य का समावेश किया और इसी उद्देश्य से उन्होंने "खालसापंथ" की स्थापना की और उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा—

खालसा मेरो रूप है खालस।
खालसे महि हउ करों निवास॥

खालसा मेरो इष्ट सुहिरद ।
खालसा मेरो कहीयत बिरद ॥
खालसा मेरो मित्र सखाई ।
खालसा मित्र पिता सुखदाई ॥
खालसा मेरो सतिगुरु पूरा ।
खालसा मेरो सज्जन सूरा ॥
खालसा मेरो बुध अर ज्ञान ।
खालसे का हौं धरो ध्यान ॥
हौं खालसे को खालसा मेरो ।

(सरबलोह)

'खालसा' की स्थापना के कारणों, उसके स्वरूप, मर्यादा, उद्देश्य एवम् महत्त्व का प्रतिपादन इतिहास-ग्रन्थों एवं सिख-साहित्य में बड़े विस्तार से हुआ है। गुरु गोबिन्दसिंह तथा अन्य गुरुओं के जीवन पर आधारित "गुरुशोभा," "गुरु बिलास" तथा "गुरु प्रताप सूरज" आदि काव्य-कृतियों में विशेष रूप से इसका वर्णन हुआ है। गुरु गोबिन्दसिंह के दरबारी कवि 'सेनापति' का कहना है कि जगत का उद्धार करने के लिए गुरु गोबिन्दसिंह अवतरित हुए और असुरों का संहार करने के लिए, दुर्जनों का नाश करने के लिए, संकटों का निवारण करने के लिए उन्होंने 'खालसा' की स्थापना की—

कल मैं करनहार निरंकार कलाधार,
जगत के उधारबे गोबिन्दसिंह आयो है।
असुर सिंहारबे को दुरजन को मारबे को,
संकट निबारबे को खालसा बनायो है।

(गुरु-शोभा 14-130)

इसी प्रकार भाई संतोखसिंह ने "गुरु प्रताप सूरज" में कहा है कि 'खालसा' की रचना धर्म की स्थापना करने के लिए, पापों का नाश करने और सतगुरु का स्मरण करने के लिए की गई है—

धरम सथापबे को पापन के खापबे को,
गुरु जापबे को नई रीति यौं चलाई है।
वाहिगुरु जी का भयो खालसा सु नीका अति,
वाहिगुरु जी की मिलि फते सो बुलाई है।

(गुरुप्रताप सूरज, रितु, 3:19/44)

गुरु गोबिन्दसिंह ने 'खालसा' को अपना ही रूप घोषित किया है और यह भी कहा है कि "मैं सदा खालसा के साथ रहता हूँ, सच्चा खालसा वही है, जो

भेद-भ्रम से अलग रहता है। 'गुरु-शोभा' में इस तथ्य का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

खालसा मेरो रूप है, हौ खालस के पासि,
आदि अंति ही होत है, खालस मैं प्रगास।
खालस खास कहावै सोई, जाके हिरदे भरम न होई,
भरम भेख ते रहे निआरा, सो खालस सतिगुरू हमारा।

(गुरु-शोभा : अध्याय 18 : 43/810/)

"गुरु-प्रताप सूरज" ग्रन्थ के अनुसार 'खालसा' गुरु-रूप है और गुरु गोबिन्द-सिंह जी ने खालसा को उसी प्रकार गुरुता प्रदान की थी, जैसे गुरुनानक देव ने गुरु अंगददेव जी को गुरु बनाया था—

खालसा गुरु है गुरु खालसा करें मैं अब
जैसे गुरुनानक जी, अंगद को कीनिओ।

(गुरु प्रताप सूरज रि० 3 : 19)

"खालसा" संरचना के समय पंच-प्यारों को अमृतपान करवाने के पश्चात् गुरुजी ने जो संदेश दिया, उससे खालसा की मर्यादा का संकेत मिलता है। 'गुरु-शोभा' में कवि सेनापति ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है —

पाचन सो कहु मेल न करीये।
नाम दान निस दिन उर धरीये।
झूठे सरब उपाव तिआगहु,
श्री असधुज की चरनी लागहु। 49
राज जोग तुम कहु मैं दीना,
परम जोत संग परचो कीना।
संत समूहन को सुख दीजै,
अचल राज धरनी महि कीजै। 51
तुरक मलेछन सों नहीं मिलना,
ले हथीआर सामुहे पिलना।
जो पदवी खालस गुरु दीनी,
सुर नर आज लगे नहीं चीनी।
नर ते परम देव बर कीने,
परम जोति के रस महि भीने। 52

इसी प्रकार 'गुरु-बिलास' में खालसा की मर्यादा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो शस्त्र से प्रेम करे और नित्य निरंकार का स्मरण करे-वही खालसा है—

शस्त्र से प्रेम करे, नाम स्मरण करे वह खालसा। 13/164
प्रगट खालसा पंथ भणीजै, जहाँ रहत गुर सकल लहीजै।
ससत्र असत्र संग करै प्यार, निसि दिन भजे निरंकार।

"गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ में तो बड़े विस्तार से खालसा के स्वरूप और आदर्श का वर्णन किया गया है। प्रभु-प्रेम, गुरुवाणी के पाठ, कायरता के त्याग, शौर्य और वीरता को महत्त्व देते हुए 'खालसा' के स्वरूप का वर्णन उसमें इस प्रकार किया गया है—

पठहु प्रेम करि नित गुरबानी, सिघनि सेवा करहु महानी।
कातुरता उर ते परहरिनी, बल के सहित सूरता धरनी।
जोधे की भुज के अनुसरे, दुऊ लोक लटकति हैं परे। 38
जे जीतहि सुख इह जग माहीं, भए म्रितक आगे सुख पाहीं। 38
(गुरु प्रताप सूरज, रितु 3:18)

वस्तुतः, हरि-नाम-स्मरण, पवित्र-आचरण, संत-संगति, झूठ के त्याग, गुनाहों के परित्याग, शुद्ध चित्त होकर संत-सेवा, पवित्रतापूर्ण-बन्दगी, सभी वर्णों के साथ एक लंगर में भोजन करना, दया, परोपकार का जीवन व्यतीत करना और संतों की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करना खालसा के मुख्य लक्षण हैं। 'गुरु-बिलास' के अनुसार—खालसा के लिए—

झूठ को त्यागकर स्वयं शुद्ध होकर संत-सेवा करना तथा पवित्रता ही असली बंदगी है। यही धर्म है, मति भी यही है, यही आत्म-ज्ञान एवं आत्म-शुद्धी, यही प्रभु-प्रेम है। (गुरु-बिलास 26/141)

धार्मिक स्तर पर उस युग में हिन्दू और मुसलमानों में जो मिथ्याचार और अहंकार युक्त साधना-पद्धतियाँ, प्रचलित थीं, गुरु गोबिन्दसिंह ने उनको निरर्थक घोषित करते हुए 'खालसा' की धार्मिक विशिष्टता का प्रतिपादन किया, जिसका 'गुरु प्रताप सूरज' में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

करहु बंदगी रोज़ तुम बंदा बनि करि आप।
देख्यो सुन्यों न रब किते, करहु निवाज कलाप। 11
रूप न रंग न ठौर कित पाक अल्लाहि अपाज।
सिजदा करहु दरद दिह, रोजा कूर निवाज। 12
कहिन कथा अरु हिरस क्या बाद जाति बकवाद।
नीकी करनी जिन करी कयों खुदाइ सु याद। 13
पीर पैकंबर जानि मजूद, देत फाइनः बहुर दरूद।
रोज़ा बांग निवाज सुजान। मुसलमान इन करहिं प्रमान। 14

भ्रै संध्या करनी धरि प्रीत। देवल पाहिन पूजन-रीति।
इत्यादिक हदुनि परवाना। हम दोनहुँ को जानि समाना। 15
त्यागन करे भाउ लखि बीजा। उतपति कार्यो खालसा तीजा।
भूठे लखि दोनहूँ हम छोरे। पंथ अकाल पुरख को लोरे। 16
बाद पक्ख को सकल बिनाशा। धरी अकाल पुरख की आसा।
जनम्यो अबै खालसा नयो। बालक के मंनिद जग थियो। 17
जुवा होइ जबि जोर संभारे। कबर मढ़ी को फोडि उखारे।
देवल बुत प्रसती नहिं मानै। एक अकाल अकाल बखाने। 18

(गुरु-प्रताप-सूरज : ऐन, 2:16)

इसी प्रकार सामाजिक स्तर पर वर्ण एवं वर्ग-भेद मिटाकर सामाजिक समानता और मानवीय एकता को 'खालसा' का आदर्श घोषित किया और नैतिक स्तर पर विनम्रता को अधिक महत्त्व दिया—

इम सतिगुर निज सिख समुभावहिं।
अपर रहित सो बहुर बतावहिं। 41
जाति पाति को भेद न कोई।
चार बरन अचबहिं इक होई। 42
मति ऊँची राखहु, मन नीवां।
सिमरहु वाहिगुरु सुख सींवां। 43

(गुरु प्रताप सूरज : रितु, 3 : 19)

सिखमत में लोकतांत्रिक परम्परा के जिस आदर्श का उल्लेख पहले किया गया है, उसका सुस्पष्ट उदाहरण खालसा की संरचना के समय मिलता है—जब पंच-प्यारों को अमृत-पान करवा कर 'खालसा' रूप में स्थापित कर और उनको गुरु-रूप घोषित कर स्वयं गुरुजी उनसे अमृतपान कराने का अनुरोध करते हैं, जिसका उल्लेख 'गुरु प्रताप-सूरज' में इस प्रकार हुआ है—

शंक न करीजै सावधान होइ दीजै अबि,
अम्रित छकाओ मुहि जैसे तुम लीनिओ।

(गुरु प्रताप सूरज : रितु 3:206)

निश्चय ही 'खालसा' के जिस स्वरूप की परिकल्पना गुरु गोबिन्दसिंह ने की है, वह हमारे लिए एक अनुकरणीय आदर्श है और उसकी आज के युग में कितनी सार्थकता तथा प्रासंगिकता है—इसका सहजता से अनुमान लगाया जा सकता है।

गुरु गोबिन्दसिंह के भविष्य-दर्शन की आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से उल्लेखनीय संकल्पना यह है कि उन्होंने निरीह और असहाय जनता में, अपनी स्वायत्तता और सम्मान की रक्षार्थ साहस, शौर्य और निर्भीकता का संचार

तो किया, लेकिन उनकी वीर-भावना कर्म-सौन्दर्य और उदात्तता से युक्त है। गुरु तेगबहादुर ने सत्य और न्याय की रक्षार्थ अपना बलिदान देकर साहस और निर्भयता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया था, लेकिन साथ ही वीरता का आदर्श प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था —

भय काहू कउ देत नहिं, नहि भै मानत आनि।
कहु नानक सुनि रे मना, गिआनी ताहि बखानि॥

साहस एवं शौर्य के संदर्भ में गुरु गोबिन्दसिंह का भी यही आदर्श था कि न किसी को आतंकित और भयभीत करो और न किसी का भय मानो। अपने युद्धों को भी उन्होंने "धर्मयुद्ध" का नाम दिया है और अवतारों की कथाओं का वर्णन भी "धर्मयुद्ध" का उत्साह उत्पन्न करने के लिए ही किया था, जैसा कि उन्होंने "कृष्णावतार" में कहा है—

दसम कथा भागौत की भाषा करी बनाइ।
अवर वासना नाहि प्रभ धरम जुद्ध को चाइ।

(कृष्णावतार : 2491)

पृथ्वी पर अपने आगमन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए भी उन्होंने यही घोषणा की थी कि मुझे "दुष्टों का नाश करने और धर्म की रक्षा करने के लिए गुरुदेव ने यहाँ भेजा है" और इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने शस्त्र धारण किये थे। अर्थात् उन्होंने साहस और शौर्य का उपयोग "दीनों के प्रतिपालन"[2] संतों के उद्धार तथा सत्य और न्याय की रक्षा के लिए किया था। उन्होंने खड्ग की वन्दना करते हुए भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया है कि "वह खड्ग जो संतों को सुखी करने वाली, दुष्टों का मर्दन करने वाली, पापों का नाश करने वाली है, मेरा आश्रय है। यह जगत की कारक, सृष्टि की पालक और मेरा प्रतिपालन करने वाली है। ऐ खड्ग, तेरी जय हो—

खग खंड बिहंड खल दल खंड अति रण मंड बरबंडं।
भुज दंड अखंड तेज प्रचण्ड जोति अमंड भान प्रभं।
सुख संता करणं दुर्मति दरणं किलबिख हरणं अस सरणं।
जै जै जग कारण स्रिसटि उबारन मम प्रतिपारन जै तेगं।

(बिचित्र नाटक 1.2)

ऐसी खड्ग उनके लिए प्रभु की असुर-संहारक, दुष्ट-विनाशक और संतों की रक्षक शक्ति का ही प्रतीक है। इसीलिए उन्होंने परब्रह्म परमात्मा का स्मरण और वन्दन "असि पाणि", असिध्वज", "असि केतु," सर्वलोह", "खड्गपाणि",

---

2. दीनन की प्रतिपाल करै नित संत उबार गनीमन गारै।

(अकाल उस्तुति : 2.13)

के रूप में किया है और असुर-संहारक, संत-उद्धारक ऐसे सभी अस्त्र-शस्त्रों को ब्रह्ममय माना है। "शस्त्रनाममाला" में उनका कथन है —

तुमी गुरज तुमही गदा, तुमही तीर तुफंग।
दास जान मोरी सदा, रच्छ करो सरबंग।

"गुरु-विलास" में इसी अवधारणा का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

खड्ग केत अर खड्ग महि तनिक भेद नहीं कोई।
श्री आनन श्रीमुख कह्यो, एक रूप करि सोई।।

(गुरु विलास; 1/22)

कहने का अभिप्राय यही है कि गुरु गोबिन्दसिंह मूलत: और प्रमुखत: धर्म-गुरु थे, लेकिन सत्य और न्याय की रक्षा के लिए और धर्म की स्थापना के लिए उन्हें शस्त्र धारण करने पड़े। औरंगज़ेब को लिखे गये अपने पत्र-'ज़फरनामा' में उन्होंने पूर्णत: स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा था :—

चूकार अज़ हमह हीलते दरगुज़शत।
हलाल अस्त बुरदन ब शमशेर दस्त।।

अर्थात्, जब सत्य और न्याय की रक्षा के लिए अन्य सभी साधन विफल हो जाएँ, तो तलवार को धारण करना सर्वथा उचित है। "कृष्णावतार" में एक ओर तो वीरों के आदर्श का आह्वान करते हुए वे कहते हैं कि

कहा भयो मम ओर ते सूर हने संग्राम,
लरिबो मरिबो जीतिबो इह सुभटन को काम।

लेकिन, साथ ही जब प्रभु से यह वर मांगते हैं कि "जब मैं शत्रु से युद्ध के लिए प्रस्थान करूँ, तो तनिक भी भयभीत न होऊं और निश्चित रूप से विजय प्राप्त करूँ, भले ही अंत समय आने पर रण में जूझते हुए मर जाऊँ; तो साथ ही वे यह भी वर मांगते हैं कि किसी भी स्थिति में वे 'शुभ-कर्मों' से विचलित न हों। उनकी यह वाणी सिक्ख इतिहास की अमर निधि है, जो आज भी हमें प्रेरणा देती है। उन्होंने कहा था —

देहि सिवा वर मोहि इहै, सुभ करमन से कबहूँ न टरौं।
न डरौं अरि सों जब जाइ लरौं, निसचै करि आपनि जीत करौं।
अरु सिख हों अपने ही मन को, यह लालच हौ गुन तौ उचरौं।
जब आव की औध निदान बनै अत ही रन मैं तब जूझ मरौं।

(चण्डी चरित : उक्ति विलास: 231)

वस्तुत:, शक्ति, शौर्य, पराक्रम, साहस, निर्भयता उनके लिए सत्य, न्याय और धर्म की रक्षा के पर्याय हैं और 'शुभ कर्मों अर्थात कर्म-सौंदर्य से उनका अभिन्न सम्बन्ध है। कहना चाहिए कि शुभ-कर्मों के साथ साहस और निर्भीकता का जुड़े रहना उनकी एक अनिवार्य शर्त है; जिसके अभाव में साहस और

निर्भयता अत्याचार, अन्याय, हिंसा और आतंक का रूप धारण कर लेते हैं। गुरु गोबिन्द सिंह ने अध्यात्म और वीरता का, भक्ति और शक्ति का, साहस और शुभ कर्मों का जो अनूठा सम्बन्ध स्थापित किया है, उन्होंने उसे एक सूत्रात्मक वाक्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

धन्य जीउ तिह को जग माहिं,
मुख ते हरिनाम चित में जुद्ध बिचारै॥

निःसंदेह, आज विश्व मानवता स्वार्थ और संदेह, शंका और संघर्ष, हिंसा और आतंक, अन्याय और अत्याचार की जिन चुनौतियों से जूझ रही है, गुरु गोबिन्दसिंह का भविष्य-दर्शन उपर्युक्त अनेक स्तरों पर और अनेक रूपों में हमारा मार्ग दर्शन कर सकता है। गुरु गोबिन्दसिंह एक भविष्य-दृष्टा इतिहास-पुरुष थे। उन्होंने अपने युग की चुनौतियों का साहस के साथ सामना करते हुए अपने युग के इतिहास को तो एक नया मोड़ दिया ही था, आज का मानव भी उनकी परिकल्पनाओं और अवधारणाओं से अपने लिए एक सुखद एवं मंगलमय इतिहास का निर्माण कर सकता है।

अन्त में उन्हीं के एक दरबारी-कवि "सेनापति" के शब्दों में मैं इस महान् युग-पुरुष की इस रूप में वन्दना करता हूँ—

काहू कै मात पिता सुत है, अर काहू कै भ्रात महा बल कारी।
काहू कै मीत सखा हित साजन काहू कै ग्रिह बिराजत नारी।
काहू कै धाम महा निधि राजत आपस मो करि है हित भारी।
होहु दइआल दइया करि कै प्रभु गोबिन्द जी मुहि टेक तिहारी।
(गुरु-शोभा)

●

सूर-काव्य के सन्दर्भ में गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध कृष्ण-काव्य और 'कृष्णावतार' का वैशिष्ट्य

हिन्दी मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य में स्पष्टतः दो काव्य-धाराएँ प्रवाहित होती दिखायी पड़ती हैं। एक धारा को हम अभिजात्य परम्पराओं में आस्था और विश्वास का साहित्य कह सकते हैं, जबकि इसके समानान्तर एक धारा ऐसी है, जिसे हम 'जनवादी साहित्य' परम्परा के नाम से अभिहित कर सकते हैं। जीवन के यथार्थ अनुभव पर आधारित, सामाजिक समानता-युक्त, क्रान्तिदर्शी दृष्टि-सम्पन्न यह काव्य-धारा समग्र लौकिक जीवन के विविध पक्षों का स्पर्श करती हुई अग्रसर होती है। इसे निर्गुण भक्ति-काव्य धारा के नाम से अभिहित किया जाता है। निर्गुण काव्य-धारा के अतिरिक्त कृष्ण-काव्य में भी हमें एक स्वस्थ उल्लासपूर्ण जनवादी प्रवृत्ति एवं सशक्त सांस्कृतिक एवं राजनीतिक लोक-चेतना के दर्शन होते हैं। सामान्य जनजाति का एक बालक खेल-खेल में ही अत्याचारी, निरंकुश सत्ताधारी के केश खींचकर उसे धराशायी कर देता है, जो अपने प्रतीक रूप में, उस युग के सन्दर्भ में, एक पौरुषपूर्ण एवं सशक्त लोकशक्ति की समर्थता की सूचना देता है और एक नयी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना को जागरित करता है।

कृष्ण-भक्ति काव्यधारा में इस चेतना के प्रवर्त्तन का श्रेय इस धारा के शिरोमणि-कवि सूरदास को है, जिन्होंने 'श्रीमद्‌भागवत पुराण' में चित्रित गोपाल-कृष्ण की बाल एवं किशोर लीलाओं में अनेक नवीन उद्‌भावनाएँ करके रस और सौन्दर्य की ऐसी स्रोतस्विनी प्रवाहित की, जिससे राजनीतिक दमन से त्रस्त और सामाजिक अधःपतन में ग्रस्त हिन्दू-जाति में नवीन उल्लास और उत्साह का संचार हुआ। माधुर्यपूर्ण, संगीतात्मक भाषा में गाये गये उनके पद सारे देश में गुंजायमान हो उठे। अनेक साधु-संन्यासी, जो पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक टोलियाँ बनाकर तीर्थाटन के लिए जाते थे, प्रायः सूर-रचित पदों का ही

गायन करते घूमते थे। इस तरह, देशभर की सभी भाषाओं में जो भी कृष्ण-साहित्य रचा गया, उस पर सूरकाव्य की अमिट छाप पड़ी, और साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में नागरी अथवा अन्य लिपियों में जो हिन्दी कृष्ण-काव्य लिखा गया, उस पर भी न्यूनाधिक रूप में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सूर का प्रभाव देखा जा सकता है, यद्यपि क्षेत्रीय विशिष्टताएँ भी उसमें उपलब्ध हैं।

मध्ययुग में पंजाब एवं हरियाणा में गुरुमुखी लिपि में प्रचुर मात्रा में हिन्दी-साहित्य लिखा गया। इसमें कृष्ण-काव्य की भी एक अबाध परम्परा दृष्टिगत होती है। गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-कृष्णकाव्य में काल-क्रमानुसार "रुक्मिनी मंगल," "सुदामा चरित्र" (हृदय राम भल्ला) "कथा क्रिसन चन्द्र जी को" (सोढी मिहिरवान), "सुदामा चरित्र," "स्याम स्नेही," (आलम), "सुदामा चरित्र" (साधु राम), "कृष्णावतार" (गुरु गोबिंद सिंह), "सुदामा चरित्र" (साहिब दास), "रास विलास" (रामदास मिश्र), "संवाद ऊधो तथा गोपीआँ" (मस्तराम), "द्रोपदी चरित्र," "रुक्मिनी मंगल" (बाबा राम दास), "गिरधर लीला" (कृष्णदास), "राग मंजरी" (गंगा राम), "दशम स्कन्ध" (कवि निहाल) "कान्ह गूजरी का झगड़ा," "गीत गोबिंद" (फतह चन्द), सुदामा चरित्र," "रुक्मिनी मंगल" (जाति राम), सुदामा चरित्र" (उमा दास) "गोपी उद्धव संवाद" (कुन्दन मिश्र) "कृष्ण कौतूहल," "बारहमासा श्रीकृष्ण जी का," "रास-मण्डल-लीला" (साहिब सिंह मृगेन्द्र)" आदि रचनाओं का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इनमें तीन प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम कोटि में "महाभारत", "श्रीमद्भागवत पुराण", "श्रीमद्भगवद्गीता" एवं "गीत गोबिंद" के अनुवाद आते हैं। इन पर सूरकाव्य के प्रभाव को खोजना अप्रासंगिक है। द्वितीय कोटि की रचनाएँ प्रायः ऐसी हैं, जिनमें कृष्ण-चरित से सम्बन्धित एक अथवा कुछेक लीलाओं को लेकर संक्षिप्त काव्य लिखे गये हैं। इन पर सूरदास का पर्याप्त प्रभाव है। इन रचनाओं में उन प्रसंगों का वर्णन प्रायः उसी रूप में हुआ है, जैसा "श्रीमद्भागवत पुराण" में अथवा "सूरसागर" में हुआ है। तीसरे प्रकार की रचनाएँ सुदामा-चरित से सम्बन्धित है, किन्तु इन पर सूर की अपेक्षा नरोत्तमदास का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है।

कृष्ण की लीलाओं का जैसा सर्वांगीण चित्रण सूरदास ने किया है, उस तरह की एक ही रचना गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध है और वह है, "दशम ग्रंथ" में संकलित "कृष्णवतार;" जिसमें 2492 छन्दों में कृष्ण की बाल-लीलाओं से लेकर युद्धों तक का विस्तृत चित्रण हुआ है। इस रचना पर, जहाँ तक बाल-लीला और गोपी लीला-वर्णन का सम्बन्ध है, सूर का पर्याप्त प्रभाव है। लेकिन युद्ध-प्रबन्ध में कवि ने अपनी राजनीतिक-सांस्कृतिक चेतना के अनुरूप वैशिष्ट्य का परिचय दिया है।

गुरुमुखी लिपि में रचित कृष्ण-काव्य के सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि "कविगण साधुओं के अखाड़ों तथा रजवाड़ों के आश्रय में पड़े श्रीकृष्ण की महानता को अपने आश्रय-दाताओं के संग जोड़ते और उसी को उखाड़ने-उभारने के लिए उनकी दानशीलता को लक्ष्य करके "सुदामा-चरित-काव्य" लिखते, कभी उनकी वीरता को दर्शाने के लिए "असुर निकंदन" का चित्रण करते, कभी राजाओं के भोग-विलास को देखकर रास-विलास और गोपी लीलाएँ वर्णित करते। और कभी विवाह-अपहरण आदि प्रसंगों पर "रुक्मिणी मंगल" का प्रणयन करते। निश्चय ही, इसे हम सूरदास का प्रभाव न मानकर उत्तर-मध्यकाल की उस प्रवृत्ति का बोधक मानते हैं, जिसके दर्शन रीतिकाल के राजाश्रित हिन्दी-भाषी उन कवियों में होते हैं जो इस उक्ति का सहारा लेकर काव्य लिखते थे कि

"आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमरिन को बहानो है।"

इस कृष्णकाव्य में वर्णित कृष्ण-लीलाओं पर सूर का प्रत्यक्ष प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध कृष्णेत्तर काव्य पर भी सूर का प्रभाव एक अन्य रूप में दृष्टिगोचर होता है। ऐसे अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें गुरु नानक, गुरु गोबिन्द तथा गुरु हरगोबिन्द की बाल्यावस्था का चित्रण किया गया है और इन कवियों ने कृष्ण से सम्बन्धित अनेक लीलाओं का आरोपण अपने काव्य-नायकों के बाल-जीवन के चित्रण पर किया है। इस तरह के प्रसंगों के वर्णनों पर भी सूर का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। "महिमा प्रकाश" (सरूप दास भल्ला), "गुरु विलास पातसाही 6" (अज्ञात), "गुरु विलास-पातसाही 10" (कुईर सिंह), "गुरु विलास" (सुक्खा सिंह), "गुरु नानक विजय" (सन्त रेण), "गुरु नानक प्रकाश" और "गुरु प्रताप सूरज" (भाई सन्तोख सिंह) आदि ग्रन्थों में यह प्रभाव विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इन रचनाओं में—हाथों में कंगन पहने, गुरि हाथ में पकड़े, कटि में किंकणी, कानों में कुण्डल तथा सिर पर पगड़ी बांधे, कोमल चरणों से सुन्दर नेत्रों वाले नानक के गो-महिषी चराने के लिए जाने (ना० प्र० पू० 26:6), पुत्र को मिलने के लिये उत्कण्ठित एवं आतुर माता-पिता की दशा, माता की ममता, स्नेह एवं विरह-जनित वेदना, पिता की उत्कण्ठा, आतुरता, व्याकुलता, विह्वलता, उत्सुकता आदि का तथा हरगोबिन्द एवं गोबिन्द सिंह के जन्म, जन्मोत्सव, शैशव एवं बाल्यावस्था के चित्रण इन कवियों ने विस्तार से किये हैं, जिन पर सूरदास का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभाव पड़ा है। इसी तरह प्रिथिए द्वारा सर्प एवं धाय से शिशु हरगोबिन्द को मरवाने के प्रयत्नों से सम्बन्धित प्रसंगों पर भी सूरदास के कालीदमन एवं पूतना-वध प्रसंगों का गहरा प्रभाव पड़ा है। प्रिथिआ के कहने पर एक दाई अपने विष लगे स्तन हरगोबिन्द

के मुख में देकर उसका वध करना चाहती है, लेकिन हरगोविन्द उसका स्तन मुख में लेते ही उसके प्राणों का अन्त कर देते हैं। जब उसके प्राणों का अन्त होता है तो उसके शरीर से अपार रूप निकलता है और वह गुरु जी की प्रशंसा करने लगती है। "गुरु विलास" तथा "गुरु प्रताप सूरज" में इस प्रसंग का विस्तार से वर्णन किया गया है। निश्चय ही यह प्रसंग सूर के पूतना-वध से प्रेरित है। गुरु गोबिन्दसिंह द्वारा पटना में की गयी अनेकानेक बाल-लीलाओं के वर्णन पर भी सूरदास द्वारा वर्णित कृष्ण-लीलाओं का प्रत्यक्ष आरोपण परिलक्षित होता है। कृष्ण-लीला से सम्बन्धित अन्य विविध प्रसंगों की प्रेरणा लेकर इन कवियों ने स्थानीय परिवेश के अनुरूप कतिपय मौलिक प्रसंगों की उद्भावना भी की है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन कवियों ने उन प्रसंगों को निजी परिवेश एवं अपनी सांस्कृतिक-राजनीतिक चेतना के अनुरूप ढालने की भरसक चेष्टा की है।

वस्तुतः, वात्सल्य से सम्बन्धित ऐसे अनेक प्रसंग उपर्युक्त रचनाओं में मिलेंगे, जहाँ रूप-चित्रण, बाल मनोविज्ञान एवं बाल-क्रीडाओं आदि का उतना ही मार्मिक, सरस एवं मनोहर चित्रण हुआ है, जैसा "सूरसागर" में कृष्ण के वात्सल्य के सम्बन्ध में हुआ है।[1] यहाँ दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

भाई सन्तोख सिंह कृत "गुरु नानक प्रकाश" में श्री नानक देव के शैशव एवं बाल्यावस्था की कितनी ही सुन्दर झांकियां मिलती हैं। शिशु नानक का एक सौन्दर्य-चित्र देखिए—

लोचन अमल कमल दल जैसे, नासा तिल प्रसून नहिं वैसे।
सुन्दर अलंकार धरिवाए, बिन दूखन पै भूषण पाए।
बनी बाजनी किंकणी न्यारी, कटि महिं पाई अति छवि बारी।
कर महिं कर पद नूपुर सोहे, जो देखे तिस को मन मोहै।
दुइ दुइ दसन अधर दुति होति, संपुट बिद्रुम जिउँ जुग मोती।
अंझन महिं रिंझण गतिकारी, चरणांबुज खैंचत बलकारी।
हेरत हँसत हसावत औरी, किलकत मुख ते माधुर ठौरी।
बोलें बचन तोतरे मीठे, सुनहि नारि नर लागहि ईठे।
हेरहि मात तात अनुरागहिं, फिरति भूमिका भ्रितका लागहिं।
लगी धूर तन धूमर होए, अंब लेय अंबा अंग धोए।
मलि करि मुख मज्जन करवायो, पोछ सरीर अंक बैसायो।

यहाँ श्री नानकदेव के सुन्दर नेत्रों, नासिका, किंकणी, नूपुर, दसन पंक्ति, अंजन, तोतरे बैन, धूलि-धूसरित तन की शोभा का सुन्दर चित्रण किया गया है।

1. विस्तृत अध्ययनार्थ द्रष्टव्य : डॉ० मनमोहन सहगल, गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य।

माता-पिता का उल्लसित होना और पुत्र को अंक में बिठाना आदि अनुभाव भी विद्यमान हैं।

गोबिन्द सिंह की बाल-क्रीड़ाओं का भी कवि ने अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। बालकों के साथ गेंद खेलते समय का एक स्वाभाविक चित्र द्रष्टव्य है—

दिन महि तहि गन बालिक मेल। बहिर ग्राम ढिग खेलति खेल।
किंदुक डंडा गहि जुग हाथ। फेंकहि दूर मार करि हाथ। 3
बालिक धाइ गहै तहि गेरहिं। पुन डंडा हति किंदुक प्रेरहिं।
कबहूं ब्रिछन पर चढ़ि चढ़ि कूदहिं। हारहि बाल ताहि द्रिग मूंदहिं। 4
कबहूं भाग चलहि किह आगे। अधिक भ्रमावहि हाथ न लागे।
कबहूं दुई दिशि बालिक सभि होइ। खेलहि परे बंध करि दोइ। 5
जीत हार की खेल मचावहिं। भावहिं एक ओज को लावहिं।
इक ऐंचहि इक छूट करि जावें। इक लर करि निज सदन सिधावैं। 6
इक को इक खिडाइ करि रोकहिं। इम खेलति जे लोक बिलोकहिं।।
(12:56:37)

यहाँ भी सूर के बाल-लीला-वर्णन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सूर के कृष्ण-काव्य का सर्वाधिक प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट प्रभाव "दशम ग्रन्थ" में संकलित "कृष्णावतार," पर परिलक्षित होता है।

"कृष्णावतार" 2492 छन्दों का एक बृहदाकार एवं उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें कवि ने कृष्ण के चरित्र का व्यापक एवं विशद चित्रण किया है। इसमें कथानक का संतुलित एवं संयमित ढंग से विकास होता है और सभी प्रसंगों का यथायोग्य निरूपण किया गया है। इसमें जीवन की विविधता एवं शक्ति है। प्रस्तुत प्रबन्ध चार खण्डों में विभाजित है—

(क) रसभ (बाल-लीला)	1—440 =	440 छन्द
(ख) रास मण्डल	441—756 =	316 छन्द
(ग) गोपी विरह	757—1028 =	272 छन्द
(घ) युद्ध प्रबन्ध	1029—2492 =	1464 छन्द

प्रथम खण्ड में कृष्ण-जन्म, शिशु-सौन्दर्य, उसकी मोहक एवं आकर्षक चेष्टाएँ, हाव-भाव, शिशु-कौतुक, बाल-क्रीड़ा एवं नन्द-यशोदा के वात्सल्य आदि के साथ कृष्ण द्वारा पूतना, शकटासुर, अघासुर, तृणावर्त, चंडूर, बकासुर आदि दैत्यों के वध का वर्णन किया गया है। उल्लेखनीय है कि जहाँ सूरदास कोमल वत्सलता को लेकर चले हैं, वहाँ गुरु गोबिन्द सिंह वीररसपूर्ण दृश्यों में अपना मन अधिक रमा पाए हैं। जहाँ सूर की यशोदा अपने बालकृष्ण को "हाऊ" के डर से बाहर नहीं जाने देती, वहाँ गुरु जी की 'यशोदा' अपने बाल-कृष्ण को पलने में झुलाते हुए भी यही कामना करती है कि उसका यह नन्हा-सा पुत्र ही बड़ा होकर शत्रुओं का संहार

करेगा—

बालक रूप धरे हरि जी, पलना पर भूलत हैं तब कैसे,
मात लड़ावत है तिह को, औ भुलावत है करि मोहित कैसे।
ता छवि की उपमा अति ही कवि स्याम कहे ते फुनि ऐसे,
भूम दुखि अति ही मन में जनु पालत है रिपुदैतन जैसे।

"सूरसागर" और "कृष्णावतार" के काव्य-नायक यद्यपि श्री कृष्ण ही हैं, तथापि उनका अलौकिकत्व भिन्न धरातलों पर चित्रित हुआ है। सूरदास के कृष्ण पूर्ण परब्रह्म, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी हैं, लेकिन गुरु जी के कृष्ण सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होते हुए भी पूर्ण परब्रह्म नहीं हैं। गुरु जी ने "काल" अथवा "अकाल" को ही पूर्ण परब्रह्म की संज्ञा प्रदान की है, जिसकी आज्ञा पाकर विष्णु ने कृष्ण का अवतार धारण किया है। इस प्रकार गुरु जी के कृष्ण परब्रह्म के अनुचर सिद्ध होते हैं।

द्वितीय खण्ड "रास मण्डल" में श्री कृष्ण तथा राधा-गोपियों का सौन्दर्य-वर्णन, पारस्परिक आकर्षण, प्रेम, मान-मनुहार, मिलन, अभिसार आदि का विशद वर्णन किया गया है। गोपियाँ अपने कृष्ण के वेणु-वादन पर मोहित होकर यमुना-तट पर जाती हैं और किस प्रकार कृष्ण के साथ नृत्य, गान, जल-विहार, अभिसार और मान आदि करती हैं, इसका बहुत ही सरस चित्र उपस्थित किया गया है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत कुच-मर्दन, केलि-क्रीड़ा, आलिंगन, चुम्बन आदि के उत्तेजक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। निस्सन्देह, गोपियों की आसक्ति, मोह, विलास, दीप्ति, उल्लास, गर्व, लज्जा, ईर्ष्या, जड़ता आदि का चित्रण करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है, लेकिन कहीं-कहीं अश्लीलता का पुट भी आ गया है।

राधा का मान तथा कृष्ण की मनुहार "रास मण्डल" खण्ड का विशेष आकर्षण है। राधा का मान उसके भोलेपन के कारण अधिक देर तक नहीं टिक पाता। वह शीघ्र ही मान जाती है; कृष्ण की निकटता ही उसके मान-मर्दन का आधार है। रोमांचित हुई वह कठोर बनी भी ढल जाती है तथा कृष्ण के गले लगकर वह सारा मान भुला देती है—

"दोउ जउ हसि बातन संग ढरे तु हुलास बिलास बढ़े सगरे।
हसि कंठ लगाइ लई ललना गहि गाढ़े अनंग ते अंक भरे।
तरकी है तनी, दरकी अंगिआ गर माल ते टूटकें लाल परे।।
पिय के मिलाप तिया के हिये अंगरा बिरहा गिनके निकरे।।

"गोपी विरह" खण्ड में कृष्ण के मथुरा-गमन के समय तथा तत्पश्चात् गोपियों की जो करुण दशा हुई, उसका चित्रण किया गया है और गोपियों की अधीरता, विह्वलता, व्याकुलता, आतुरता, वेदना और उन्माद आदि की व्यंजना

की गयी है। उद्धव-गोपी-संवाद भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, परन्तु भक्ति एवं योग और निर्गुण-सगुण के विवाद से उनकी करुण अभिव्यक्ति को बोझिल नहीं बनाया गया। उनमें नन्ददास की गोपियों की-सी वाक्-पटुता, तर्क-नैपुण्य एवं वाक्-विदग्धता भी नहीं है। वे उद्धव के सामने अपनी हृदयगत करुण-मनोदशा को सहज एवं संवेदनशील रूप में प्रकट करती दिखायी गयी हैं। उनके विरह-वर्णन में ऊहात्मकता, कृत्रिमता एवं चमत्कार-प्रदर्शन भी नहीं है। बारहमासे के माध्यम से भी कवि उनकी विरह-वेदना की संयमित एवं मार्मिक अभिव्यंजना करता है।

प्रस्तुत खण्ड में गुरु गोबिन्दसिंह ने अनेक नवीन उद्भावनाओं का भी समावेश किया है। यथा—

(1) यद्यपि प्रस्तुत खण्ड का शीर्षक 'गोपी-विरह' है, तथापि इसमें श्रीकृष्ण द्वारा सर्पयोनि से सुदर्शन ब्राह्मण का उद्धार, वृषभासुर, केशी दैत्य, चनूर, मुष्टक आदि का वध, कुब्जा उद्धार, माता-पिता की मुक्ति, अग्रसेन को राज्य देना, धनुर्विद्या सीखना आदि का रुचिपूर्वक चित्रण करके यह दर्शाया गया है कि कवि को कृष्ण के वीर-भाव से ही अधिक लगाव है।

(2) गुरु जी के उद्धव और अक्रूर, सूरदास के उद्धव और अक्रूर के समान, मात्र सन्देशवाहक ही नहीं, अपितु वीर-योद्धा भी हैं।

(3) गुरु जी ने बाबा नन्द के विरह-वात्सल्य का भी हृदयग्राही चित्रण किया है, जबकि हिन्दी-कृष्ण-काव्य में बाबा नन्द का यह रूप प्रायः उपेक्षित ही रहा है। उद्धव के आने पर नन्द बाबा भी गोपियों की तरह द्रवित हो उठते हैं—

नन्द कह्यो संगि उधव के कबहूँ हरि जी मुहि चित कयो है।
ये कहि कै सुध स्यामहि कौ धरनी पर सो मुरझाइ पयो है॥

अथवा

दै विधि नैं हमरे गृह बालक पाप बिना हमते फिर छीनो।
यौं कहि सीस झुकाइ रह्यो बहु सोक बढ्यो अति रोदन कीनो॥

(4) सूरदास ने 'भ्रमरगीत' के अन्तर्गत भ्रमर को माध्यम बनाकर प्रेमा-भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है, जबकि गुरु जी ने भ्रमर का सहारा लिए बिना 'गोपी-उद्धव संवाद' के माध्यम से उसी उद्देश्य की पूर्ति की है।

(5) गुरु जी ने विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्तर्गत "बारहमासा" का सुन्दर प्रयोग किया है, जो सूर-काव्य में उपलब्ध नहीं है।

जहाँ तक यशोदा के विरह-जनित वात्सल्य का सम्बन्ध है; यदि यह कहा जाय कि गुरु जी ने सूरदास का अनुसरण किया है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

निम्नांकित उदाहरण हमारे इस कथन का साक्षी है —

जसुदा बार-बार यों भाखे ।
है कोऊ हितू हमारो ब्रज में जो चलत गोपालहिं राखे ।

(सूरसागर)

रोवन लाग जबै जसुधा अपुने मुखि ते इह भांत सो भाखै ।
को है हितू हमरो ब्रिज मैं चलते हरि को ब्रिज मैं फिरि राखै ॥

(दशमग्रंथ)

"कृष्णावतार" का अन्तिम और मुख्य खंड "युद्ध प्रबन्ध" है, जिसमें कवि ने कृष्ण के जरासन्ध, शिशुपाल आदि के साथ अनेक युद्धों का विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रबन्ध में कृष्ण के पारिवारिक जीवन की अन्य घटनाओं का भी वर्णन हुआ है। उनके पुत्र-पौत्रों के विवाह, कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर सारे ब्रजवासियों के साथ एकत्रित होने, द्विज के मृत पुत्र को यमलोक से वापिस लाने एवं युधिष्ठिर के यज्ञों आदि का भी वर्णन किया गया है, परन्तु अधिक महत्त्व और विस्तार युद्ध-कथाओं को ही दिया गया है। यही इस रचना की एक प्रमुख विशेषता है।

पुराणों में अवतारों के आगमन के दो मुख्य कारण बताये गये हैं—एक दुष्ट-दमन हेतु और दूसरा भक्तों के लिए लीला हेतु। राम, नृसिंह आदि अवतार दुष्ट-दमन के लिए आए, जबकि कृष्ण का लीलामय रूप ही अधिक स्वीकार किया गया। कृष्ण भक्त-कवियों ने उनकी अनेक मनमोहक रास-रसपूर्ण लीलाओं का वर्णन किया है। यदि वे किसी दैत्य का वध भी करते हैं तो वह भी उनकी लीला के अन्तर्गत ही आता है। उनका यह लोक-रंजनकारी रूप ही हिन्दी में प्रचलित रहा है। दूसरी ओर 'दशमग्रंथ' का कृष्ण केवल लीला-हेतु नहीं आया, वरन् दुष्टदमन करना ही उसका उद्देश्य है। कंस के केश पकड़कर जिस प्रकार कृष्ण उसका वध करते दिखाए गए हैं, उससे उनका बाल-लीला या किशोर-कौतुक का रूप प्रकट नहीं होता, वरन् वे एक दुष्टदमनकारी, असुर-संहारक, संतरक्षक, लोक-नायक के रूप में सामने आते हैं।

वस्तुतः, "कृष्णावतार" हिन्दी की कृष्ण-काव्य परम्परा में सम्भवतः पहला ग्रन्थ है, जिसमें कृष्ण के युद्धों का इतनी विशदता और विस्तार से वर्णन किया गया है। सम्भवतः, पहली बार इसी रचना में कृष्ण एक असुर-संहारक, धर्म-संस्थापक धर्मवीर, युद्धवीर एवं लोकरक्षक के रूप में चित्रित हुए हैं। कृष्ण के इतने विशद-व्यापक चरित्र को लेकर लिखा जाने वाला भी यह पहला और अकेला प्रबन्ध है। निश्चय ही, "कृष्णावतार" में कवि ने "कृष्ण के इस रूप को

ग्रहण करके युग-चेतना के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया है। उसने युगीन परिस्थितियों की माँग को पूरा करते हुए कृष्ण के युद्धवीर, देश और धर्म के रक्षक रूप को ही महत्त्व दिया है। कवि ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है—

अवर वासना नाहि प्रभ धरम जुद्ध की चाइ।

हिन्दू सिख एकता का ज्वलंत दस्तावेज

'गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ' (60,000 छन्दों का महाकाव्य) में मध्ययुगीन मानसिकता

साहित्य मूलत: लेखक की वैयक्तिक संवेदनशीलता एवं सृजनशील प्रतिभा का परिणाम होता है, तथापि युग-परिवेश अथवा युगीन-मानसिकता से वह सर्वथा असंपृक्त अथवा अप्रभावित नहीं रह सकता। साहित्य न तो युग-परिस्थितियों का दर्पण मात्र होता है और न ही समाज का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब। फिर भी युग-जीवन और युग-बोध से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐतिहासिक इतिवृत्त को लेकर लिखे गये काव्य में यह सम्बन्ध और भी अधिक व्यापक, दृढ़ एवं बहु-आयामी होता है। लेकिन, कल्पनाशील एवं स्वतन्त्रवेत्ता होने के नाते एक प्रतिभावान साहित्यकार युग-परिवेश को अपनी निजी मानसिकता, दृष्टि और उद्देश्य के अनुरूप ही अभिव्यक्ति देता है।

ऐतिहासिक काव्यों में कवि को एक साथ कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। पहले तो उसे उस युग की स्थिति और परिवेश का यथार्थ एवं जीवन्त चित्र प्रस्तुत करना होता है, जिस युग से वह रचना सम्बन्ध रखती है। फिर उसे यह स्पष्ट करना होता है कि उसके चरित्र-नायक ने उन परिस्थितियों में किन-किन स्तरों पर, कैसे और क्या-क्या युगान्तर उपस्थित किया और एक इतिहास-पुरुष के रूप में उसका क्या योगदान और महत्त्व था। इसके साथ ही उसे अपने युग की आवश्यकताओं, मांगों और चुनौतियों से भी जूझना पड़ता है। अपने युग-परिवेश को कथा-तत्त्व में आरोपित करते हुए अपने युग की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक शक्तियों अथवा युगीन-मानसिकता का पर्यावलोकन करते हुए उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनी होती है। अपने मनन और चिंतन के आधार पर नवीन सांस्कृतिक-सामाजिक संरचना, नयी दृष्टि और दिशा का संकेत करना होता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास अपनी रचनाओं में रामकथा का वर्णन करते हुए एक ओर 'कलिकाल वर्णन' के माध्यम से अपने युग की शोचनीय दशा का वर्णन करते हैं, तो दूसरी ओर 'रामराज्य वर्णन' के अन्तर्गत एक स्वस्थ

एवं मंगलकारी साम्राज्य की अपनी संकल्पनाओं को प्रस्तुत करते हैं। यही नहीं, उसकी चुनौतियां यहीं समाप्त नहीं हो जातीं, क्योंकि साहित्य केवल समकालीनता का द्योतक नहीं है। साहित्य एक ऐसी अमर ज्योति है, जिसका प्रकाश अनन्तकाल तक प्रवाहमान रहता है और वह युग-युग के अंधकार को विदीर्ण करने की क्षमता रखता है। यही कारण है कि कालान्तर में भी प्रत्येक कृति का अध्ययन एवं मूल्यांकन होता रहता है और प्रत्येक पाठक अपनी-अपनी समकालीनता और अपनी मानसिकता के संदर्भ में उस कृति को प्रासंगिकता और उपयोगिता की परख करता रहता है।

आवश्यकता इस बात की है कि जब हम किसी ऐतिहासिक काव्य कृति का मूल्यांकन करने लगते हैं तो किसी पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह को त्यागकर और बिना किसी विशेष विचारधारा अथवा समीक्षा-प्रणाली तक स्वयं को सीमित रखे, उस रचना के स्थूल कथा-शरीर के भीतर उसकी जो सूक्ष्म बहु-आयामी चेतना है, उस तक पहुंचने का प्रयास करें।

मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि भाई संतोखसिंह की अमर कृति "गुरु प्रताप सूरज" उपर्युक्त सभी चुनौतियों का सक्षमता और सार्थकता से सामना करने वाली एक विलक्षण महत्त्व की रचना है। 'गुरु प्रताप सूरज' 19वीं शती के पूर्वार्द्ध में लिखा गया एक बृहदाकार महाकाव्य है, जिसमें दस सिख-गुरुओं के जीवन एवं चिंतनधारा को कथानक का आधार बनाया गया है। इसमें एक ओर तो गुरुओं के जीवनवृत्त तथा उनके युग के समस्त ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक वातावरण का जीवन्त चित्रांकन हुआ है, दूसरी ओर उस परिवेश की पृष्ठभूमि में गुरुओं ने जो नवीन सांस्कृतिक-सामाजिक उद्बोधन किया, उसकी निष्ठापूर्वक अभिव्यंजना की गयी है। इसीलिए इसे सिख-इतिहास, धर्म, दर्शन, और संस्कृति का 'विश्वकोश' भी कहा जाता है। लेकिन, इसके साथ ही यह हिन्दुओं की उन सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्पराओं का भी रत्नाकर है, जो भाई संतोखसिंह के निजी परिवेश से सम्बद्ध थी। इसमें जहां एक ओर सिख-गुरुओं के जीवन-काल का लगभग 300 वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास उपलब्ध है, वहां 19वीं शती के पूर्वार्द्ध की, जब इस ग्रंथ की रचना हुई, सभी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थितियों, उस युग की मानसिकता और चुनौतियों का भी यथार्थ चित्रण हुआ है। भाई संतोखसिंह ने अपनी प्रतिभा और चिंतन के बल पर उस मानसिकता को जो नयी दिशा और आयाम दिये हैं, उनका भी दिग्दर्शन होता है।

आज देश में अनेक विघटनकारी एवं अलगाववादी तत्त्व राष्ट्रीय-एकता और अखंडता के लिए एक चुनौती बने हुए हैं। "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ की समन्वय-वादी एवं मानवतावादी प्रवृत्तियां अपनी विशिष्ट युगीन प्रासंगिकता लिये हुए हैं। इस प्रकार यह ग्रंथ अनेक स्तरों पर मध्ययुगीन एवं आधुनिक मानसिकता

को उजागर करके उसे झकझोर कर नयी दिशा प्रदान करता दिखाई देता है। "गुरु प्रताप सूरज" एक ऐतिहासिक प्रबंध काव्य है, न कि इतिहास ग्रंथ। इतिहासकार तटस्थता से विविध ऐतिहासिक प्रसंगों का वर्णन करता है—लेकिन भाई संतोखसिंह ने पूर्ण धार्मिक निष्ठा से गुरुओं के चरित्र का निरूपण किया है। "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ का रचयिता कवि न तो गुरुओं का समकालीन है और न ही किसी गुरु का दरबारी कवि। यद्यपि उसने उनकी सभा को "गुरु-दरबार" कहा है, लेकिन कवि ने स्पष्ट किया है कि उस "दरबार" में न तो राजदरबारों जैसा वैभव और विलास है और न ही "आम-खास" का भेद है। वहां राजा और रंक सभी एक समान हैं। सभी एक ढंग से सम्मिलित भोजन करते हैं। संग्रह की वहां कोई प्रवृत्ति नहीं है। जो अन्न आता है, प्रतिदिन उसका भोजन हो जाता है। जहां रबाबी गीत गाये जाते है और हरि-कीर्तन होता है। कवियों ने गुरुओं को "भव-भार उतारने" तथा "तुरकान को तेज निवारने" के हेतु अवतरित परमेश्वर का रूप माना है और उनके प्रति दृढ़ निष्ठा प्रकट की है।

भाई संतोखसिंह एक युग-प्रवर्त्तक कवि थे। इसलिए ऐतिहासिक संदर्भों का उपयोग उन्होंने अपने युग-परिवेश के संदर्भ में कुशलता से किया है और अपने युग की मानसिकता को ध्यान में रखते हुए, गुरुओं ने जन-जीवन में जिस नवीन सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना का संचार किया था, अपने युग-बोध के अनुरूप उसकी सार्थक अभिव्यक्ति की है। "गुरु प्रताप सूरज" में जो यवन-विरोधी स्वर है—यह उसी की देन है। "गुरु प्रताप सूरज" में स्पष्ट कहा गया है कि गुरुओं ने—

"तुरक तेज द्रिढ तरू उखारा। हिन्दू धर्म को राख्यो प्रतिपारा।।"

यहां नृशंस तुरक शासकों, उनके उमरावों, सरदारों और धर्मान्ध तथा असहिष्णु मुल्लाओं के लिए हिंसक पशु, उल्लू, चमगादड़, जंबुक आदि प्रतीकों का प्रयोग किया गया है और गुरुओं को "हिन्द की चादर", "हिन्दू धर्म के रक्षक", "हिन्दू धर्म के आसरा", "हिन्दुओं के प्रतिपालक" कहा गया है।[1] इस प्रकार के मनोवेगों की अभिव्यक्ति की सार्थकता की परख के लिए उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय मानसिकता पर विचार करना होगा, जिसका "गुरु प्रताप सूरज" में विस्तार से निरूपण हुआ है।

कई सौ वर्षों के सतत् यवन-आक्रमणों के फलस्वरूप भारतीय राजशक्ति ही पराजित नहीं हुई थी, वरन् उन्होंने अपने आतंक तथा अत्याचारों से सामान्य

1 हिन्दू धर्म रखहि जग मांही। तुमरे करे बिनस है नाही।
हिंदु धरम जग लियो बचाई। पथि पुरगन की कीनि सहाई।
हिंदू धरम के आसरा तुरकन तेज बिनासा।
श्री गुरु गोबिंद जी तमो चरण के पास।
हिंदु लाज राखी बन चादर।।

लोगों की मानसिकता को भी पराजित कर दिया था और उनके मनों में साहस, शौर्य और निर्भयता का स्थान उदासीनता, निराशा तथा भय ने ले लिया था। वे समझते थे कि कोई शासक हो—लोधी हों, तुर्क हों—पठान हों, या मुगल हों, उन्हें इससे क्या फर्क पड़ता है ? उन्हें तो गुलाम होकर ही रहना है। हिन्दुओं की इस मनोवृत्ति की अभिव्यंजना तुलसीदास ने मंथरा की इस उक्ति के माध्यम से बड़ी सहजता से की थी—

"कोउ नृप होउ हमहि का हानी,
चेरी छाडि अब होब कि रानी"

(रामचरित्मानस-अयोध्याकाण्ड 16/3)

तुर्कों का तेज इतना बढ़ गया था कि समस्त हिन्दू जनता अपने को इतना असहाय और असमर्थ समझती थी कि उनके अत्याचारों के विरुद्ध अपना मुंह तक नहीं खोल सकती थी, इस दशा का वर्णन भाई संतोखसिंह ने 'गुरु नानक प्रकाश' में इस प्रकार किया है—

"हिन्दू कोई न कहि सके, तुरकन तेज बिसाल।
परमेसुर ही पत राखई, सिमरहि दीन दयाल॥

(ना० प्रकाश पू० 31/4)

हिन्दुओं की इस दयनीय मानसिकता को झकझोर कर उनमें नयी चेतना जगाने और अत्याचार, अन्याय और अधर्म के विरुद्ध साहस और निर्भयता से लड़ने का उत्साह पैदा करने के लिए गुरुओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। गुरु नानक ने परब्रह्म की ' निरभऊ और निरवैर" के रूप में परिकल्पना की है, जो इस बात का संकेत है कि मनुष्य को भी परमात्मा के समान—"निर्भय" और 'निर्वैर' होना चाहिए। गुरु तेगबहादुर ने इस अवधारणा को और अधिक ओजस्वी शैली में पुष्ट किया और कहा—

भय काहू कउ देति नहि नहि भै मानत आनि।
कहु नानक सुनि रे मना गिआनी ताहि बखानि॥

उन्होंने अपने अपूर्व त्याग और बलिदान से अपनी निर्भयता और निर्वैर चेतना का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया और जन-चेतना को इतना हिला दिया कि साहस और शौर्य की प्रतिमूर्ति संत योद्धा गुरु गोविन्दसिंह को यह घोषणा करते सुना गया—

"धन्य जिउ तिह को जग माहि, मुख तैं हरिनाम चित मैं जुद्ध विचारै।

गुरु गोविन्दसिंह के जीवन और उनकी रचनाओं से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्होंने अपने निजी शौर्य और साहस, पराक्रम और निर्भयता से तथा उत्साहपूर्ण एवं ओजस्वी उक्तियों से उस युग की स्त्रैण एवं पौरुषहीन मनोवृत्ति को झकझोर कर जन-जन में साहस,

निर्भयता, शौर्य और पौरुष की चेतना जागृत कर दी थी।

गुरु गोविन्दसिंह के पश्चात् गुरुओं के जीवन पर आधारित जो भी काव्य लिखे गये उनमें यह वीरोचित पौरुष की भावना ओजस्विता से व्यंजित हुई है। लेकिन, साथ ही यवन-विरोधी स्वर भी प्रखर होता गया है। "गुरु विलास" (सुक्खासिंह) में एक ओर तो गुरु गोविन्दसिंह यह उत्साह प्रदर्शित करते पाये जाते हैं कि—

असपानज तदस कहांउ। चिरीअन पै जब बाज तुराउं।

[गुरु विलास : 12/185]

और दूसरी ओर वीरों को अधर्म और अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए ललकार लगाते दिखाई पड़ते हैं—

सभै को सुनाई / कृपा सिंध गाई।
गहो खग्ग पानी /मंडो जुद्ध धानी। 75।
प्रलोक सवारो / सभा सो निहारो।
नहीं चित कीजै / इहै जसु लीजै। 76।
समं धरम जुद्धं / नहीं लोक मद्धं।
जसं कोट जग्गं / प्रभं दान अगं।

[गुरु विलास-अध्याय 21]

निःसंदेह, यवन-विरोधी स्वर इस रचना में बहुत तीव्र है। लेकिन, यह उस युग की सामान्य मानसिकता का द्योतक है। दशम गुरु के परलोक गमन के पश्चात् यवनों के प्रति हिन्दुओं में रोष निरन्तर बढ़ता जा रहा था। यवनों के अमानुषिक अत्याचारों, दमन और नृशंसतापूर्ण व्यवहार के कारण हिन्दुओं में उनके प्रति जो घृणा और विद्वेष था, उसकी अभिव्यक्ति "गुरु विलास" तथा "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथों में प्रखरता से हुई है। गुरुओं के आगमन से पूर्व हिन्दू चुपचाप इन अत्याचारों को सह रहे थे, लेकिन गुरुओं ने जो नयी चेतना उनके मानस में जागरित कर दी थी, उसके कारण अब वे उसे चुपचाप सहने की बजाय उसका प्रतिकार करने को तत्पर थे। "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ में पौरुष की यह चेतना आद्यन्त परिव्याप्त है। इसीलिए सभी गुरुओं के प्रति अपनी भक्ति और निष्ठा व्यक्त करते हुए भी अन्ततः भाई संतोखसिंह वीर-पुरुष गुरु गोविंदसिंह की शरण में जाना चाहते हैं और कहते हैं—

अब आन की आस निरास भई।
कलगीधर बास कियो मन मांही॥

लेकिन, यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि इस ग्रंथ में वीर-भावना के अतिरिक्त आध्यात्मिकता एवं उदात्त मानवीय चेतना का स्वर भी बड़ी तीव्रता से मुखरित हुआ है। यही कारण है कि उस युग में यवनों के अत्याचारों और अन्याय के विरुद्ध

जो आक्रोश और घृणा थी उसे तो अभिव्यक्ति दी गयी है, लेकिन किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय का विरोध नहीं किया गया है।

"गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ से पता चलता है कि उस समय समाज में वर्ण-व्यवस्था का काफी महत्व था। यहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है। यह भी पता चलता है कि समाज में ब्राह्मणों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। जन्मोत्सव, यज्ञोपवीत, मुंडन, विवाह अथवा मृत्यु-संस्कार आदि सभी सामाजिक एवं धार्मिक संस्कारों में उनकी उपस्थिति आवश्यक समझी जाती थी। गुरुओं ने वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-पाति का खुलकर विरोध किया था, जिससे बहुत से लोग प्रभावित थे। भाई संतोखसिंह ने इस पक्ष को भी समुचित रूप से उद्घाटित किया है और अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया है—

जाति कुजाति न परखई कोई (रा० 1/40/12)

गुरुओं ने वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-विषमता को समाप्त करने के लिए लंगर-प्रथा का प्रवर्त्तन किया था। "गुरु प्रताप सूरज" में यद्यपि अनेक जातियों, उपजातियों का उल्लेख हुआ है, तथापि अनेक लोगों को जाति-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन करके गुरु घर की देग से एक साथ बैठकर भोजन करते दिखाया गया है। इस प्रकार गुरुओं की प्रेरणा से समाज में सामाजिक समानता की जो नवीन चेतना जागरित हो रही थी, उसका भी इस ग्रंथ में समुचित रूप से निरूपण हुआ है।

समाज में दो वर्ग विशेष रूप से विद्यमान थे। साधारणतः इन्हें 'राव' एवं 'रंक' कहा जाता था। इन दोनों वर्गों के बीच की खाई काफी गहरी थी। एक ओर शासक-वर्ग से संबंधित राजा, मन्त्री, सचिव, उमराव, सेनापति तथा बड़े, व्यापारी और साहूकार थे, जो धनी और सम्पन्न थे, तो दूसरी ओर कुम्हार, धोबी, जुलाहे, पथरिए, लोहार, बढ़ई, झींवर, दर्जी, रसोइये, हलवाई, लंगरी, नाई, गड़रिये, ग्वाले, सूअर व खर पालने वाले, टोकरी ढोने वाले मजदूर, घास बेचने वाले, तैराक, माली, छोटे कलाकार जैसे नट, भाट, रबाबी, डोम आदि साधारण शिल्पी एवं कारीगर, कृषिकार तथा व्यापारी आदि लोग थे। धनी वर्ग के लोग बहुमूल्य रेशमी वस्त्र और हीरे-मोतियों से जड़े सोने के आभूषण पहनते थे, उत्तम भोजन करते थे, जबकि निर्धन लोगों को डेढ़ गज का वस्त्र पहनकर और बाजरे और चने की रोटी खाकर ही गुजारा करना पड़ता था। समाज में गुरुओं की प्रेरणा से शोषण एवं वर्ग-विषमता के प्रति विरोध बढ़ रहा था, जिसे "गुरु प्रताप सूरज" के भाई भागो और लालो के प्रसंग के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। अधिकतर लोग निर्धन अवश्य थे, किन्तु वे संतोषी और संयमी थे और धन-संग्रह के लिए अपनी नैतिकता को नहीं त्यागते थे। इस ग्रंथ से यह भी विदित

होता है कि सामान्य जनता की लौकिक-वैदिक रीति, श्रुति-स्मृति आदि में भी दृढ़ आस्था थी। आम लोगों में अनेक अन्ध-विश्वास एवं वहम थे। भूत-प्रेत, डाकनियों, तन्त्र-मन्त्र, टोने-टोटकों, शकुन-अपशकुन में भी लोगों का विश्वास था। अधिकतर लोगों में "भेड़चाल" थी (रा० 2/46/32-33)। गुरुओं ने इन अन्ध-विश्वासों का विरोध किया था, जिसने बहुत से लोगों को प्रभावित किया था। "गुरु प्रताप सूरज" में इसकी भी झलक मिलती है। यहां यह भी दिखाया गया है कि लोग नामकरण, मुण्डन, विवाह एवं मृत्यु आदि संस्कारों का परम्परागत रूप से पालन करते थे और होली, जन्माष्टमी, विजय दशमी आदि पर्व उत्साह से मनाते थे। ज्योतिष में भी उनका विश्वास था। वे जन्मपत्रियां और हस्त-रेखायें भी दिखाते थे। जन्मोत्सवों में मंगल गीत गाये जाते थे और खुसरे नाचते थे। विवाह के समय दहेज प्रथा भी प्रचलित थी। इस प्रकार मध्यवर्गीय परिवारों की सारी मानसिकता, उनकी आस्थायें, विश्वास, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, उनके पर्वों, उत्सवों, संस्कारों और अनुष्ठानों आदि का पूर्ण चित्र इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है। परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, सास-ससुर, ननद-भाभी, चाचा-भतीजा तथा अन्य कुटुम्बियों के पारस्परिक संबंधों-स्नेह, सद्भावना एवं कर्तव्य-भावना आदि का भी विशदता से चित्रण हुआ है।

नारी के प्रति समाज की क्या दृष्टि थी और समाज में नारी की क्या स्थिति थी, इस पर भी इस ग्रंथ में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। नारी के माता, दादी, पत्नी, पुत्री, बहिन, ननद, भावज, प्रेमिका, सौत, सखी, वेश्या, सेविका आदि अनेक रूपों के दर्शन होते हैं। बहु-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। हरिपुर के राजा की अनेक रानियां थी। प्रायः लड़की को पूछे बिना ही पिता पुत्री का विवाह निश्चित कर देते थे। कई बार कन्या की माता को भी नहीं पूछा जाता था। गुरु जी की इच्छा पूर्ति हेतु ही शाह-उप्पल अपनी पुत्री का विवाह गुरु-कृपा से रोग मुक्त एक कुष्ठी से कर देते हैं। कन्या प्राप्ति के लिए राजा युद्ध भी कर लेते थे। स्त्रियों का पुनर्विवाह भी हो जाता था। हरिपुर की जो रानी गुरु-वाक् से पगली हो गई थी, बाद में गुरुजी उसका विवाह अपने एक सेवक से करवा देते हैं। राजा तो उसे उस दशा में छोड़कर चला ही गया था। यह नारी के प्रति पुरुष के उपेक्षा-भाव का भी परिचायक है।

नारी को 'अबला' ही समझा जाता था। "मति अबलायो भूले" पद से यही संकेत मिलता है। यह भी माना जाता था कि सुखी दाम्पत्य जीवन पुरुष-स्त्री के विश्वासपूर्ण मधुर और संयत सम्बन्धों पर ही निर्भर होता है। इसलिए पतिव्रता का आदर्श सर्वमान्य था। स्त्रियों में पर्दा-प्रथा भी प्रचलित थी, किन्तु गुरुजी इसके विरुद्ध थे। इसीलिए हरिपुर की उन्हीं रानियों को दर्शनों की आज्ञा दी थी, जो

बिना पर्दे के आई थीं। प्रायः कन्या का विवाह अपनी जाति एवं स्तर के परिवार में ही किया जाता था, किन्तु गुरु अमरदास केवल सुपात्र युवक को देखकर ही अपनी कन्या का विवाह निर्धन रामदास से कर देते हैं। लड़की वाले का स्थान वर-पक्ष से नीचा समझा जाता था। राजपूत प्रायः अपनी कन्या का विवाह यवनों से करने की अपेक्षा उनसे युद्ध करना अधिक गौरवपूर्ण समझते थे। कुंवारी युवा कन्या का अविवाहित घर में बैठे रहना बड़ा कष्टप्रद था। कन्यादान को पुण्य-कर्म समझा जाता था। एक स्थान पर सती प्रथा एवं स्त्री को गिरवी रखने का भी संकेत मिलता है, जो नारी की शोचनीय दशा का संकेत है। वैसे समाज का नैतिक आदर्श यही था—

धरम निरत करि संतन सेवे।
पर त्रिय परधन कबहुं न लेवे॥

इस युग की मानसिकता का विशेष परिचय उसकी धार्मिक भावना से मिलता है। प्रायः सभी लोग आस्तिक एवं धर्मभीरु थे। ईश्वर, जन्म-मरण, कर्म-फल, भाग्यवाद आदि में उनकी पूर्ण आस्था थी। जप, तप, योग, यज्ञ, व्रत, दान, तीर्थ-स्नान, शालिग्राम पूजा एवं अवतारवाद में उनका विश्वास था। लोग योगियों, तपस्वियों, फकीरों, देव-देहुरा आदि को भी पूजते थे। मुसलमानों के अतिरिक्त कुछ हिन्दू भी कब्रों को पूजते थे। तप का बड़ा महत्त्व था। हिन्दुओं एवं मुसल-मानों के अनेक मत, पंथ एवं सम्प्रदाय थे। सिद्धों एवं नाथों का भी बड़ा प्रभाव था। सिद्ध करामातें दिखाकर लोगों को चमत्कृत करते थे। तपस्वी, यति, ब्रह्म-चारी, अवधूत, संन्यासी, बैरागी, साधु, ज्ञानी, ध्यानी, भक्त, संत, महंत, दिगम्बर, वैष्णव, शैव, देवी-उपासक (शाक्त), सूफी, मुल्ला, पीर, फकीर अनेक प्रकार के साधकों की चर्चा इस ग्रंथ में मिलती है। तपस्वियों के एक आश्रम का चित्रण करते हुए कवि लिखता है कि कोई वहां उल्टा लटका हुआ है, कोई एक पांव पर खड़ा हुआ है, कोई कंठ तक ठंडे पानी में खड़ा है, कोई पञ्चाग्नि सेवन कर रहा है। कोई जल पर निर्वाह कर रहा है, कोई निराहारी है। कोई जटाधारी है तो कोई वल्कल पहने है, कोई मृगछाला पर बैठा योग साधना कर रहा है, तो कोई भगवान की कथा श्रवण कर रहा है। (गु० ना० प्रकाश पू० अध्याय 14) इस प्रकार के साधकों के प्रति लोगों में बड़ी श्रद्धा थी। सामान्यतः यह श्रद्धा और विश्वास का युग था। गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'रामचरितमानस' के आरम्भ में श्रद्धा और विश्वास का महत्त्व प्रतिपादित किया था और इन्हें क्रमशः शिव और पार्वती-स्वरूपा कहा था।

"गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ में भी श्रद्धा और विश्वास का महत्त्व स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट है। कवि ने यहां तक कहा है कि हृदय से कुतर्क को त्याग कर श्रद्धा-पूर्वक दर्शन करने चाहिए, क्योंकि श्रद्धा त्यागने से अनेक दोष आ जाते हैं और

श्रद्धा के बिना प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकती—

"रिदै कुतरकन दूर करीजे, शरधा धारि देखिये दरशन ।

× × ×

श्रद्धा त्यागे दोष बिसालै, बिन श्रद्धा सो हाथ न आवै ।।

लोगों की इस प्रकार की श्रद्धा और विश्वास की प्रवृत्ति का अनेक पाखण्डी ढोंगी साधक अनुचित लाभ उठा रहे थे । गुरुओं ने ऐसे पाखंडी साधकों का पर्दा-फाश करते हुए तथा बाह्याचारों एवं आडम्बरों का विरोध करके लोगों को धर्म के वास्तविक स्वरूप की पहचान दी थी और उन्हें बार-बार सत्-संगति, सेवा एवं परोपकार करते हुए हरि-स्मरण करने का उपदेश दिया था। गुरुओं के श्रद्धालु सिखों पर उनके उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा था और वे अन्य विभिन्न साधना-पद्धतियों को त्याग कर केवल सेवा और हरि-स्मरण के महत्त्व को स्वीकार करते थे । धार्मिक बाह्याचारों और आडम्बरों में उनकी कोई आस्था नहीं थी। इस प्रकार गुरुओं ने सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जो नवीन-चेतना जागरित की थी, उसने जन-जन की मानसिकता को प्रभावित किया था, जिसके स्पष्ट लक्षण उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में रचित इस ग्रंथ में मिलते हैं।

इस युग में धार्मिक क्षेत्र में एक और विशिष्ट प्रवृत्ति परिलक्षित होती है और वह है—समन्वय की प्रवृत्ति। यद्यपि हिन्दुओं में अनेक मत, पंथ और सम्प्रदाय विद्यमान थे, तथापि उनमें समन्वय स्थापित करने का भी प्रयास निरंतर हो रहा था। निर्गुण और सगुण का विवाद अब मंद पड़ने लगा था और वैष्णवों, शैवों एवं शाक्तों के संघर्ष को समाप्त करके उनमें समन्वय लाने की चेष्टा हो रही थी। गोस्वामी तुलसीदास ने भी यह प्रयास किया था और "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ में भी यह कोशिश निष्ठापूर्वक की गई है। सामान्यतः लोगों का सभी देवी-देवताओं में विश्वास था और वे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, गणेश, वरुण, सूर्य आदि सभी की उपासना और वन्दना करते थे। "गुरु प्रताप सूरज" में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ गुरुओं के जीवन पर आधारित है और उसमें मूलतः और मुख्यतः गुरुमत के दार्शनिक और धार्मिक पक्ष का ही प्रतिपादन किया गया है। तथापि वैष्णव मत की मान्यताओं और विश्वासों का उस पर गहरा प्रभाव है। भाई संतोख सिंह ने एक ओर वैष्णवों और शैवों के समन्वय का प्रयास किया है और दूसरी ओर हिन्दुओं और सिक्खों में समन्वय की चेष्टा की है। इसलिये यहाँ शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा के स्वरूप का वर्णन भी निष्ठापूर्वक किया गया है।[2]

---

2. शिव-ना० प्र० 56/42-43
विष्णु-वही पृ० पृ 70/42-47
ब्रह्मा-ना० प्र० पृ० 66/51-53

सिखमत में गुरुओं ने स्पष्ट रूप से अवतारवाद का खण्डन किया है। लेकिन, "गुरु प्रताप सूरज" में अवतारवादी भावना की पुष्टि हुई है। यहाँ स्वयं गुरु-नानक को अवतारी रूप में निरूपित किया गया है। कवि ने उन्हें ब्रह्मा, शिव और विष्णु के तत्त्वों से निर्मित कहा है। "नानक प्रकाश" में सर्वत्र उनके अवतारत्व की बार-बार स्थापना की गई है। यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनके दर्शनों के लिए आते हैं। लेकिन, साथ ही गुरुनानक शिव, ब्रह्मा एवं विष्णु से संबंधित कथाएँ प्रेम-पूर्वक लोगों को सुनाते हैं। वे त्रिदेव महिमा का वर्णन करते हैं और उनकी अभेदता का प्रतिपादन करते हैं। विष्णु और शिव के सुन्दर रूप का चित्रण भी कवि ने बड़ी निष्ठा से किया है। जिस प्रकार "राम-चरितमानस" में तुलसीदास ने राम द्वारा यह कहलवा कर कि—

"शिव द्रोही मम दास कहावै, ते नर सपनेहि मोहि न भावै।"

शैव और वैष्णव मत के समन्वय का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार "गुरु-प्रताप सूरज" में काक-भुशुण्डि प्रसंग में यह दिखाया गया है कि वह शिव प्रिय था और विष्णु द्रोही, इसी कारण एकदिन स्वयं शिव उसे नरक में गिरने तथा यम की फांसी झेलने का शाप देते हैं, जिससे यह सिद्ध किया गया है कि जिस प्रकार राम को शिव-द्रोही प्रिय नहीं था, उसी प्रकार शिव को विष्णु द्रोही प्रिय नहीं है। इसके अनुसार दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों में एक ही ज्योति है—

करे बिशनु सो द्रोह तूं, गुरु निरादर कीन।
याते यम डंडा सहो, होवहु कसट अधीन। 4।
पर्यो तबहि मैं नरक मझारी। मिली शासना मोको भारी।
गर के बिखे परी जम फासा। कित्यो काल कित तबहि निकासा।
इन महिं भेद न रंचक जानो। द्वै स्वरूप इक ज्योति पछानो।

विष्णु की महिमा का वर्णन "नानक प्रकाश" में अनेक स्थानों पर हुआ है। काक-भुशुण्डि के प्रसंग में शिव की तथा प्रह्लाद के प्रसंग में ब्रह्मा की उपासना का महत्त्व दर्शाया गया है। इस प्रकार कवि ने ब्रह्मा, शिव और विष्णु-तीनों की महिमा का वर्णन किया है और उनकी उपासना में समन्वय की स्थापना की है। यहाँ देवी की स्तुति का अष्टक भी आया है। वस्तुतः, इस प्रकार की उपासना उस युग में इस क्षेत्र के जन-मानस की सामान्य प्रवृत्ति थी, फिर भी कवि ने उनके समन्वय का जो प्रयास किया है, वह उसकी युगीन चेतना का परिचायक है। इसी प्रकार सगुण और निर्गुण की अभेदता का भी निरूपण किया गया है—

निरगुण ह्वै सभिदेहि में द्रिशटावति है सोई।
ब्रिज मैं करे कलोल पुन तन धरि सरगुण सोई।।
(ना० प्र० उ० 9/39)

साधना के क्षेत्र में ज्ञान, विरक्ति एवं भक्ति का समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि कवि ने नाम-स्मरण को सर्वाधिक महत्त्व दिया है तथापि साथ में ज्ञान, वैराग्य और योग का भी विशदता से वर्णन किया है। ये सभी साधना पद्धतियाँ उस युग में किसी न किसी रूप में प्रचलित थी।

कवि ने अपने इष्टदेव गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं के अलावा अन्य हिन्दू-देवी देवताओं और अवतारों के प्रति भी निष्ठा व्यक्त की है। अनेक स्थानों पर कवि ने गुरुजी को राम और कृष्ण अवतार के समकक्ष दर्शाया है। उनकी अनेक लीलाओं की रामावतार और कृष्णावतार की लीलाओं से एकरूपता है। एक स्थान पर तो यहां तक कहा गया है कि गुरु गोविन्दसिंह ने मथुरा-वृन्दावन में उन सभी स्थानों को देखा, जहाँ कृष्ण के रूप में उन्होंने विविध-लीलाएँ की थीं। यहाँ कृष्ण-लीला के अन्तर्गत उस युग में जो विकृतियाँ आ गयी थीं, "नानक-प्रकाश" में गुरु नानक की ब्रज-यात्रा के संदर्भ में उन पर भी प्रकाश डाला गया है (ना० प्र० उ० 7/21)। 'नानक-प्रकाश' में वामन, अदिति, कश्यप, ध्रुव, प्रह्लाद, लोमश-ऋषि, काक-भुशुण्डि आदि अनेक ऋषि-मुनियों, भक्तों एवं अवतारों आदि से संबंधित पौराणिक आख्यान प्रचुरता से आये हैं। "रामायण" और "महाभारत" का कथानक भी उद्धृत है। वस्तुत:, इस ग्रंथ का सारा वातावरण पौराणिकता लिए हुए है जो हिन्दुओं की तत्कालीन सामान्य धार्मिक मनोवृत्ति का परिचायक है और कवि की समन्वय-भावना को प्रकट करता है। उपर्युक्त दोनों ग्रंथों की रचना क्रमश: बूड़िया (अम्बाला) तथा कैथल में हुई थी, जो हिन्दुओं के प्रसिद्ध धार्मिक तीर्थ-स्थानों-कुरुक्षेत्र, पेहवा, कमाल-मोचन, कलायत आदि के बहुत निकट हैं और जहाँ वैष्णवमत एवं हिन्दू-पुराणों का प्रचुर महत्त्व है। इसलिए भाई संतोखसिंह पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। युग की मानसिकता का यथार्थ चित्रण करने की दृष्टि से भी यह समीचीन था। वस्तुत:, "गुरु प्रताप सूरज" तथा "गुरु नानक प्रकाश" में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का बड़ा ही सजीव एवं विशद् वर्णन हुआ है और ये ग्रंथ एक जीवन्त सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित हैं। कवि ने अपने युग-परिवेश के संदर्भ में अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रतिपादन सक्षमता से किया है, जो सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, आज के राष्ट्रीय-संदर्भ में भी उसका विशिष्ट महत्त्व है। गुरु नानक के चरित्र-वर्णन के माध्यम से हिन्दू-सिक्खों की अभेदता एवं समन्वय का निरूपण इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक ओर तो वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि का वर्णन निष्ठा-पूर्वक करते हैं, तो दूसरी ओर गुरु नानक को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के तत्त्वों से निर्मित तथा उन्हीं के समरूप प्रस्तुत किया गया है। अपने इष्टदेव गुरु नानक की महिमा का वर्णन करते हुए वे उनकी "सच्चिदानंद सन्दोह" अथवा "परब्रह्म" के रूप में स्तुति करते हैं। नारद-सारद, सनक-सनंद, इन्द्र-दनिंद्र, चन्द्र-रवि, वरुण-

पवन, ऋषि-मुनि-गन्धर्व भी उनकी परब्रह्म रूप में वन्दना करते दिखाए गए हैं तथा ब्रह्म, विष्णु, महेश उनके दर्शनों के लिए आते हैं[3]। मृत्यु के पश्चात् भी गुरुजी को विष्णु का रूप धारण करके ब्रह्मलोक को प्रस्थान करते दिखाया गया है। भाई संतोखसिंह ने गुरु नानक को "रावण-मर्दन", "कंस-छेदन", "बाली-उर-भेदन", "नरसिंह" और "असुर-संहारक" के रूप में भी प्रस्तुत किया है। यद्यपि गुरु नानक का निराकार ब्रह्म के रूप में चित्रण करके अनेक स्थानों पर उनकी स्तुति की गई है।[4] यथा—

नमो पादकंजं गुरु ध्यान ध्याता। महाँ मोह हंता, धनानंद दाता।
नमो लोक लोकेश्वर लोक कर्ता। सदा सरब थानं सदा सरब भरता।
निराकार साकार एको तूही है। अजा ते परे रूप तेरो सही है।
अलक्खं अभक्खं, अकत्थे अलेखं। अमोहं, अदोहं, अजोहं, अभेखं।
(ना० प्र० उ० 52/42)

डॉ० पुष्पा गोयल के शब्दों में···

"इस प्रकार गुरु नानक की ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा परब्रह्म से समरूपता[5] दिखाकर और शैवों, शाक्तों तथा वैष्णवों की भांति शिव-शक्ति (देवी) और विष्णु के प्रति आस्था प्रकट करके भाई संतोखसिंह ने सिख-मत का इन मतों से समन्वय स्थापित करते हुए हिन्दू धर्म की एक समष्टिगत सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यंजित करने का सराहनीय प्रयास किया है।"[6]

पीछे मैंने "गुरु-विलास" तथा "गुरु-प्रताप-सूरज" ग्रंथ के यवन-विरोधी स्वर की चर्चा की है और उसके कारणों का भी उल्लेख किया है। उसी संदर्भ में मैं यहां यह भी स्पष्ट करना चाहूंगा कि इन ग्रंथों में 'यवन' शब्द उन आतंकवादी शक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो सभी मानवीय-मूल्यों एवं संवेदनाओं को ताक पर रखकर कट्टर-धर्मान्धता और राजनीतिक स्वार्थों के कारण हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार और नृशंसतापूर्ण हिंसा कर रहे थे। ऐसे तत्त्वों के प्रति ही "गुरु-प्रताप सूरज" में घृणा और आक्रोश व्यक्त किया गया है। "मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता और मिथ्याभिमान का भी खण्डन किया गया है लेकिन, इसका

---

3. तिन छिन आइसु को धरि बेसा/आए लै विधि संभु सुरेसा
(ना०प्र० 30/54/7)

4. द्रष्टव्य-डा० पुष्पा गोयल : गुरुनानक प्रकाश : काव्य, संस्कृति और दर्शन पृ० 200-203 (अप्रकाशित)।

5. कै विधि विसनुकि शिव भव लीनो/जगत उधारन लच्छन चीनो।
(गु० ना० प्रकाश-पू 4/18)

6. डा० श्रीमती पुष्पा गोयल—"गुरु नानक प्रकाश : काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० 203 (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध)

यह अर्थ कदापि नहीं कि भाई संतोखसिंह इस्लाम-विरोधी थे।'''गुरु नानक के उपदेशों के माध्यम से वे हिन्दू-मुसलमान, राम-रहीम की अभिन्नता और एकता का प्रतिपादन करके अपनी समन्वयवादी और मानवतावादी चेतना का परिचय देते हैं। गुरु नानक के माध्यम से कवि ने "हिन्दू बड़ा या मुसलमान", "अल्लाह अव्वल है या कोई और?" इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा है कि यह व्यर्थ का विवाद है, ऐसे तत्त्व को न समझने वाले अज्ञानी ही कहते हैं। सभी एक मिट्टी के बने हुए हैं, सभी में एक ज्योति विद्यमान है। वही एक ओंकार है, वही खुदा है, राम-रहीम भी भिन्न-भिन्न नहीं हैं—

एक माटी इक ने करे एक जोति सभि मांहि।
इक सो बन्यो बनाउ तहि भरमहु उर महि नाहि।
एकंकार खुदाई सो राम रहीम न दोइ।

× × ×

हिन्दू तुरक बाद के मांही। बसै शतान शांति ह्वै नांहि।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "गुरु नानक प्रकाश" तथा "गुरु प्रताप सूरज" ग्रंथ यद्यपि गुरुओं के जीवन-चरित्र तथा उनके उपदेशों और आदर्शों को आधार बनाकर लिखे गए काव्य-ग्रंथ हैं, तथापि भाई संतोखसिंह ने संकुचित धार्मिक मनोवृत्ति से इन ग्रंथों की रचना नहीं की, वरन् एक उदारतावादी और उदात्त चेतना को लेकर समन्वयवादी और मानवतावादी संस्कृति की संरचना का संकल्प लेकर इन ग्रंथों की रचना की गई है।

इन ग्रंथों में उत्तरमध्यकाल के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश तथा 18 वीं-19वीं शती की समग्र मानसिकता का ही विशदता से निरूपण नहीं हुआ, वरन् उस मानसिकता को नवीन राष्ट्रीय तथा मानवतावादी सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य, आयाम और दिशाएं देने का भी सफल, सक्षम और सराहनीय प्रयास किया गया है।

●

7. वही, पृष्ठ 204-205

खड़ी बोली गद्य का इतिहास—पुनर्विचार

हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकार हिन्दी-भाषी क्षेत्र के रहने वाले थे और उन्होंने अपना अध्ययन भी मुख्यतः इसी क्षेत्र में उपलब्ध साहित्य तक सीमित रखा। इन विद्वानों के समक्ष न तो सम्भवतः ऐसी सामग्री आई और न ही उन्होंने इस ओर कोई विशेष प्रयास ही किया लगता है, जिससे इस क्षेत्र के बाहर के हिन्दी साहित्य का भी कुछ परिचय मिल पाता। इसलिए उनकी यह धारणा बनी रही कि मध्यकाल में हिन्दी साहित्य का सृजन और पोषण केवल इसी क्षेत्र में हुआ।

इस धारणा का मूल कारण यह रहा कि हिन्दी को देवनागरी लिपि के साथ जोड़कर ही देखा गया। फ़ारसी लिपि में उपलब्ध हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों के सामने आने पर भी यह नहीं सोचा जा सका कि अन्य लिपियों में भी हिन्दी का साहित्य उपलब्ध हो सकता है। इधर गुरुमुखी लिपि और पंजाबी का ऐसा अटूट सम्बन्ध बन गया था कि जो कुछ भी गुरुमुखी लिपि में लिखा देखा गया, उसे पंजाबी का साहित्य समझ लिया गया; जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध प्रायः सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य हिन्दी का ही है। पंजाब के विभिन्न पुस्तकालयों में तथा कुछ निजी संग्रहालयों में गुरुमुखी में रचित ऐसे सहस्रों ग्रंथ उपलब्ध हैं। पिछले दशक में इस क्षेत्र में जो शोध-कार्य हुआ है, उससे पर्याप्त सामग्री हिन्दी जगत के समक्ष आई है, किन्तु खेद है कि हिन्दी के इतिहासकार अभी भी इसे उदारता के साथ ग्रहण नहीं कर पाये हैं। इसलिए हिन्दी साहित्य के इतिहासों में जो कमी पहले थी, वह अभी भी बनी हुई है और तब तक बनी रहेगी, जब तक इस साहित्य को समुचित स्थान वहां नहीं मिलेगा। क्योंकि, परिमाण की दृष्टि से भी यह साहित्य विपुल है और उसमें कुछ नवीन प्रवृत्तियों एवं तथ्यों के भी दर्शन होते हैं।

इसमें गद्य एवं पद्य दोनों प्रकार की रचनाएं मिलती हैं। गद्य में 'गोष्ठी', 'कथा' तथा 'साखी' सम्बन्धी कुछ मौलिक साहित्य भी मिलता है, किन्तु अधिक-तर रचनाएं अनूदित हैं। "अनुवाद उस उपकारिणी नहर के समान है, जो ज्ञान

-विज्ञान और कला के किसी शाश्वत उत्स के सभी प्राणवान तत्त्वों को आत्मसात् कर किसी साहित्य की मरुभूमि को विचारों और भावनाओं की सनातन हरीतिमा प्रदान किया करती है।" कुछ विद्वानों की धारणा है कि अनुवाद अथवा टीकाओं की प्रवृत्ति चिंतन की जड़ता की परिचायिका है। यह बात किसी सीमा तक ठीक भी कही जा सकती है, लेकिन साथ ही यह भी कह सकते हैं कि अनुवाद के माध्यम से साहित्य की जड़ता, जीवन की कुंठित गति और अभिव्यक्तिगत शिथिलता को युगद्रष्टा साहित्यकार दूर भी किया करते हैं। मध्ययुग में पंजाब के लेखकों ने भी संस्कृत, फ़ारसी, अवधी, ब्रज आदि भाषाओं से श्रुति, स्मृति, वेदान्त, योग, दर्शन, पुराण, ज्योतिष, रसायन, वैद्यक, गणित, भूगोल आदि विविध विषयों से सम्बन्धित रचनाओं का अनुवाद करके जन-साधारण के ज्ञान की अभिवृद्धि की, उनका मनोरंजन किया, "उनके धार्मिक विश्वासों को दार्शनिकता का ठोस आधार दिया एवं नैतिकता एवं कर्मठता का नव-सम्बल प्रदान किया।"

इस कथन में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि जिस जीवन्त चेतना के दर्शन इस साहित्य में होते हैं, हिन्दी भाषी प्रदेश के इस काल के हिन्दी-साहित्य में उसका प्रायः अभाव है। काव्य-रचनाओं में यह चेतना और भी अधिक प्रखरता के साथ मुखरित हुई है।

इन गद्य रचनाओं का भाषा की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। इन ग्रंथों की भाषा का गठन खड़ी-बोली की परम्पराओं के अनुरूप है। वस्तुतः, खड़ी-बोली गद्य के प्रारम्भिक रूप के दर्शन, इन्हीं रचनाओं में होते हैं और इनके प्रकाश में आने से खड़ी बोली गद्य के इतिहास में एक नये क्षितिज का उद्घाटन होता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार प्रायः भारतेन्दु-काल से ही खड़ी-बोली का उद्भव मानते रहे हैं, जबकि इन रचनाओं के आलोक में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि खड़ी बोली गद्य का उद्भव चार-पाँच सौ वर्ष पहले ही हो चुका था।

भाषा की दृष्टि से 'सचुखंड पोथी' (मिहरिवानु—1581-1640 ई०), 'सुखमनी सहस्रनाम' एवं 'गोसट गुरु मिहरिवान (हरिजी—1610-1696), 'अश्वमेध भाषा' (टहकण—1663 ई०), 'योग वासिष्ठ भाषा' (रामप्रसाद निरंजनी—1674 ई०), "पंचामन उपनिषद भाषा' (जमि प्रहलादि —1719 ई०), 'पारस भाग' (अड्डनशाह—1730 ई०) आदि रचनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन रचनाओं में से कुछेक उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

(क) "तब माता जी सुणि करि चुपनी होइ करि जाइ करि इकसु पंडत कउ बुलाइ ले आई। जब गुरु बाबा नानकुजी देखे तब... देखि करि गुरु बाबा नानक जी

खरा खुसी होइया। माता का हितु देखि करि। जि धनु हो माताजी। तूं धनि।"
(सचुखंड पोथी, पृ०41-46)

(ख) "अब आगे कथा निरंजनि निरंकारी कार की चली। जबि जिसका नाम सचु है। तिनि जितने खंड ब्रह्मंड थे जितने अकासि पतालि थे।…तिन की परलैं नसि कार कैं आपने विखैं समाइ लीए।"

(सुखमनी सहस्रनाम, पत्र-2 ख)

(ग) "तब गुरु मिहरिवान जी पचीस-छबीस बरस का भैया। तब गुरु साहिब जी की सेवा लागा करने।…गुरु साहब के महल की भी सेवा करे। ऐसी सेवा करी। जि गुरु साहिब जी का, मनु अपनी उरि खिच लीआ।"

(गोसट गुरु मिहरिवान, पत्र-17)

(घ) "जैसे नदी का प्रवाह समुद्र कउ जाता है तिस कउ बन्धन करि अवर उर बहाइ देते हैं। समुद्र की उर जाने नहीं देते। तैसे चित मुभ कउ आतमां की उर ते रोकता है।"

(योग-वासिष्ठ भाषा, पत्र-50)

(ङ) "तेरा कारज गुरु प्रसादि भला होई आहे। घरि बैठिआ सिध होइगी। चिंता न करू। जो इस कारज का प्रीतम है अरु जोऊ कारज कीआ चाहता है। तो गुरुदेव की उसतति कर अर इस्ट मंत्र पढ़।"

(अश्वमेध भाषा)

(च)"आतमा सरब तों भिन है। अर सरब का द्रस्टा है। अर सुभ-असुभ सरब संसार के पदारथों मों अलिपत है।"…अर केवल चेतन है। आवागमन सो रहत है। अर सरब गिआता है। अर सरब काल मों अर सरब उत्र मों पूरन है।"

(पंचासत उपनिषद भाषा, पत्र-389)

(छ) "जैसे तांबे अरु अवर धातु कों पारस बिना स्वरण करणा कठिन होता है। अरु इस विद्या को भी सभ कोई नहीं पछाणा सकता तैसे मानुख रूपी जो धातु है तो तिसको पसूअहु के सुभाव रूपी मैल ते सुद्ध करणा।"

(पारस भाग, पत्र-4 क-ख)

इस प्रकार के ग्रंथों के अतिरिक्त आदेश-पत्रों एवं व्यक्तिगत पत्रों में भी इसी प्रकार के गद्य का प्रयोग होता था। गुरु गोबिंदसिंह के संवत 1762 (1705 ई०) के एक हुक्मनामे की भाषा का रूप देखिये—

"सरब पंथ खालसा जी दे नाव हुक्मनामा संवत 1762 कतक सुदी 15 नू गोविन्दसिंह मधुसिधाण मुकाम ते पुष्कर तीरथ पर मुकाम किता और ब्राह्मण प्रोहित चेतनदास नू किता तिरथ असनान किया। सुफल किया जो भी सिधगुरु के पंच का पुहकर आवे सो प्रोहित चेतनदास की औलाद को माने और किसी को

न माने। एह ब्राह्मण बड़ा संतोषी है महातमा है सरधा सकती इना दी सेवा करनी।"

(धर्मयुग, 1 दिसम्बर, 1974 से उद्धृत)

गुरु गोविन्दसिंह की धर्मपत्नी सुन्दरी जी को भाई मनीसिंह द्वारा संवत् 1716 (1659 ई०) में लिखे गए एक पत्र की भाषा का रूप भी द्रष्टव्य है—

"पूज माता जी दे चरना पर मनीसिंह की डंडौत बंदना। वहोर समाचार बाचना कि इधर पर साडा सरीर वायु का अधिक विकारी होई गइआ है।··· मलेछों की देश में दोही है। बसती में बालक जुवां इस तरी सलामतु नाही।··· मुछ-मुछ करि मारदे हैन। साडे पर अबी तो अकाल की रक्षा है। कल की खबर नाहीं···।"

इन सभी उद्धरणों की भाषा खड़ी बोली ही है और हिन्दी-भाषी क्षेत्र के 19वीं शती के उन चार आचार्यों (सदासुखलाल, लल्लूलाल, सदलमिश्र, इंशा-अल्ला खां) आदि से कहीं अधिक साफ-सुथरी, प्रौढ़ एवं परिमार्जित है, जिन्हें साहित्य के प्राय: सभी इतिहासकार खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता मानते रहे हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संवत 1798 में पटियाला निवासी पंडित रामप्रसाद निरंजनी द्वारा रचित 'योग वासिष्ठ' की भाषा को बहुत साफ सुथरी, परिमार्जित एवं परिष्कृत खड़ी बोली कहा है। परन्तु, किसी पूर्व परम्परा के अभाव में इस ग्रन्थ में ऐसी प्रौढ़ भाषा का प्रयोग कैसे हुआ, इस पर हिन्दी के विद्वानों ने अभी तक गम्भीरता से विचार नहीं किया। इस प्रसंग में खुसरो की भाषा का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही ब्रजभाषा के साथ-साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियां बनाई।"शुक्ल जी ने इस बात को शुद्ध भ्रम या अज्ञान कहा है कि मुसल-मानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है, जिसमें आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा अरबी-फारसी शब्दों को निकाल कर गढ़ी गई है। उन्होंने 'बहिणा महारा कंतु' में खड़ी बोली के रूप को खोजते हुए इस ओर संकेत किया है कि अपभ्रंश काल में भी खड़ी बोली के रूपों का प्रचलन था। उन्होंने एक प्रकार से यह भी स्थापना की है कि खड़ी बोली से ही उर्दू का प्रादु-र्भाव हुआ और फारसी लिपि में रचे जाने के कारण, मुगल शासकों का संरक्षण उसे प्राप्त हो गया और वह खूब चल निकली, खड़ी बोली एक कोने में पड़ी रह गई। इस प्रसंग में उन्होंने गंग कवि की 'चन्द छंद बरनन' की खड़ी बोली गद्य की पुस्तक का भी उल्लेख किया है और यह स्वीकार किया है कि अकबर और जहांगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट-समाज के व्य-वहार की भाषा हो चली थी।

शुक्लजी बात की जड़ तक तो पहुँच गए परन्तु 'योग वासिष्ठ' से पूर्व की परम्परा को वे खोज नहीं पाए। इसका मूल कारण यही था कि इनकी गति उर्दू, हिन्दी और हिन्दवी तक ही रही। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा के कारण यह अभाव अभी तक बना हुआ है। विद्वानों का मत है कि खड़ी बोली का अविर्भाव हिन्दू और मुसलमानों के संसर्ग से दिल्ली के आसपास छावनियों में काम-चलाऊ बाजारी भाषा के रूप में हुआ। परन्तु, हम यहां पर यह भूल जाते हैं कि मुसलमानों का आगमन सबसे पहले पंजाब में हुआ और बहुत पहले से हुआ। वे बराबर यहीं से होकर आगे बढ़ते रहे। यहाँ की जन-भाषा और जनमानस से उनका पहले सम्पर्क हुआ और निरन्तर बना रहा। इसलिए इस भाषा का आविर्भाव पहले पंजाब और हरियाणा में हुआ, बाद में अन्यत्र। मुसलमानों के अधिक युद्ध कुरुक्षेत्र और पानीपत के मैदानों में हुए। यहीं उनकी मुख्य छावनियां बनीं और यहीं इस भाषा का उदय और विकास हुआ। इस वस्तुस्थिति को भूलकर हम खड़ी बोली का विकास ब्रज, बिहार, राजस्थान अथवा दक्षिण के साहित्य में खोजने लगते हैं। इस परम्परा को पंजाब के साहित्य में क्यों नहीं खोजा जाता, इसका एक मुख्य कारण यही रहा है कि 16-17 सदी से यहाँ का अधिकांश हिन्दी साहित्य गुरुमुखी लिपि में लिखा जाता रहा और हिन्दी के इतिहासकार इस लिपि से अनभिज्ञ थे अथवा वे यह मानते रहे कि गुरुमुखी लिपि में जो साहित्य है, वह पंजाबी का है। अब भी हिन्दी और पंजाबी के बहुत से विद्वान् लेखक इस भ्रांतिपूर्ण धारणा का शिकार हैं। वस्तुतः, पंजाब में खड़ी बोली गद्य-पद्य की एक चार-पांच सौ वर्ष पुरानी समृद्ध परम्परा विद्यमान रही है। रहीम का खड़ी बोली पद्य के लेखकों में उल्लेख तो किया जाता है मगर वे इस क्षेत्र में अकेले खड़े रहने के कारण खो से गए हैं। रहीम पंजाब के रहने वाले थे और यहां खड़ी बोली की परम्परा के संवाहकों में से थे। इनसे पूर्व सोढ़ी मेहरबान (पोथी सचखंड (1591-1640 वि०) हरिजी (सहंसरनाम 1696 वि०), दिआल नेमी 1675-1721 आदि खड़ी बोली गद्य के अनेक लेखक हुए हैं। जन प्रह्लाद भी (पंचासत उपनिषद् भाषा—1719) इस युग का प्रतिष्ठित गद्यकार है।

गुरमुखी लिपि में उपलब्ध खड़ी बोली गद्य की इस विपुल सम्पदा को देखकर हमें विश्वास हो गया है कि खड़ी-बोली का उद्भव पंजाब एवं हरियाणा में 16 वीं-17-वीं शती में ही हो गया था, जहाँ से होकर मुसलमान आक्रमणकारी दिल्ली पहुँचते थे और वहाँ पहुँचने से पूर्व काफी समय तक यहाँ रहते रहे थे। कुरुक्षेत्र में पंडों की 16 वीं 17 वीं शती की प्राचीन बहियों को देखने से विदित हुआ कि उसमें भी 'अमुक का बेटा', 'अमुक की पत्नी', 'अमुक के पिता', आये थे, आदि खड़ी बोली के रूपों का प्रयोग हुआ है। जिससे स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में उस

समय आम व्यवहार में भी इस भाषा का प्रयोग होने लगा था। दक्षिण की हिन्दवी का आदि स्रोत भी इस परम्परा में खोजा जा सकता है। इस काल की खड़ी बोली की कुछ पद्य रचनायें भी गुरुमुखी लिपि में लिखी उपलब्ध हुई है और 1891 ई० में प्रकाशित एक पाठ्य पुस्तक भी मिली है, जिसकी लिपि गुरुमुखी है और भाषा खड़ी बोली पद्य।

●

'उद्धव-शतक' का काव्य-सौन्दर्य

आधुनिक युग में ब्रज-भाषा के पुरानी परिपाटी के कवियों में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और 'उद्धव-शतक' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। 'उद्धव-शतक' प्रमुखतः एक विरह-काव्य है, जिसका कथानक 'श्रीमद्भागवत' के भ्रमरगीत-प्रसंग पर आधारित है। 'भागवत पुराण' दशमस्कंध के 46 वें और 47 वें अध्यायों में भ्रमरगीत का वर्णन हुआ है। इसी प्रसंग को आधार बनाकर हिन्दी में 'भ्रमरगीत' की एक लम्बी परम्परा के दर्शन होते हैं। 'उद्धव-शतक' इस परम्परा की अन्तिम रचनाओं में से है और भाव-व्यंजना, वाक्-चातुर्य, रचना-कौशल आदि की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। 'भागवत' का भ्रमरगीत-प्रसंग इस प्रकार है:—

"अत्याचारी कंस के दमन के पश्चात् जब कृष्ण मथुराधिपति बन जाते हैं, तब एक दिन वे अपने परम सखा तथा मंत्री उद्धव को अपना सन्देश-वाहक बनाकर बाबा नन्द और माता यशोदा का समाचार पाने तथा विरह में व्याकुल गोपियों को उनका सन्देश सुनाकर वेदना से मुक्त करने के लिए ब्रज भेजते हैं। उनके वहाँ पहुँचने पर नन्द बाबा और यशोदा कृष्ण की लीलाओं का स्मरण करके प्रेम-विह्वल हो जाते हैं। उद्धव उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त करते हैं। अगले दिन जब गोपियों को उद्धव के आने का समाचार मिला तो उन्होंने उनको कृष्ण का सखा जानकर बड़ा आदर किया और एकान्त में आसन पर बिठाकर उनसे कृष्ण का कुशल-समाचार पूछने लगीं। वे कृष्ण को भ्रमर के समान लोभी और स्वार्थी बताकर, उन्हें बहुत से उपालम्भ देने लगीं। इस तरह उपालम्भ देती हुई वे कृष्ण की लीलाओं को याद करके आत्मविस्मृत होकर फूट-फूट कर रोने लगती हैं। उसी समय एक गोपी ने पास में एक भौंरे को गुनगुनाते देखा। उसने समझा, मानो उसे कृष्ण ने दूत बनाकर भेजा है और उसे सम्बोधित करके वे अपनी विरह-दशा का वर्णन करने लगीं और अनेक उपालम्भ देने लगीं। उनकी उत्सुकता और व्याकुलता को देखकर उद्धव उन्हें कृष्ण का सन्देश सुनाने लगे; जिसे सुन-कर उनके विरह की व्यथा शांत हो गई। वे इन्द्रियातीत भगवान कृष्ण को अपनी

आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझने लगीं। भगवान का सन्देश सुनाने पर उन्हें शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ। गोपियों की विरह-व्यथा मिटाने के लिए उद्धव कई महीने ब्रज में रहे और उनकी प्रेम-भक्ति से बड़े प्रभावित हुए। लौटते समय बाबा नन्द और गोपगणों ने उन्हें बहुत-सी भेंट की सामग्री दी जो उन्होंने मथुरा लौटकर कृष्ण को दे दी और ब्रजवासियों की प्रेम-भक्ति का जैसा उद्रेक उन्होंने देखा था, वह भी कृष्ण को कह सुनाया।"

'भागवत' की यही कथा हिन्दी के भ्रमरगीतों की कथा का आधार है, जिसमें कवियों ने अपनी रुचि और युग-परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन भी किए हैं। हिन्दी की भ्रमर-गीत-परम्परा में सूरदास और नन्ददास की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाबू गुलाबराय के मतानुसार, "निजी सम्बन्ध की दृढ़ता, प्रेम की अनन्यता, योग और निर्गुणवाद की निरर्थकता सिद्ध करने के लिए ये दोनों ग्रंथ अद्वितीय हैं।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन कवियों ने कथानक में भी कुछ परिवर्तन किया है। इनके उद्धव ज्ञान और योग के प्रतीक हैं जो ज्ञान और योग से भरा हुआ सन्देश गोपियों को सुनाते हैं और उनके प्रेमातिरेक के सम्मुख पराजित होकर लौटते हैं।

'उद्धव-शतक' के कथानक की मौलिकता

'उद्धव-शतक' भी 'भागवत्' के इसी प्रसंग पर आधारित है। परन्तु, कवि ने अपनी रुचि-अनुसार कथा में कुछ परिवर्तन भी किया है। उसे युग की परिस्थितियों का प्रभाव भी कहा जा सकता है। इसमें कथा का आरम्भ राधा और गोपियों के प्रति कृष्ण की विरह-व्याकुलता से होता है। यमुना में स्नान करते समय कृष्ण एक मुरझाए हुए कमल को देखते हैं जिसमें उन्हें राधा की सुगन्धि आती है। वे विह्वल हो उठते हैं और तत्क्षण अपने परम सखा को ब्रज जाने को कहते हैं। इस समय उद्धव कृष्ण को ही ज्ञान का उपदेश देने लगते हैं, जिसके उत्तर में कृष्ण केवल इतना ही कहते हैं कि एक बार 'गोकुल गलि की धूरि धारण कर आओ' तब आकर ऐसा उपदेश दो, तब जानें। वास्तव में उसके ज्ञान की गरिमा को दूर करने के लिए ही कृष्ण उसे गोकुल भेजते हैं। इस तरह का प्रसंग 'भागवत्' में नहीं आया।

ज्यों ही उद्धव अपनी ज्ञान की गठरी उठाकर ब्रज की भूमि पर कदम रखते हैं, उनकी ज्ञान-गरिमा ढलने लगती है। 'भागवत्' की भांति उनकी भेंट नंद-यशोदा से नहीं होती, वरन् गोपियों से ही उनका मिलन होता है। नन्द-यशोदा सारे ग्रंथ में केवल एक स्थान पर उद्धव के लौटते समय उसे भेंट देते हुए ही दिखाई देते हैं। उद्धव को भेंट देने का यह प्रसंग 'भागवत्' में तो है परन्तु सूर और नन्ददास ने इसका वर्णन नहीं किया।

'उद्धव-शतक' में कोई भौंरा भी दिखाई नहीं देता। गोपियाँ किसी भ्रमर के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति नहीं करतीं, वरन् उद्धव से सीधी बातें करती हैं। यद्यपि वे उन्हें 'मधुप' कहकर सम्बोधित अवश्य करती हैं।

'भागवत्' की भांति 'उद्धव-शतक' की गोपियाँ उद्धव से सन्देश सुनकर शांत नहीं हो जातीं, वरन्, वे कृष्ण और उद्धव पर अनेक व्यंग्य कसती हैं। अपने तर्क, वाक्-चातुर्य तथा प्रेम की दृढ़ता और गम्भीरता से उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं। उद्धव अपनी ज्ञान-गठरी को प्रेम की इस गहरी नदी में बहाकर स्वयं उनके प्रेम-रस में सराबोर होकर लौटते हैं।

सूर और नन्ददास की भांति 'उद्धव-शतक' में भी योग और ज्ञान पर प्रेमा-भक्ति की विजय दिखाई गई है और निर्गुण पर सगुण की विजय दिखाई गई है। परन्तु, 'उद्धव-शतक' की वर्णन-शैली सूर व नन्ददास से कुछ भिन्न है। नन्ददास की गोपियों के साथ उद्धव का वाद-विवाद उत्तर-प्रत्युत्तर-रूप में क्रम से आगे बढ़ता है, परन्तु 'उद्धव-शतक' में उद्धव एक बार अपना सन्देश और उपदेश देकर खामोश हो जाते हैं। फिर गोपियाँ कभी तो उन पर व्यंग्य करती हैं, कभी कृष्ण के प्रति उपालम्भ देती हैं, कभी तर्क से उद्धव के मत का खंडन करती हैं और कभी अपनी प्रेमपूर्ण दशा का वर्णन करने लगती हैं। उद्धव को फिर कुछ कहने का अवसर ही नहीं दिया जाता। उसकी खूब खबर ली जाती है, परन्तु वह बेचारा ऐसा विस्मृत-विमुग्ध-सा हो जाता है जैसे उसे काठ मार गया हो। वह उनके प्रेम के सामने बिल्कुल अवाक् हो जाता है। सम्भवतः, कवि इसी तथ्य की स्थापना करना चाहता है, परन्तु जो रोचकता और नाटकीयता नन्ददास के उद्धव-गोपी संवाद में आई है, वह यहाँ नहीं आ पाई।

'उद्धव-शतक' में दार्शनिक विचार तथा व्यंग्य का स्वरूप

हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने भ्रमरगीत-परम्परा के माध्यम से निर्गुण की अपेक्षा सगुण की महत्ता को स्थापित किया है और ज्ञान तथा योग पर भक्ति की विजय दिखाई है। नन्ददास के भ्रमरगीत में दोनों पक्षों के दार्शनिक मतों पर तर्कपूर्ण विचार किया गया है। 'उद्धव-शतक' में भी सूर के प्रेम और विरह की तीव्रता तथा नन्ददास के तर्क और वाक्-चातुर्य के दर्शन तो होते हैं, परन्तु इसमें दार्शनिक तथ्यों की बहस उतनी नहीं है जितनी नन्ददास के काव्य में है। 'उद्धव-शतक' की गोपियाँ उद्धव के ज्ञान और योग का खण्डन अवश्य करती हैं और प्रेम और भक्ति की स्थापना भी करती हैं, फिर भी उनमें भावावेश की ही प्रधानता है।

'उद्धव-शतक' में दार्शनिक विचार दो रूपों में आए हैं। एक, उद्धव-कृष्ण संवाद के रूप में; दूसरे, उद्धव-गोपी संवाद में। कृष्ण जिस समय उद्धव को ब्रज

जाने को कहते हैं तो उद्धव उन्हें ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध में ज्ञान देने लगते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है, स्वप्नवत् है, और इसके सभी कार्य-व्यापार एवं सम्बन्ध भी स्वप्नवत् हैं। देखिए—

पाँचों तत्व माँहि एक सत्व की ही सत्ता सत्य,
याही तत्व-ज्ञान कौ महत्व स्रुति गायौ है।
तुम तौ विवेक रतनाकर कहौ क्यौं पुनि,
भेद पंच भौतिक के रूप मैं रचायौ है।
गोपिनि मैं, आप मैं वियोग और संजोग हूँ मैं,
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपुकौं मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है।

× × ×

असत असार या पसार मैं हमारी जान,
जन भरमाए सदा ऐसैं रहीबौ करैं।
जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं,
जैसे सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं।

संसार के असत्य प्रसार में सभी लोग भरमाए हुए हैं। गोपियाँ भी आपका ही रूप है, तब उनमें वियोग और संयोग की भावना मिथ्या है। उद्धव के इस ज्ञान के उत्तर में कृष्ण केवल इतना ही कहते हैं कि एक बार गोकुल हो आओ, फिर आकर हमें यही ज्ञान की बातें सुनाओ, तब जानें; और सुयश कमाने के लिए उमंग के साथ अपने ज्ञान की गठरी उठाकर जब उद्धव चलने लगते हैं तो गोकुल के मार्ग में ही उनके हृदय में प्रेम और भक्ति के अंकुर फूटने लगते हैं, उनकी ज्ञान-गठरी की गांठ खुलने लगती है और उनकी सभी विचार-पूंजी फैलकर कछार के करीलों और तमाल-कुंजों में उलझ जाती है —

लै कै उपदेश औ संदेश पन उधौ चले,
सुजस कमाइबै उछाह-उद्‌गार मैं।
कहै रतनाकर निहारि कान्ह कातर पैं,
आतुर भए यौं रह्यौ मन न संभार मैं।
ज्ञान गठरि की गांठि छरकि न जान्यो कब,
हरें हरें पूंजी सब सरकि कछार मैं।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानि अरु
कछु अरुझानी है करीरनि के झार मैं ॥22॥

यहाँ कवि ने कृष्ण की प्रणय-आतुरता तथा भावावेश के सामने ज्ञान और योग की हीनता की ओर ही संकेत किया है। गोकुल की गली में पहुँच कर तो

उसका सारा ज्ञान-मद बह ही जाता है, योग का विधान भी उनके मन से दूर हो जाता है। गोपियों की प्रेमपूर्ण दशा से उद्धव इतने अभिभूत होते हैं कि वे स्वयं प्रेम के रंग में रंग जाते हैं। कवि ने कृष्ण और गोपियों के दृढ़ प्रेम के सामने ज्ञान और योग के वाहक उद्धव को हतप्रभ होते दिखाया है। फिर भी अपनी इस मोहयुक्त दशा को छिपाकर उद्धव गोपियों को ज्ञान और योग का उपदेश देने लगते हैं तथा उन्हें निर्गुण ब्रह्म को मन में धारण करने को कहते हैं। यहीं से ग्रंथ में तर्क, वाक्-चातुर्य, वाग्विदग्धता, व्यंग्य-विनोद का आरम्भ होता है। उद्धव का कहना है कि योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि करने और हृद्कमल पर जगने वाली ब्रह्म-ज्योति में ध्यान लगाने से भगवान कृष्ण का संयोग प्राप्त होता है। जड़ और चेतन के विलास का विकास उत्पन्न होता है और अपूर्व आनन्द मिलता है। मोह के कारण जिन कृष्ण को गोपियों ने अपने से विलग समझा है, वे निरन्तर ही सबके अन्तर में रहते हैं—

चाहत जो स्वबस संजोग स्याम-सुन्दर कौ
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ विलस्यौ रहै।
कहै रतनाकर सु-अंतर मुखी है ध्यान
मंजु हिय-कंज जगी जोति मैं धस्यौ रहै।
ऐसैं करौ लीन आतमा कौं परमातमा मैं
जामैं जड़-चेतन बिलास बिकस्यौ रहै।
मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि
सो तो सब अंतर-निरंतर बस्यौ रहै।30।

यह पंचतत्त्वात्मक विश्व माया का ही प्रपंच है, जिसके कारण सच्चिदानन्द का वह सत्य तत्त्व जो पंचतत्त्व निर्मित इस संसार में एक-सा है, अपने वास्तविक रूप में प्रकट नहीं होता। सर्वत्र अनेक वस्तुओं के रूपों में वस्तुतः उसी ब्रह्म का रूप है जो भ्रमपटलोन्मीलित ज्ञान-चक्षुओं से गोचरीभूत होता है। ऐसी ही दशा के प्राप्त होने पर (जो योगाभ्यास से ही सम्भव है) कृष्ण सब में और सब कृष्ण में दिखाई पड़ते हैं —

पंचतत्व मैं जो सच्चिदानन्द की सत्ता सो तौ
हम तुम उनमें समान ही समोई है।
कहै रतनाकर विभूति पंचभूत हू की
एक ही सी सकल प्रभूतिनि मैं पोई है।
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
काँच फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखो भ्रम पटल उघारि ज्ञान आँखिन सौं
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है।

इसीलिए उद्धव गोपियों को योगाभ्यास द्वारा आत्मा को अविचल परमात्मा में लीन करने का उपदेश देते हैं—

अविचल चाहत मिलाप तौ विलाप त्यागि,
जोग जुगती करि जुगावौ ज्ञान धन कौं।
जीव आतमा को परमातमा में लीन करौ
छीन करौ तन कौं न दीन करौ मन कौ।

उद्धव तो इतना-सा उपदेश देकर चुप हो जाते हैं, परन्तु उसके ये शुष्क, नीरस और कठोर वचन पत्थर की भाँति गोपियों के मन-मकुर को चूर चूर कर देते हैं। वे तो कृष्ण का प्रेम-भरा मधुर सन्देश सुनना चाहती थीं और सुनने को मिली ज्ञान और योग की शुष्क बातें। वे व्याकुल हो उठती हैं और अधीर होकर कभी तो उद्धव से दीन वचन कहती हैं, कभी अपनी वियोग दशा का वर्णन करती हुई अपने प्रेम का वासता देकर उनसे कृष्ण के दर्शन कराने के लिए अनुनय करती हैं, कभी योग और ज्ञान की बातें समझने अथवा उनपर आचरण करने में अपनी असमर्थता प्रकट करती है, कभी तर्कपूर्ण शब्दों से उद्धव के मत का खण्डन करती हैं, तो कभी अपने वाक्-चातुर्य द्वारा उद्धव तथा उनके मित्र कृष्ण पर तीखे व्यंग्य कसती हैं और मीठे उपालम्भ देती हैं। 'उद्धव शतक' में सर्वाधिक विस्तार गोपियों के प्रत्युत्तर को दिया गया है। 117 कवित्तों के इस ग्रंथ में 63 कवित्त गोपियों के प्रत्युत्तर से सम्बन्धित हैं। अधिकतर उक्तियां गोपियों के निजी प्रेम की दृढ़ता की व्यंजक हैं, "उनमें कुछ नई व अनूठी हैं, कुछ में हृदय की सीधी आभा है, कुछ में रीतिकालीन परम्परा के प्रभाव की भी झलक है।" (बाबू गुलाबराय)

'रत्नाकर' की गोपियों में आधुनिक युग की नारी-चेतना के भी दर्शन होते हैं। वे अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहती हैं, उसे कृष्ण के व्यक्तित्व में तिरोहित करना नहीं चाहतीं। उद्धव ने आत्मा और परमात्मा की एकता स्थापित करते हुए आत्मा को योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म में लीन करने के लिए जिस मार्ग का निर्देश किया था, उसका खण्डन करती हुई वे कहती हैं कि ब्रह्म बन जाने की अपेक्षा व्यक्ति बने रहना अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि सागर में बूंद मिल जाने से सागर का तो कुछ बनना-बिगड़ना नहीं, परन्तु बूंद बेचारी का तो अस्तित्व ही मिट जाता है। अपने इस भाव को उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यौ जो तुम,
तौहू हमें भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरी न वारिधिता वारिधि की
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की।39।

उद्धव के अनन्त-अलख निर्गुण ब्रह्म को योग द्वारा त्रिपुटी में आन्तरिक चक्षुओं से देखने के विधान का खण्डन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि ऐसा ब्रह्म जो विश्व-

व्यापी होते हुए भी कहीं दिखाई नहीं देता, उस अरूप को त्रिपुटी में कैसे देखा जा सकता है —

रूप-रस हीन जाहि निपट निरूपि चुके
ताकौ रूप ध्याइबौ औ चखिबो कहौ।
एते बड़े बिस्व माँहि हेरें हूँ न पैयै जाहि,
ताहि त्रिपुरी मैं नैंने मूँदि लखिबों कहौ।

उद्धव ने संसार को माया-मोह का रूप कहकर जो स्वप्नवत् बताया था, उसका उत्तर वे अपनी तर्क-बुद्धि से इस प्रकार देती हैं —

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हें,
तातें तुम ऊधौ सोवत लखात हौं।
कहै 'रतनाकर' सुनै को बात सोवत की,
जोई मुँह आवत सो विवस बयात हौ।
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यौंहीं तुम आपही सुज्ञानी समुझातु हौ।

यहाँ गोपियों के पास उसके मत का खण्डन करने के लिए वाक्पटुता ही है, कोई दार्शनिक आधार नहीं। वस्तुतः, 'रत्नाकर' की गोपियाँ उद्धव के ज्ञानवाद और योग का खण्डन दार्शनिक आधार पर उतना नहीं करतीं, जितना अपनी स्वाभाविक सरलता, भावमयता अथवा वाक्पटुता, तर्कचातुरी या व्यंग्यों के द्वारा करती हैं। उनको तो यही समझ में नहीं आ पाता कि वह निर्गुण ब्रह्म हाथों के बिना कैसे गाय दुहेगा, कैसे पांव के बिना नाच सकेगा, कैसे मुख के बिना माखन खाएगा।

भला उद्धव का ऐसा अलख, अरूप, ब्रह्म उनके किस काम का? वे तो केवल ब्रजचंद की कृपा तथा 'मंद मुसकानि' में ही परलोक का सुख मानती हैं। अपने उस सुंदर शरीर पर, जिस पर सुंदर चंदन का लेप करके वे मनमोहक कृष्ण को मोहित करती थीं, भस्म रमाने में तथा चंद्रमुख को 'काकचन्चवत्' बनाकर योग साधने में वे अपने को सर्वथा असमर्थ पाती है। उद्धव की ज्ञानपूर्ण बातें उनकी समझ में आने वाली नहीं हैं। वे तो कृष्ण के प्रेम में मर रही हैं और उनके दर्शनों के अतिरिक्त उनका कुछ भी उपचार नहीं है। इसलिए वे उद्धव से कहती हैं कि एक ही अनंग (कामदेव रूप कृष्ण) को हृदय में धारण करके उनकी यह गति हो गई है, अब और अंग-रहित (निराकार ब्रह्म) की आराधना उनके बस की नहीं—

एक ही अनंग साधि साध सब पूरीं अब,
और अंग रहित अराधि करिहै कहा। 45।

इतना कुछ कहने-सुनने पर भी जब उद्धव नहीं मानते, तो वे कुछ उग्र ही

उठती हैं और उनकी भर्त्संना करती हुई साफ-साफ कह देती हैं कि तुम कितने ही उपाय क्यों न कर देखो, हमें तुम समझा नहीं सकते और न ही हमें कृष्ण के प्रेम से विमुख कर सकते हो। इस लिए अच्छा है कि तुम चुप रहो और मथुरा का रास्ता पकड़ो—

चुप रहो ऊधौ सूधौ पथ मथुरा को गहौ
कहौ न कहानी जो विविध कहि आए हौ।
कहै 'रतनाकर' न बूझिहैं बुझाए हम,
करत उपाय वृथा भारी भरमाए हौ।
सरल स्वभाव मृदु जानि परी ऊपर तैं,
पर उर घाय करि लौन सौ लगाए हौ।
रावरी सुधाई में भरी हैं कुटिलाई कूटि,
बात की मिठाई मैं लुनाई लाई ल्याइ हौ।41॥

वे उद्धव की व्यर्थ की 'टाँय टाँय' सुनना नहीं चाहतीं। उनके लिए उसकी संगति योग से भी अधिक कठोर और कटारी से भी अधिक कुटिल बन गई है। उस पर व्यंग्य करती हुई वे कहती हैं —

धरि राखौ ज्ञान गुण गौरव गुमान गोइ,
गोपिन कौ आवत न भावत भड़ंग है।
कहै रत्नाकर करत टाँय टाँय वृथा,
सुनत न कोउ इहाँ यह मुह चंग है।
और हूँ उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ,
साँसैं रोकिबे कौ कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति,
जमुना-तरंग है तिहारौ सतसंग है।67।

गोपियों के क्रोध और आक्रोश की यहाँ सुन्दर व्यंजना हुई है। उन्हें इस बात का खेद नहीं है कि वे नारी हैं, उन्हें तो इस बात का गर्व है कि वे कृष्ण की हैं और वे उनके हैं। कभी-कभी वे उद्धव के शुष्क उपदेश से इतनी खीज जाती हैं कि उसे फटकारती हुई कहती है कि "वे किसी ब्रह्म के बबा की चेरी नहीं हैं, वे तो केवल कृष्ण की दासी हैं —

चेरि है न ऊधौ काहू ब्रह्म के बबा की हम,
सूधौ कहे देति एक कान्ह की कमेरी हैं।48।

वे समझती हैं कि उद्धव व्यर्थ में ही अपने ज्ञान का बवण्डर खड़ा कर रहे हैं। उनके हृदय से 'घनश्याम' निकल नहीं सकते। यह ऐसा सागर नहीं जिसे अगस्त्य ने सुखा दिया था, यह तो गोपियों के प्रेम का प्रवाह है और उसे सुखा पाना उद्धव के बस का नहीं।

लौटि पौटि बात को बवंडर बनावत क्यों,
हिय तें हमारे घनश्याम हटिहैं नहीं।

× × ×

यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त्य लियो,
ऊधौ यह गोपिन के प्रेम कौ प्रवाह है।

इसका कारण उनका कृष्ण के प्रति दृढ़ अनुराग है। कृष्ण के प्रेम में भी उन्हें अडिग आस्था और विश्वास है, जिसकी व्यंजना उन्होंने इस प्रकार की है—

वे तौ हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही और,
हम उन ही की उन ही की उन ही की।60।

वे उद्धव की सब कुछ सुनने को तैयार हैं यदि वह इतना भर कह दे कि कृष्ण मिल जाएँगे—

सहि है तिहारे कहे सांसति सबै पै बस,
एनी कहि देहु के कन्हैया मिलि जाइगो।61।

किन्तु, उद्धव यह कह नही पाते, इसलिए उनका व्यंग्य भी तीखा हो जाता है। कृष्ण की प्रिया कूबरी को आधार बनाकर भी उन्होंने बड़े चुटीले और तीखे व्यंग्य किये हैं। उदाहरण देखिए—

द्रौनाचल कौ ना यह छटवयौ कनूका जाहि,
छाइ छिगुणी पै छेम छत्र छिति छायौ है।
कहै रतनाकर न कूबर वधू-बर कौ,
जाहि रांच राँचै पानि परिस गँवायौ है।
यह गरु प्रेमाचल दृढ़-व्रत धारिनि कौ,
जाकें भार भाव उनहूँ कौ सकुचायौ है।
जानैं कहा जानि कैं अजान ह्वै सुजान कान्ह,
ताहि तुम्है बात सौं उड़ावन पठायौ है।

कृष्ण के कूबरी-प्रेम पर परिहास करती हुई वे कहती हैं—

कुबरी के कूँवर हैं उबरि न पावै कान्ह,
इन्द्र कोप लोपक गुवर्धन उठै है को।86।

एक स्थान पर कूबरी-प्रसंग द्वारा उद्धव और कृष्ण दोनों पर कटाक्ष करती हुई कहती है—

वे तो भए जोगी जाइ पाइ कुबरी को जोग,
आप कहै उनके गुरु हैं किधौं चेला है।70।

कहीं-कहीं इन मधुपुर-वासियों की क्रूरता के प्रति भी अपना प्रेमपूर्ण क्षोभ प्रकट किया है—जिनके हृदय में तनिक भी दयाभाव नहीं है—यथा—

कौऊ अबलानि पै न ठरकि ठरारे होत,
मधुपुर वारे सब एकै ठार ठारे हौ ।
लै गए अक्रूर क्रूर तब तैं छुड़ाई हाय,
ऊधौ तुम मन तैं छुड़ावन पधारे हौ ।77।

ऐसे स्थलों पर व्यंग्य के साथ उनकी वेदना-मिश्रित व्यथा और दीनता तथा क्षोभ भी व्यंजित हुआ है। इस प्रकार की विनोद-व्यंग्य पूर्ण वाक्-पटुता 'रत्नाकर' की गोपियों की ऐसी खूबी है जिसके दर्शन हमें नन्ददास की गोपियों में ही होते हैं।

प्रेम का स्वरूप

'उद्धव-शतक' में उभय-पक्षीय प्रेम का चित्रण हुआ है। यहाँ गोपियाँ ही कृष्ण के विरह में व्याकुल नहीं है, वरन्, कृष्ण भी उनके विरह में उतने ही विह्वल दिखाई पड़ते हैं। यमुना में बहकर आते हुए एक कमल को देखकर कृष्ण को समान वर्ण वाली राधा का स्मरण हो आता है और वे उसकी स्मृतिजन्य वेदना से व्याकुल हो उठते हैं। उनकी इस विरह-व्याकुल दशा का देखिए कवि ने कितना मार्मिक चित्रण किया है —

गहबरी आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ।4।

राधा के सुन्दर मुख, ब्रज-कुंजों तथा अपनी ब्रज-लीलाओं को याद करके वे और भी व्यथित हो जाते हैं। कवि ने उनकी अधीरता, आतुरता, उत्कंठा, विह्वलता और वेदना आदि की भव्य व्यंजना की है। उद्धव के ब्रज जाते समय की उनकी प्रेमातुर दशा का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है —

आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्यौई परै,
स्वेद ह्वै रस्यौई परै रोम झंझरीनि सौं।
आनन-दुवार तैं उसाँस ह्वै बढ़्यौई परै,
आँसु ह्वै कढ़्यौई परै नैन खिरकीनि सौं ।20।

अन्य कृष्णभक्त कवियों के भ्रमरगीत प्रसंग में कृष्ण की प्रेमपूर्ण दशा और उनके सात्विक भावों-अनुभावों की ऐसी मार्मिक व्यंजना दुर्लभ है।

'उद्धव शतक' में गोपियों के विरह-वर्णन में भी मार्मिकता है। कई कवित्तों में उनकी व्यथा और वेदना की तीव्रता, अधीरता, मिलनातुरता, दर्शनाभिलाषा, दैन्य, व्याकुलता, रोष, शिथिलता, स्मरण, खीझ, विवशता, क्षोभ, ईर्ष्या आदि का स्वाभाविक और सजीव चित्रण किया गया है। उद्धव के ब्रज आने पर उनसे

मिलने को दौड़ी आती हुई गोपियों की आतुरता का कवि ने देखिये कितना सुन्दर चित्र अंकित किया है—

धाइ धाम-धाम तैं अवाई सुनि उद्धव को,
बाम-बाम लाख अभिलाषनि सौं म्वै रही ।
आँस रोकि साँस रोकि पूछन हुलास रोकि,
मूरति निरास की सी आस-भरी ज्वै रहीं ।25।

अपने प्रिय कृष्ण का पत्र देखने के लिए तथा उनका सन्देश सुनने के लिए देखिए वे कितनी उत्सुक और उत्कंठित हैं —

उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगीं ।
हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
हमको लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ।26।

गोपियों की उत्सुकता, आतुरता, उत्कंठा, कौतूहल आदि का कितना सजीव, चित्रात्मक और मार्मिक वर्णन है । 'उझकि उझकि,' "पद-कंजनि के पंजनि पै" में उनके अनुभावों और "हमको लिख्यौ है कहा" में उनके प्रेम की तीव्रता की भी व्यंजना खूबी से हो जाती है । गोपियाँ कृष्ण के प्रति उद्धव को जो सन्देश देती हैं, उसमें उनके प्रेम की दृढ़ता और आत्म-समर्पण के साथ उनकी दीनता और वेदना भी व्यंजित होती है ।

परन्तु कहीं-कहीं 'उद्धव शतक' की गोपियों के विरह-वर्णन में रीतिकालीन अतिशयोक्ति, चमत्कार तथा ऊहात्मकता का भी प्रयोग किया गया है । कहीं तो वे आप ही भस्म समान दीख पड़ती हैं और कहीं सूखकर मृगछाला के समान बन गई लगती हैं । उद्धव को जब वे अपना सन्देश-पत्र देना चाहती हैं तो विरह-ताप के कारण पत्र ही नहीं लिख पातीं । उनके इस विरह-ताप का जैसा ऊहात्मक वर्णन कवि ने किया है, उस पर रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है । देखिये—

दाबि-दाबि छाती पाती लिखन लगायौ सबै,
ब्यौंत लिखिबै की पै न कोऊ करि जात है ।
कहै रतनाकर फुरति नाहिं बात कछू,
हाथ धरयौ हीं तल थहरि थरि जात है ।
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पर,
ऐसौ अन्त ताप कौ प्रताप भरि जात है ।
सूखि जाति स्याही लेखिनी कें नैंकु डंक लागें,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है ।

अपनी स्थिति समझाने के लिए गोपियों ने दर्पण, लंगर, गगरी, पारे की

भस्म, आतिशी शीशे आदि के चमत्कारपूर्ण प्रयोग भी किये हैं और कहीं-कहीं श्लिष्ट शब्दों का भी आश्रय लिया गया है। ऐसे स्थानों पर भावों की व्यंजना कम हुई है और चमत्कार-प्रदर्शन अधिक है।

विरह वर्णन के अन्तर्गत षट्ऋतु वर्णन भी परम्परागत उद्दीपन रूप में ही किया गया है। रत्नाकर ने सभी ऋतुओं को ब्रज में चिर स्थायी कर दिया है, क्योंकि वियोग-विदग्ध गोपियों के अंगों में उनके लक्षण सदा विद्यमान रहते हैं। उनके शरीर का पीलापन वसन्त का रंग है, उनकी उसाँसों में पिक की पुकार है, उनकी पत का जाना ही पतझड़ है और उनका पागल हो जाना ही रसालों का बौराना है। बसन्त के इस वर्णन में देखिए गोपियों के विरह की व्यंजना किस चमत्कारपूर्ण ढंग से की गई है —

विकसित विपिन बसन्तिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिनि के अंग पियराने मैं।
बौरैं बृन्द लसत रसाल-बर बारिनि के,
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं।
होत पतझार झार तरेनि-समूहनि कौ,
बँहरि बतास लै उसास अधिकाने मैं।
काम विधि बाम की कला मैं मीन मेष कहा,
ऊधौ नित बसत बसन्त बरसाने मैं। 87।

अन्य ऋतुओं का वर्णन भी ऐसा ही चमत्कारपूर्ण है। प्रकृति के सुन्दर, स्वतंत्र, संश्लिष्ट रूप के दर्शन इस ग्रन्थ में नहीं होते।

अनुभाव-चित्रण

रत्नाकर को अनुभावों के चित्रण में वैसी ही सफलता मिली है जैसी बिहारी को नायक-नायिकाओं के हाव-भाव, अनुभाव आदि के चित्रण में मिली है। इन्होंने कृष्ण, उद्धव तथा गोपियों की पुलकावली, अश्रुप्रवाह, कंप, उच्छ्वास, कंठावरोध, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, शैथिल्य, मोह, प्रमाद आदि का बहुत ही सजीव, स्वाभाविक तथा मार्मिक चित्रण किया है। ब्रज के निकट पहुँचने पर उद्धव के हृदय में प्रेम का जो उन्मेष होता है उसके प्रभाव स्वरूप उसके वैवर्ण्य, शिथिलता, कंठावरोध, रोमांच, कम्प आदि का देखिए कैसा सजीव चित्र अंकित किया गया है—

औरै मुख-रंग भयौ सिथिलित अंग भयौ,
बैन दबि दंग भयौ गर गरुवाने मैं।
पुलकि पसीजि हाम चाँपि मुरझाने काँपि,
जानै कौन बहनि बयारि बरमाने मैं। 24।

गोपियों की दीन दशा देखने के पश्चात् उन पर जो प्रभाव पड़ा, उसके

परिणाम स्वरूप उत्पन्न उसके कंठावरोध, अश्रुप्रवाह, संकोच-भय, विभ्रम, श्रम, सकबकाने, सिहरने आदि का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है —

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ,
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन,
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से।
सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके,
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से। 28।

इसी प्रकार कृष्ण तथा गोपियों के विरहगत अनुभावों का भी सजीव चित्रण किया गया है। कृष्ण का सन्देश सुनने के लिए आतुर गोपियों के अनुभाव "उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पैं" आदि में सजीव हो उठे हैं—

इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण देखिए—
आनन उदास साँस भरि उकसौहैं करि,
सौहैं करि नैननि निचौहैं करि लेत हैं।
\+ \+ \+
बिथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि,
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसांस लौं।
\+ \+ \+
परन न देत एक बूंद पुहुमी की कोछि,
पोंछि पोंछि पट निज नैननि लगाए लेत।

यहाँ भी एक-एक शब्द एक-एक मुद्रा का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है।

काव्य-रूप

शुक्ल जी ने 'उद्धव शतक' को प्रबन्ध-काव्य घोषित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 117 कवित्तों के इस ग्रंथ में एक ही प्रसंग का वर्णन है और कथा में आरम्भ से अन्त तक एक सम्बन्ध-योजना भी है, परन्तु न तो उसमें विविधता है न विशदता। इसलिए इसे खण्डकाव्य भी कहा जा सकता है। लेखक ने कथानक में अनुपात का भी ध्यान नहीं रखा। 117 कवित्तों में से 63 छन्दों में गोपियों की उक्तियां हैं। कवि ने कथा के सूत्र को बीच-बीच में शीर्षक देकर जोड़ दिया है—यथा उद्धव के ब्रजवासियों से वचन, उद्धव की ब्रज-विदाई आदि। वैसे प्रत्येक छन्द स्वतंत्र रूप से रसास्वादन कराने में भी समर्थ है और उसमें मुक्तक का-सा आनन्द आता है।

भाषा-शैली

इस ग्रन्थ का अभिव्यक्ति-पक्ष बड़ा ही कलात्मक और सशक्त है। यह शुद्ध परिमार्जित और चमत्कारपूर्ण ब्रज-भाषा में लिखा गया है। भक्तिकाल की भाषा के माधुर्य और रीतिकाल की वाग्विदग्धता तथा उक्ति-वैचित्र्य का सम्पूर्ण वैभव इस काव्य में देखा जा सकता है। बाबू गुलाबराय इसकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं कि रत्नाकर की ब्रज-भाषा बोलचाल की चलती ब्रजभाषा नहीं है, वरन् पंडितों की ब्रजभाषा है जो अध्ययन से सीखी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं उसमें सहज माधुर्य के भी दर्शन होते हैं परन्तु उसमें चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक झलकती है। वाक्-पटुता, व्यंग्य तथा वाग्विदग्धता से उक्तियों को चमत्कारपूर्ण बनाया गया है। अलंकारों का प्रयोग भी प्रायः सायास हुआ प्रतीत होता है, जिस से कहीं-कहीं अभिव्यक्ति में क्लिष्टता भी आ गई है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि पुराने कवियों में भी इनकी सूझ और उक्ति-वैचित्र्य बहुत कम देखी जाती है। भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी। मीन मेष निकालना, तीन तेरह, तीन पांच चलत न चारयों आदि मुहावरों, लोकोक्तियों के प्रयोग से भी भाषा को चुटीला और चुस्त बनाया गया है। इनकी वर्णमैत्री और शब्द-योजना भी अद्भुत है।

अनुप्रासों की छटा तो सर्वत्र देखी जा सकती है। कहीं-कहीं तो वे भावों की व्यंजना में सहायक हुए हैं, पर कई स्थानों पर उनमें चमत्कार-प्रदर्शन का मोह ही लक्षित होता है। "छाई छिगुनी पै छेम छत्र छायौ है," "सुर सुरराज सुद्ध स्वारथ सुभाव सनै", "हौले से हले से हूल हूले से हिले से हाय, हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से" आदि में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार यमक और श्लेष के अत्यधिक प्रयोग से भी अभिव्यक्ति बोझिल हो गई है। "बारनि कितेक तुम्है बारन कितेक करें, बारन उबास ह्वै, बारन बनौ नहीं" आदि में चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं आता। ऐसे प्रयोगों से अभिव्यक्ति में दुरूहता और क्लिष्टता ही आती है। रूपक, उपमा उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, अपह्नुति आदि अनेक अलंकारों की छटा भी इस ग्रन्थ में देखी जा सकती है। परन्तु ऐसे स्थल भी कम नहीं, जहाँ श्लेषमूलक रूपक अथवा श्लेषमूलक उत्प्रेक्षाओं से भाव दब गये हैं। इसे रीति-कालीन अलंकरण-प्रवृत्ति का प्रभाव ही कहा जा सकता है।

उपसंहार

यद्यपि 'उद्धव-शतक' एक लघु रचना है तथापि भावों की मार्मिकता, उक्ति-वैचित्र्य तथा रचना-कौशल की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट काव्य-कृति है। इसमें

सूर के प्रेम और विरह की तीव्रता, नन्ददास के तर्क और वाक्-चातुर्य एवं रीतिकालीन कवित्व-शैली अथवा चमत्कार का सुन्दर संयोग हुआ है। इसकी गोपियों में सूर की गोपियों का हृदय, नन्ददास की गोपियों की बुद्धि, आधुनिक नारी का चातुर्य और चपलता के साथ उसके स्वाभिमान का भी मिश्रण है। इसमें तर्क का समावेश भी काफी हुआ है तथापि गोपियों के सम्पूर्ण तर्क के पीछे उनका विरह-विदग्ध हृदय ही कार्य करता दीख पड़ता है। भावों में भक्तिकाल की-सी मार्मिकता भी है और भाषा में वैसा ही सहज माधुर्य भी है, तथापि अत्यधिक अलंकरण, विरह में ऊहात्मकता, प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग, ये कुछ रीतिकालीन प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होते हैं, जिससे रचना में कुछ भारीपन आ गया है।

कथानक 'भागवत' पर आधारित होते हुए भी कुछ मौलिकता लिये हुए है जो कवि की रुचि का भी परिचायक कहा जा सकता है और उसे युग का प्रभाव भी स्वीकार किया जा सकता है।

वस्तुतः, यह ग्रन्थ अपनी परम्परा की रचनाओं में एक बहुमूल्य रत्न है।

राहुल जी का यात्रा-साहित्य

यह संसार संचरणशील है और इसकी मोहमाया में लिप्त जीव भी जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेता, आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ एक योनि से दूसरी योनि में संचरण करता रहता है। मनुष्य का सांसारिक जीवन भी एक लम्बी यात्रा है। आज मनुष्य जिस स्थिति को प्राप्त है वह इसी दीर्घ यात्रा का फल है। मनुष्य को अपने विकास के लिए निरन्तर गतिशील रहना पड़ा है! "ऐतरेय ब्राह्मण" में मनुष्य की आध्यात्मिक और आधिभौतिक उन्नति के लिए "चरैवेति चरैवेति" के मंत्र द्वारा उसके सतत् गतिशील रहने पर जोर दिया गया है। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में यात्रा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए दामोदर गुप्त लिखते हैं कि "जो लोग घूम फिर कर लोगों के वेश, स्वभाव और बातचीत का अध्ययन नहीं करते, वे बिना सींग के बैल के समान हैं।[1] इसी प्रकार सुभाषितरत्न भांडागार में बताया गया है कि जो देश की यात्रा नहीं करता और पंडितों की सेवा नहीं करता, उसकी संकुचित बुद्धि पानी में पड़े घी की बूंद की तरह स्थिर रहती है, इसके विपरीत जो यात्रा करता है, और पंडितों की सेवा करता है उसकी विस्तारित बुद्धि पानी में तेल की तरह फैल जाती है।[2] वस्तुतः, यात्रा भी ज्ञान और शिक्षा का एक प्रमुख साधन है और उससे मनुष्य की बुद्धि का विस्तार होता है। राहुल जी ने 'घुमक्कड़शास्त्र' में घुमक्कड़पन को संसार का सबसे बड़ा धर्म कहा है क्योंकि इससे मानववादी भावना का विकास होता है।

भारत में प्राचीन काल से यात्रा का महत्व मान्य रहा है और भारतीय साहित्य में अनेक भारतीयों और विदेशियों की यात्राओं के रोचक विवरण मिलते हैं। वेदों, ब्राह्मणग्रंथों, पुराणों, महाभारत, रामायण, बौद्ध तथा जैन-साहित्य एवं परवर्ती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में ऐसी अनेक यात्राओं का वर्णन किया गया है, जिनसे पता चलता है कि यात्रा सम्बन्धी सीमित साधनों के उस

---

1. कुट्टनीमतम्—श्लोक 212।
2. सुभाषितरत्न भांडागार, पृ० 88।

युग में भी जबकि यात्रियों को मार्ग में अनेक बाधाओं, कष्टों, विपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, लोग ज्ञानार्जन, व्यापार, मनोरंजन, युद्ध अथवा धार्मिक भावना से बहुसंख्या में यात्राएं करते थे। इस यात्रा साहित्य में यात्रा साधनों, कुछ यात्रा-मार्गों, मार्ग की कठिनाइयों और आराम व विश्राम-व्यवस्था का भी विवरण मिलता है। ये यात्रा-विवरण उस युग के राजनैतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, सांस्कृतिक चेतना, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा पर भी प्रकाश डालते हैं। इनमें यात्रा-क्षेत्रों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हुए, दृश्यों का सजीव और यथार्थ चित्रण किया गया है, जिसका साहित्यिक मूल्य भी कम नहीं है। निःसन्देह भारत में यात्रा साहित्य की एक विकसित और समृद्ध परम्परा मिलती है।

हिन्दी में यात्रा-साहित्य के दर्शन 16वीं शती से होने लगते हैं परन्तु 19वीं शती तक उसका विशेष विकास नहीं हो पाया। इस युग के यात्रा साहित्य में विट्ठल जी की 'वनयात्रा' (1600), 'सेठ पद्म सिंह की यात्रा, (1905), 'बात दूर देश की' (1886) 'बदरी यात्रा कथा' (1888) आदि कुछ ग्रंथों का ही उल्लेख किया जा सकता है। कलात्मक दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व नहीं है। इनमें प्रायः धार्मिक भावना ही मुख्य है।

वैज्ञानिक युग के साथ यातायात के साधनों की वृद्धि से देश और विदेश की यात्राएँ बहुत सुगम, सरल और सुखद हो गई हैं। इसी युग में भारतीयों का पाश्चात्य देशों से सम्पर्क बढ़ा, उनकी व्यापारिक, राजनैतिक और शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं ने भी उन्हें विदेशों की यात्राओं के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार भारतीयों का यात्रा-क्षेत्र विस्तृत हुआ तथा उनके उद्देश्यों में भी वृद्धि हुई।

वस्तुतः, हिन्दी यात्रा साहित्य का वास्तविक विकास गद्य की अन्य विधाओं के साथ 20वीं शती में ही हुआ। इससे पूर्व एक तो हमारा यात्रा-क्षेत्र सीमित था, दूसरे, हिन्दी गद्य का स्वरूप भी स्थिर नहीं था। पत्र-पत्रिकाओं में छोटी-छोटी यात्राओं के विवरण ही प्रकाशित होते रहते थे। भारतेन्दुकाल तक प्रायः यही स्थिति रही। भारतेन्दु ने अपनी कुछ यात्राओं का वर्णन अवश्य ही रोचक ढंग से किया है, जिसमें प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ ही लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र, दामोदर शास्त्री, भगवान दास वर्मा, तोताराम वर्मा, देवीप्रसाद खत्री आदि ने भी कुछ यात्रा संस्मरण लिखे। द्विवेदी युग में भी यात्रा साहित्य की विशेष प्रगति नहीं हुई। यद्यपि अब यात्राएं अपेक्षाकृत अधिक होने लगी थीं, तथापि उनमें यात्रियों की धार्मिक भावना अथवा श्रद्धा-भक्ति ही मुख्य है या फिर यात्रा-स्थानों की प्रशंसा की गई है। न तो उनके साहित्य में प्रौढ़ वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते है और न ही स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है।

इस युग में आकर हिन्दी में यात्रा साहित्य की खूब अभिवृद्धि हुई है। देश-विदेश की यात्राओं से सम्बन्धित 40-50 लेखकों के कोई 80-90 ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी अनेक यात्रा-लेख प्रकाशित होते रहे हैं। इस युग में हिन्दी यात्रा साहित्य ने जो प्रगति की है उसमें राहुल जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राहुल जी सच्चे अर्थों में एक 'घुमक्कड़' थे। इनके लिए अधिक समय तक एक स्थान पर टिके रहना प्रायः असम्भव था। घूमने की यह प्रवृत्ति उनमें जन्मजात थी। बाल्य-अवस्था से ही उनके मन में नए स्थानों को देखने की लालसा बनी रही है और जीवन भर वे इस लालसा की पूर्ति मन भरकर करते रहे। अपने जीवन के कोई 40 वर्ष उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्राओं में व्यतीत किए। इस अवधि में उन्हें उत्तराखण्ड, कनैला, हरिद्वार, केदारनाथ, बदरीनाथ, मद्रास, तिरुमल, तिरुमिशी, तिरुपति, बालाजी, कांचीपुर, रामेश्वर, चित्रकूट, मैसूर, बंगलोर, कुर्ग, पंजाब, सीमाप्रांत, बुशहर, श्रीनगर, लेह, लुम्बिनी, कपिलवस्तु, सारनाथ, नालन्द, बोद्धगया, सांची, संकिया, कोशम्ब कसया, लद्दाख आदि भारत के विभिन्न स्थानों के अतिरिक्त नेपाल, तिब्बत, लंका, पश्चिमी तिब्बत, इंगलैण्ड, पेरिस, जर्मनी, जापान, रूस, बर्मा, कोरिया, मंचूरिया, ईरान आदि विदेशों की यात्रा की। योरुप, रूस व तिब्बत तो वे कई बार गए। वास्तव में राहुल जी "चरैवेति-चरैवेति" के मूल मंत्र में विश्वास रखते थे और पूर्ण आस्था के साथ उन्होंने उसका जीवन पर्यन्त पालन किया। दुर्गम घाटियों तथा दूर देशों की यात्राएं राहुल जी ने जिस उत्साह से कीं, वे इनके अदम्य साहस और दृढ़ आत्मबल की परिचायक हैं।

अपनी इन यात्राओं के विविध, विचित्र व रोचक अनुभवों को उन्होंने "मेरी लद्दाख यात्रा", 'जापान, ईरान, रूस में पच्चीस मास', 'यात्रा के पन्ने', 'यात्रावलि' 'घुमक्कड़शास्त्र', 'देश-दर्शन', 'सोवियत भूमि', 'सोवियत मध्य ऐशिया'; 'किन्नर देश में;' 'दार्जलिंग परिचय'; 'गढ़वाल,' कुमाऊँ, 'नेपाल' जौनगर, देहरादून,' 'हिमाचल प्रदेश' आदि कोई 20 ग्रंथों में संजोया है। इनके अतिरिक्त उनके और भी कई ग्रंथ इन यात्राओं से प्राप्त सामग्री के आधार पर लिखे गये हैं। इस प्रकार के ग्रंथों में 'कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास,' 'मानव समाज,' 'आज की समस्याएं,' 'दर्शन-दिग्दर्शन,' 'बौद्ध-दर्शन,' 'पुरातत्व निबन्धावलि,' 'तिब्बत में बौद्ध धर्म,' 'कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं,' 'वैज्ञानिक भौतिकवाद,' 'विश्व की रूप रेखा,' 'मध्य एशिया का इतिहास' आदि पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है।

राहुल जी के यात्रा-साहित्य का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। यह साहित्य उनके यात्रा-क्षेत्र की विविधता, व्यापकता और विस्तार की ओर संकेत करता है। वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से देश, विदेश की सरल व सुखद यात्राएँ भी

उन्होंने कीं परन्तु ये यात्राएं उन्हें पूर्ण सन्तुष्ट न कर सकीं। वे तो अछूते कठोर प्रदेशों के रोमांचक और साहसपूर्ण अनुभवों का सुख चाहते थे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने तिब्बत, लद्दाख और नेपाल के दुर्गम, पर्वतीय मार्गों की पद यात्रा अनेक कष्ट और कठिनाइयां झेलते हुए की। एक ओर उन्होंने नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकाश से चमत्कृत पाश्चात्य देशों का भ्रमण किया, तो दूसरी ओर समाज और वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ में शताब्दियों पीछे पड़े लद्दाख, और तिब्बत के पथरीले, शुष्क पर्वतीय प्रदेशों की यात्राएं कीं। एक ओर हिन्दू और बौद्ध धर्म के तीर्थों व धर्म-स्थानों की पूर्ण श्रद्धा भाव से यात्रा की तो दूसरी ओर "धर्म को जनता को सुलाने वाला नशा" (Religion is the opiate of masses) मानने वाले नास्तिकता प्रधान रूस में भी उनका खूब मन रमा। एक ओर औद्योगिक क्रांति से समृद्ध स्वतन्त्र योरुप की झलक देखी, तो दूसरी ओर गुलामी की जंजीरों में जकड़े, उद्योग-शिल्प विहीन जन-समूह की करुण-दशा का अवलोकन किया। एक ओर भौतिक-वादी पाश्चात्य संस्कृति के स्वरूप व प्रभाव को देखा तो दूसरी ओर प्राचीन आर्य संस्कृति के वैभव और महानता के सूचक दृश्यों ने उन्हें मोहित किया। इन विभिन्न, विविधता पूर्ण एवं विरोधात्मक अनुभवों ने उनके व्यक्तित्व और चिन्तनधारा के निर्माण में महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। एक साहित्यकार का संवेदनशील हृदय लेकर उन्होंने इन सभी दृश्यों का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया और वे उनके प्रभाव से बच न सके। यही कारण है कि उनके चरित्र में विभिन्न संस्कृतियों, विचारधाराओं, मान्यताओं और विश्वासों का विचित्र संगम दिखाई पड़ता है, यद्यपि उनकी आत्मा मूल रूप से भारतीय ही रही।

इन यात्राओं ने उनके चरित्र को एक विशेष सांचे में ढाल दिया था। उनके चरित्र में जो उदारता, दया, साहस, निर्भयता, दृढ़ता, उत्साह, निर्लिप्तता, निश्चिन्तता, सहृदयता, सहानुभूति, कोमलता, आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता, स्वावलम्बिता, सहनशीलता, विचार-सहिष्णुता, कृतज्ञता, चिन्तन-शीलता आदि गुणों के दर्शन होते हैं वे बहुत कुछ इन यात्राओं के ही परिणाम हैं। उन्होंने विभिन्न देशों के विविध वर्णों, वर्गों के मानव-समूह के चरित्र, उनके संस्कारों, स्वभाव व समस्याओं को देखा-परखा और उनकी अनेकता में भी उन्हें मानवीय चेतना की एकता दिखाई दी, जिसने उन्हें मानव-वादी दृष्टिकोण प्रदान किया। इन लोगों की आर्थिक विषमता, वर्ग-संघर्ष, दीन हीन अवस्था को देखकर वे साम्यवाद की ओर आकृष्ट हुए और धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक आडम्बरों, पाखण्डों, अन्धविश्वासों और शोषणों की प्रतिक्रिया स्वरूप वे नास्तिक बन बैठे। राहुल जी के कथा-साहित्य में हमें जिस प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं, वह भी बहुत कुछ इन अनुभवों की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

इनकी सम्पूर्ण प्रतिक्रियाओं, उनके अनुभवों, चारित्रिक गुणों, सुख-दुख, इच्छाओं-आकांक्षाओं, रुचियों, अरुचियों आदि की पूर्ण झलक उनके यात्रा-विवरणों में देखी जा सकती है। भारत भूमि तथा आर्य-संस्कृति के प्रति उनके प्रेम की व्यंजना भी इस साहित्य में हुई है। प्राचीन आर्य-सभ्यता के प्रति उनके प्रेम और धर्म-परिवर्तन करने वाले आर्य-परिवारों के प्रति इनके क्षोभ का एक उदाहरण देखिये—

"100 मील चौड़े हिमालय के चरण से समुद्र-तट तक फैले हुए सिंधु के आस-पास का भू-भाग एक बड़ा ही विचित्र प्रदेश है। किसी समय यहाँ आर्यों की सभ्यता के गढ़ थे। ऋषि लोग पूत-सलिला सिंधु के तट पर अपने यज्ञ-भागादि का अनुष्ठान करते, वेदों का गान करते थे। लेकिन काल चक्र भी कितना प्रबल है। यद्यपि आज भी इस प्रदेश में उन प्राचीन आर्यों की संतान ही बस रही है, तथापि उन्होंने एक ऐसे धर्म को स्वीकार किया है जिसकी वजह से वे अपने पूर्वजों को स्वीकार करने से इन्कार करते हैं। इनके लिए वे आर्य पूर्वज और उनकी सभ्यता के प्रत्येक चिह्न घृणा की वस्तु है। वे स्वप्न में भी यह ख्याल नहीं करते कि हमारे पूर्वज एक ऐसी सभ्यता के धनी थे, एक ऐसे साहित्य के स्वामी थे, जिसे देखकर सभी निष्पक्ष समालोचक हृदय से उनका सम्मान करने को तैयार हैं। यूरोप की जातियां भी तो हैं, जिनके पूर्वज पूर्वकाल में जंगली जीवन व्यतीत करते थे, किन्तु आज भी उनकी संतान उन्हें मानने से इन्कार नहीं करती। लेकिन, क्या इस धर्म-परिवर्तन ने, लाखों के इस्लाम स्वीकार करने पर, इनके जीवन में किसी प्रकार का सौंदर्य पैदा कर दिया है ? नहीं। यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही हो जाती है, अगर कोई आदमी फाहियान और ह्य नसांग के यात्रा विवरणों में इन प्रांतों का वृतान्त एक बार पढ़कर इन लोगों को ध्यान से देखे। जहां पांचवी-सातवीं शताब्दियों में इन प्रांतों के निवासी सभ्य, अत्यंत कोमल स्वभाव, सत्यवादी, विद्याव्यसनी और कला-कौशल्य प्रवीण थे, वहाँ आज इनकी सन्तान क्रूर, झूठी, मूर्ख और दुर्व्यसनी देखने में आती है।[3]

परन्तु, यह न समझ लेना चाहिए कि राहुल जी साम्प्रदायिक पक्षपात से ही ऐसा लिख रहे हैं। मानववादी भावना ने उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि प्रदान की है और उन्होंने ऐसी सभी धर्मसंस्थाओं, समाज सुधारक समितियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है जो प्रगतिशील हैं और जन-समूह को अन्धविश्वासग्रस्त, दीनता-पूर्ण स्थिति से निकालकर उन्नति, स्वतंत्रता व प्रगति के मार्ग पर प्रशस्त करती हैं। निम्न जातियों में शिक्षा, सफाई आदि का प्रचार करने वाली ईसाई मिशन-रियों की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की है।[4] इसी प्रकार, वे आर्य समाजी नहीं थे फिर

3. मेरी लद्दाख यात्रा पृ० 17।

4. वही पृ० 3।

भी उन्होंने आर्य समाज के शिक्षा-प्रचार, तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण की सराहना की है।[5] और जिस प्रकार उन्होंने इस्लाम की मूर्ति-विरोधी भावना की विडम्बना का उपहास उड़ाया है उसी कटुता से हिन्दुओं के पुरोहित वर्ग के पाखण्डों पर भी व्यंग्य कसे हैं। इस्लाम की मूर्ति-विरोधी ढोंग पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं, "इस्लाम को शायद गर्व हो कि वह मूर्तिपूजा जैसी बुद्धिहीनता पापमयी प्रथा की जड़ काटने में समर्थ हुआ, लेकिन इन प्रांतों को एक बार भी देखने वाला कह सकता है कि इस्लाम ने कम से कम यहां के लोगों में मूर्तिपूजा कदापि नहीं छुड़वाई। फर्क मूर्तियों के आकार का है। जहां हिन्दुओं की मूर्तियां कलापूर्ण, भिन्न-भिन्न मनुष्यों और जानवरों की शक्ल की थीं, वहां उनकी मूर्ति चौकोर, ऊपर स्तूपाकार, तीन चार-पाँच हाथ लम्बी कब्रों की हैं। इनके ऊपर वस्त्र और मिठाइयाँ भी चढ़ती हैं। लोग हाथ भी जोड़ते हैं, प्रार्थनाएँ भी करते हैं, लड़के-लड़कियां भी माँगते हैं, मुंडन भी कराते हैं। मुसलमान पंडे मुजावर के रूप में हैं, जिनके पास बही खाते भी हैं और यात्रियों की छीना-झपटी भी होती है।[6]

निस्सन्देह, व्यंग्य काफी तीखा है परन्तु इससे भी अधिक तीव्र व्यंग्य उन्होंने हिन्दुओं की पुरोहित प्रथा पर किया है देखिये—

"आज कल इन लोगों का प्रधान काम आर्य-समाजियों के खिलाफ़ आग लगाना है। यद्यपि समझदार आदमी इन चालाकियों को समझते हैं, किन्तु तब भी बहुत से ऐसे मिल जाते हैं, जिन पर हिन्दुओं को रसातल भेजने वाले इस पुरोहित-समाज का जादू चल जाता है।[7]

वस्तुतः, सभी प्रकार की रूढ़ियों, अन्धविश्वासों तथा मानव मात्र की स्वातन्त्र्य-भावना से यह साहित्य ओत-प्रोत है। इसी प्रकार राहुल जी की अन्वेषण तथा संग्रह की प्रवृत्ति, कला एवं प्रकृति के प्रति आकर्षण, एवं पुरातत्व के प्रति मोह की झलक भी इन संस्मरणों में देखी जा सकती है। अपने जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं व सम्पर्क में आने वाले अनेक पात्रों के स्वभाव, व उनकी समस्याओं का भी इन्होंने उल्लेख किया है। इस प्रकार यह यात्रा साहित्य जीवनी-साहित्य भी बहुत निकट आ जाता है। उनके व्यक्तित्व व जीवन वृत्त की सच्ची, निश्छल तथा यथार्थ अभिव्यक्ति इसमें हुई है। न कहीं बनावट है न गोपनीयता, और न ही अतिशयोक्ति। बौद्धिक चिन्तन से युक्त ऐसे रोचक, रोमांचक और यथार्थ संस्मरण हिन्दी में कम ही मिलेंगे। क्षेत्र की व्यापकता और विस्तार की दृष्टि से तो ऐसे संस्मरण प्रायः दुर्लभ हैं। यद्यपि राहुल जी का व्यक्ति इन विवरणों का

5. वही, पृ० 10, 13।
6. मेरी लद्दाख यात्रा पृ० 18।
7. वही, पृ० 13।

कथ्य नहीं है, मुख्य वर्ण्य विषय यात्रा-मार्ग अथवा यात्रा स्थान ही हैं, तथापि राहुल जी का व्यापक व्यक्तित्व इन रचनाओं में आद्यान्त परिव्याप्त है।

इन यात्रा-विवरणों में स्थान विशेष का भौगोलिक परिचय ही मुख्य है। यात्रा-स्थानों के नाम, बनावट, वृक्ष, क्षेत्रफल, जनसंख्या, जलवायु, पशु-पक्षी, यातायात के साधन, मार्ग, उपज, वर्षा, सर-सरिता, पर्वत आदि का पूर्ण परिचय दिया गया है। इसके साथ ही वे वहां के लोगों के रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, व्यवसाय, शिक्षा, विश्वास, नियम विधान, समाज व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, आर्थिक दशा, धार्मिक भावना, संस्कृति, शासन-व्यवस्था, वर्ण अथवा वर्ग-भावना, जल तथा सफाई के प्रबन्ध आदि का भी पूरा विवरण प्रस्तुत करते हैं। वहां के लोग जिस जाति के हैं, उस जाति का पूर्ण इतिहास, जिस धर्म में वे विश्वास रखते हैं वह उन्होंने कब और कैसे अपनाया, उस धर्म का स्वरूप क्या है, यह सब कुछ बताना भी वे नहीं भूलते।[8] अपने पुरातत्व और इतिहास के ज्ञान के आधार पर सारे खोजपूर्ण तथ्य सामने रखते जाते हैं। यदि हस्तिनापुर का वर्णन कर रहे हों तो वहां का सारा इतिहास सम्मुख रख देंगे।[9] प्राचीन स्थानों के खण्डहरों में नया जीवन डाल कर उन्हें अमर कर देते हैं। यात्रा स्थानों से सम्बन्धित यदि कोई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, तो वह भी बताना नहीं भूलते वरन् प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित जो किंवदंतियां या लोक-कथाएं प्रचलित हैं, उनका भी उल्लेख कर देते हैं। जैसे श्रीनगर का वर्णन करते समय कश्मीर के शासकों तथा जन साधारण के इस्लाम को कबूल करने के सम्बन्ध में जो लोक-कथा प्रचलित है इसका वे सविस्तार वर्णन करते हैं।[10] इस प्रकार यात्रा-स्थानों के लोक-जीवन का पूरा चित्र हमारे सामने रख देते हैं। कहीं-कहीं तो उनके लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-संगीत तथा भाषा के नमूने भी दिए हैं। उनके मंदिरों, मठों आदि में कला का जो रूप है उसका भी वर्णन किया है। आवश्यकता पड़ने पर उनके रहन-सहन संस्कृति, भाषा आदि की अन्य प्रदेशों से तुलना भी कर दी गई है।

इस प्रकार राहुल जी का यह यात्रा साहित्य उनके यात्रा स्थानों अथवा प्रदेशों की राजनैतिक, सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थिति को जानने के लिए 'विश्वकोश' के समान है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि राहुल जी एक सामान्य पर्यटक की भांति इन स्थानों का वर्णन नहीं करते। उन्होंने इन सभी स्थानों को एक संवेदनशील साहित्यकार और प्रगतिशील विचारक की दृष्टि से देखा है। इसलिए वे वहां के लोक जीवन के बाह्य रूप से उसकी तह तक

---

8. मेरी लद्दाख यात्रा पृ० 13।
9. वही, पृ० 1।
10. वही, पृ० 39-50।

पहुँच जाते हैं और उनकी स्थिति की बौद्धिक और वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उनकी प्रगति व उन्नति के लिए दिशा-निर्देश करते हैं। उनके इन विवरणों में नव-निर्माण का संकेत सर्वत्र निहित रहा है।

वर्णनात्मकता

अपनी यात्रा में पड़ने वाले दृश्यों का राहुल जी ने अत्यन्त सूक्ष्म, सजीव, और चित्रात्मक वर्णन किया है। नेपाल, दार्जिलिंग, तिब्बत तथा लद्दाख के मार्गों, मार्ग की कठिनाइयों, यात्रा साधनों आदि का वर्णन तो बहुत ही यथार्थ और उपयोगी है। कुती से आगे के दृश्य का वर्णन देखिए उन्होंने कितना सुन्दर किया है—

"अब हम बड़े मनोहर स्थान में जा रहे थे। चारों ओर उत्तुंग शिखर वाले हरियाली से ढके पहाड़ थे जिनमें जहां-जहां झरनों का कल-कल सुनाई देता था। नीचे फेन उगलती हुई कोसी की वेगवती धार जा रही थी, नाना प्रकार के पक्षियों के मनोहर शब्द सारी दून को जादू का मुल्क सिद्ध कर रहे थे"।[11] श्रीनगर (कश्मीर) का भी बहुत ही मनोहर वर्णन किया है—

"जगह-जगह लम्बे-लम्बे जलाशय, सर्प की भांति-कुटिल गति की जेहलम, दूर तक शहर के बाहर भी सेव, बादाम आदि के बागों में बने हुए छोटे-छोटे सुन्दर हरी घासों से ढके लम्बे-लम्बे क्रीड़ा-क्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फर्शोंवाली सुभूमियां देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं"।[12]

यहां राहुल जी का प्रकृति-प्रेम भी स्पष्ट झलकता है। तिब्बत के पर्वतीय प्रदेश का चित्रण देखिए कितना सजीव और यथार्थ है—

"तिब्बत में तो हरियाली के लिए आंखें तरसती हैं। नदियों की विस्तृत उपत्यकाएं कहीं-कहीं रेगिस्थान का स्मरण दिलाती हैं और किसी-किसी जगह तो उसी तरह बवण्डर लाखों मन बालू को एक जगह से दूसरी जगह रखते रहते हैं। उपत्यकाओं के किनारे पर छोटे से छोटे पहाड़ बिल्कुल नंगे जैसे होते हैं।"[13]

ल्हासा से उत्तर की ओर जाते हुए वर्षा ऋतु में वहां के पर्वतीय दृश्य के भी बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। "हरिगौरी" का देखिए कितना सुन्दर माधुर्यपूर्ण चित्र अंकित किया है—

मैं मैरपड़ा-की खंडित मूर्ति से ही बहुत प्रभावित था। किन्तु यहां मैंने शोभा

---

1. राहुल यात्रावली, पृ० 229।
2. मेरी लद्दाख यात्रा, पृ०46।
3. यात्रा के पत्र पृ० 138।

और सौंदर्य में अद्वितीय इस हरिगौरी मूर्ति को देखा। इसकी कोमल बंकिम रेखाओं में वही सौंदर्य भरा था जो कि अजन्ता के चित्रों में दिखाई पड़ता है, बल्कि पत्थर में ऐसा तन्वंग उत्कीर्ण करना संभव हो सकता है, इस पर आंखें विश्वास नहीं करती थीं। ललितास स्थित हर के वामांक में अनुपम सौन्दर्य राशि की मूर्ति बनकर भूधरसुता विराजमान है।[14]

तिब्बत की स्त्रियों के रूप और वेश-भूषा के भी ऐसे ही सजीव रेखा-चित्र अंकित किये गये हैं। 'मेरी यूरोप यात्रा' में सागरीय-यात्रा का भी उन्होंने वर्णन किया है जो बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। उदाहरण देखिए—

"जब जहाज़ ऊंची लहरों पर उठता है तब सिर में थोड़ा-सा चक्कर आता है, परन्तु जिस समय लहर नीचे से निकल जाती है उस समय जहाज के पतन के साथ दिल एकदम गिर ही नहीं पड़ता, बल्कि मालूम होता है कि ठण्डी हवा का झोंका कलेजे के एक एक छिद्र में जल्दी से घुस गया है।"[15]

इस प्रकार प्राकृतिक सुषमा, वस्तु सौंदर्य तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं का चित्रण करने में वे बहुत ही सफल रहे हैं।

भाषा-शैली

राहुल जी का अधिकतर साहित्य कथात्मक अथवा वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी लद्दाख यात्रा, किन्नर देश में, लंका, नेपाल आदि इसी शैली में लिखे गये हैं। कुछ यात्राओं का विवरण पत्रों और डायरी के रूप में भी मिलता है। आनन्द जी तथा अन्य मित्रों तथा अपनी पत्नी कमला जी को लिखे गये ऐसे अनेक पत्र हैं जिनमें उन्होंने अपने-यात्रा-प्रदेशों का वर्णन भी किया है। ऐसे विवरणों में संक्षिप्तता और आत्मीयता अधिक है शैली कहीं-कहीं अलंकृत अथवा भावात्मक भी हो गई है। किसी-किसी पत्र में स्थानीय भाषा का भी प्रयोग किया गया है। ऐसे विवरणों में आत्मभिव्यंजना की प्रधानता है और गोपनीयता का सर्वथा अभाव है। उनमें उनके निजी प्रेम, क्षोभ, आदि की भी व्यंजना हुई है।

उनके यात्रा-साहित्य की भाषा अधिकतर सरल, सहज और सुबोध है, वैसे प्रसंग के अनुसार उसमें ओज, माधुर्य, लाक्षणिक प्रयोग भी हुए हैं। दूध का जला छाछ फूंककर, सब जात में बुर्बक जथरिया, मारे लाठी छीने चदरिया, उंगलियों पर नाचने वाले, सब धान बाईस पंसेरी" आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग किया है। भाषा में उर्दू, व अंग्रेज़ी के भी कुछ शब्द आ गये हैं। शैली में भी

14. मेरा तिब्बत यात्रा, पृ० 5।
15. मेरी यूरोप यात्रा, पृ० 5।

प्रसंग के अनुरूप अनेकरूपता है। मुख्य रूप से उनकी शैलियों के निम्नरूप हैं—

1. कथात्मक
2. भावात्मक
3. अलंकृत
4. व्यंग्यात्मक
5. चित्रात्मक
6. संवेदनात्मक
7. दार्शनिक

कई जगह संवेदनात्मक तथा दार्शनिक, भावात्मक तथा अलंकृत शैली का और इसी प्रकार अन्य शैलियों का समन्वय भी मिलता है। वस्तुतः उनकी भाषा और शैली भावों का अनुसरण करती है और भाव स्थिति, घटना अथवा दृश्य का सजीव बिंब उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राहुल जी के यात्रा साहित्य का सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पुरातत्व, आदि अनेक दृष्टियों से महत्त्व है और हिन्दी के यात्रा-साहित्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

महात्मा गांधी और हिन्दी-साहित्य

साहित्य-सृजन मूलतः साहित्यकार की वैयक्तिक सृजनशील प्रतिभा एवं संवेदनशीलता का प्रतिफल होता है, तथापि युग परिवेश एवं युग विशेष के राजनीतिक आन्दोलनों, सांस्कृतिक उत्थानों, सामाजिक परिवर्तनों एवं आर्थिक संघर्षों आदि से वह कदाचित् अप्रभावित या असंपृक्त नहीं रह सकता। साहित्य समाज का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब न होते हुए भी, युग-बोध से घनिष्ठता से सम्बद्ध होता है। यह दूसरी बात है कि प्रत्येक कलाकार युग चेतना को अपनी निजी मानसिकता, दृष्टि एवं चिंतन के स्तर पर ही ग्रहण करता है। राष्ट्रीय मंच पर कभी-कभी ऐसे महापुरुष भी प्रकट होते हैं, जो युग धारा को बदलने की क्षमता रखते हैं और समग्र राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित और प्रेरित करते हैं। गांधी जी ऐसे ही समर्थ एवं शक्ति-सम्पन्न नेता थे।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारतीय इतिहास में नवीन राजनीतिक जागरण, सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं सामाजिक सुधारवाद का युग है। सन् 1857 की जन-क्रांति को यद्यपि विदेशी शासकों ने दबा दिया था, किन्तु, स्वतन्त्रता और स्वाभिमान की जो चिंगारी भारतीयों के हृदय में प्रज्वलित हो उठी थी, वह भीतर ही भीतर धधकती रही। 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई। "1885 से 1907 तक यद्यपि हमारी राष्ट्रीयता में राजभक्ति के कुछ तत्त्व सन्निविष्ट थे, तथापि राजनीतिक जागृति और राष्ट्रीयता की भावना प्रसारित और उद्दीप्त करने की दिशा में कांग्रेस महत्त्वपूर्ण कार्य करती रही।"[1] कालान्तर में लोकमान्य तिलक, दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, अरविन्द घोष, विपिनचन्द्र पाल आदि नेताओं के राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश के पश्चात् यह चेतना निरन्तर सुगठित एवं विकसित होती हुई प्रबल वेग से अग्रसर होती गई। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसाफिकल सोसाइटी,

---

1. डा० सुषमा नारायण, भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति, पृ० 27।

भारत सेवक समिति आदि संस्थाओं, उच्च शिक्षा एवं बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे मनीषि साहित्यकारों के प्रभाव से भी सांस्कृतिक पुनरुत्थान और राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। इस नवीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना की भारतेन्दु एवं द्विवेदीकालीन हिन्दी साहित्य में, विशेष रूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, नाथूराम 'शंकर' शर्मा, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि की रचनाओं में भारत के अतीत गौरव की स्मृति, वर्तमान स्थिति के प्रति क्षोभ, मातृभूमि की वंदना, भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति श्रद्धा, देशभक्ति तथा हिन्दी भाषा के प्रति अनुराग आदि के रूप में सक्षमता एवं विशदता से अभिव्यक्त हुई।

1915 के आस-पास गांधी जी ने राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश किया। भारतीयों के आत्म-सम्मान एवं प्रतिष्ठा की रक्षार्थ अफ्रीका में उनके सत्याग्रह ने विश्व का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट कर लिया था और उसकी भारत मे भी बड़ी प्रशंसा हुई थी। उसके बाद जब गांधी जी ने भारतवर्ष में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया, तो उससे राष्ट्रवाद के इतिहास में एक नवीन गति मिली। उन्होंने अहिंसा तथा प्रेम का पाठ पढ़ाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को नवीन दिशा का दिग्दर्शन कराया।"[2] इस समय राष्ट्रीय आन्दोलन निरन्तर ज़ोर पकड़ता जा रहा था और गांधी जी उसमें सक्रिय भाग ले रहे थे। 1920 से 1927 तक असहयोग आन्दोलन उत्साह पर था जिसमें गांधी जी की महत्वपूर्ण भूमिका थी। वस्तुतः, उस समय तक राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व गांधी जी के हाथों में आ गया था। भारत की जनता तन-मन से उन्हें अपना नेता स्वीकार कर चुकी थी और उनके एक इंगित पर सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर थी। 6 अप्रैल, 1930 को नमक कानून तोड़ते समय गांधी जी ने कहा था—

"अंग्रेजी राज्य ने भारत का नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी तरह का नाश कर दिया है। मैं इस राज्य को अभिशाप समझता हूँ और इसे नष्ट करने का प्रण कर चुका हूँ।"···और इसके साथ ही उन्होंने घोषणा की थी····"अब तो राजद्रोह ही मेरा धर्म हो गया है। पर हमारी लड़ाई अहिंसा की लड़ाई है। हम किसी को मारना नहीं चाहते, किन्तु इस सत्यनाशी शासन को खत्म कर देना हमारा परम कर्तव्य है।"[3] कहना न होगा, कि गांधी जी के इस शंखनाद ने स्वतन्त्रताकांक्षी भारतवासियों के हृदय में अत्यधिक उत्साह और उत्तेजना पैदा कर दी थी। "पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए जारी किये गए घोषणा पत्र द्वारा

---

2. ठाकुर राज बहादुर सिंह, कांग्रेस का सरल इतिहास, पृ० 32।

3. पट्टाभि सीतारम्मैया, कांग्रेस का इतिहास, पृ० 306।

महात्मा गांधी ने भारतीय जनता की दृष्टि विदेशी शासन द्वारा भारत के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक शोषण की ओर आकृष्ट की थी।"[4] और इस तरह सम्पूर्ण देश में जागरण का बिगुल बज उठा था।

गांधी जी ने स्वतंत्रता आन्दोलन को एक सफल और समर्थ नेतृत्व ही नहीं दिया वरन् उसे एक सर्वथा मौलिक, उदात्त एवं महनीय दर्शन भी प्रदान किया, जिसने भारतीय राजनीतिक आंदोलन को एक नया मोड़ दिया।[5] सत्य, अहिंसा, मानव प्रेम, सेवा, त्याग, सामाजिक एवं आर्थिक समानता उनके राजनीतिक दर्शन के प्रमुख तत्त्व थे। राजनीति में धर्म का प्रवेश होने से उसे नैतिक बल मिलता है जब कि धर्म में राजनीति प्रविष्ट होने से दोनों का अनिष्ट होने लगता है। गांधी जी का राजनैतिक-दर्शन उदात्त आध्यात्मिक तत्त्वों एवं नैतिक-मूल्यों पर आधारित था और उनके आन्दोलन में आत्मबल, सहनशीलता और आत्म-बलिदान की प्रधानता थी। यही कारण है कि उनका किसी भी धर्म, देश, जाति अथवा वर्ग के प्रति विद्वेष नहीं था। यहाँ तक कि दमनकारी विदेशी शासकों के प्रति भी उनके मन में किसी प्रकार का आक्रोश, ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं था। निश्चय ही यह अपने ढंग की विलक्षण क्रान्ति थी, जिसके प्रवर्त्तक एवं संचालक गांधी जी थे। गांधी जी विदेशी शासन से मुक्ति का एकमात्र साधन अहिंसात्मक असहयोग को मानते थे और सत्य और अहिंसा में उनकी दृढ़ आस्था थी। इस सम्बन्ध में उनकी धारणा थी—"मेरी विनम्र सम्मति में जिस प्रकार अच्छाई से सहयोग करना कर्त्तव्य है, इसी प्रकार बुराई से असहयोग करना भी कर्तव्य है। इससे पहले बुराई करने वाले को क्षति पहुँचाने के लिए असहयोग को हिंसात्मक ढंग से प्रकट किया जाता रहा है। पर मैं अपने देशवासियों को यह बताने की चेष्टा कर रहा हूं कि हिंसा बुराई को कायम रखती है, इसलिए बुराई की जड़ काटने के लिए यह आवश्यक है कि हिंसा से बिल्कुल अलग रहें। अहिंसा का मतलब यह है कि बुराई से असहयोग करने के लिए जो कुछ भी दण्ड मिले उसे स्वीकार कर ले।"[6] इस सन्दर्भ में गांधी जी ने अपने रचनात्मक कार्यों की एक लम्बी सूची तैयार की और निष्ठापूर्वक उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयास किया। लगभग तीन दशकों तक गांधी जी देश के राजनीतिक क्षितिज पर सूर्य की भाँति प्रकाशवान रहे। जब यह हल्का-फुल्का-सा आदमी, एक लंगोटी में, नंगे बदन, नंगे

4. वही, पृ० 2।

5. "The dramatic shift of Gandhi from cooperation to non-cooperation changed the whole face of Indian politics" M. A. Buch—The Rise and Growth of Indian Nationalism, p. 30.

6. पट्टाभि सीतारम्मैया '''कांग्रेस का इतिहास, पृ० 197।

पाँव, किसी गाँव की पगडण्डी पर तेज कदमों से चलता था तो धरा और आकाश डगमगाने लगता था, दिग्गज घबरा उठते थे, दिशाएँ काँप-काँप उठती थीं और अँग्रेजी साम्राज्य की जड़ें हिलने लगती थीं। लेकिन, सहस्रों-लाखों भारतीय युवकों के मन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के संकल्प, नये उत्साह और उल्लास से प्रदीप्त हो उठते थे और वे उनके आवाहन पर निर्भयता और साहस के साथ, गर्व से सिर ऊँचा कर फिरंगियों की गोलियों को अपनी छाती पर सहते हुए, स्वतंत्रता के गीत गाते हुए सत्याग्रह के पथ पर आगे बढ़ते जाते थे। कैसा था यह अद्भुत व्यक्ति और कैसा था उसका चुम्बकीय प्रभाव और कैसी थी उसकी दिव्य प्रेरणा कि उसने भारत के इतिहास को ही बदल दिया और वह शताब्दियों की दासता से मुक्त होकर विश्वमंच पर एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। गांधी जी ने न केवल देश के राजनीतिक जीवन को ही प्रभावित नहीं किया, वरन् हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक जीवन को भी नये संदर्भ, नये आयाम और नई दिशा प्रदान की। यही नहीं, उन्होंने राजनीति को भी नैतिकता और आध्यात्मिकता के आधार पर प्रतिष्ठित किया और "राजनीति में सब कुछ जायज है"—के सिद्धान्त को अस्वीकार कर, राजनीतिक उद्देश्यों के औचित्य और नैतिक होने के साथ-साथ उनकी प्राप्ति के साधनों के भी उचित और नैतिक होने पर बल दिया।

निःसन्देह, महात्मा गांधी के व्यक्तित्व, उनके आचरण एवं कार्यक्रमों, उनकी विचारधारा और दर्शन ने जहाँ देश के समग्र जन-जीवन को प्रभावित किया, वहाँ देश की सभी भाषाओं के साहित्यकारों को भी नव-प्रेरणा से आन्दोलित किया। यही कारण है कि उस युग का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य गांधीवादी चेतना से अनुप्राणित है।

हिन्दी भाषा के प्रति गांधी जी का विशेष प्रेम था और वे इसे राष्ट्रभाषा मानते थे तथा राष्ट्रभाषा का प्रचार और स्वभाषा प्रेम की शिक्षा गांधी जी के रचनात्मक कार्यों की सूची में सम्मिलित थे।[7] अंग्रेजी पर हिन्दी के वर्चस्व को प्रतिष्ठित करते हुए गांधी जी ने लिखा था "अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो, ऐसी कल्पना ही हमारी निर्बलता को सूचित करती है। पाँच लक्षणों से युक्त हिन्दी भाषा की समता करने वाली दूसरी कोई भाषा है ही नहीं। हिन्दी भाषा का निर्माण राष्ट्रभाषा के योग्य ही हुआ है, और वह बहुत वर्षों पहले राष्ट्रभाषा की भाँति व्यवहृत हो चुकी है।"[8] इस दिशा में अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए उनके नेतृत्व में

7. मोहनचंद कर्मचंद गांधी, आदर्श भारत की रूपरेखा, पृ० 21 (अनुवादक⋯देवराज उपाध्याय)।

8. महात्मा गांधी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, 25।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा तथा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की स्थापना हुई। वे हिन्दी को राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता की प्राप्ति का साधन मानते थे और यही कारण है कि अपने अभिभाषणों, प्रचार-प्रसार, पत्र-पत्रिकाओं एवं संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने आजीवन हिन्दी की सेवा की।

हिन्दी के साहित्य सेवियों ने श्रद्धानत होकर 'बापू' की इन भावनाओं का सम्मान किया और हिन्दी से उनकी जो अपेक्षायें थीं, उन्हें पूर्ण करने में प्राणपण से जुट गये। एक सम्पूर्ण युग का साहित्य स्वातन्त्र्य-भावना और राष्ट्रीयता की चेतना से अनुप्राणित है, जिसमें गांधीवादी चिन्तनधारा की ही अभिव्यक्ति मुख्य रूप से हुई है। इस युग की कविता, निबन्ध, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि सभी साहित्यिक विधाओं में गांधी जी के व्यक्तित्व, उनके कार्यक्रमों एवं दर्शन को लेकर प्रचुर परिमाण में साहित्य लिखा गया। वस्तुतः, उस युग के साहित्य में राष्ट्रीय-चेतना और गांधीवाद की अभिव्यक्ति का प्रश्न भिन्न-भिन्न न रहकर एक-रूप हो गया है। गांधीवाद राष्ट्रीयता का परिचायक है और राष्ट्रीयता गांधीवाद की। इस युग के अनेक कवियों, कथाकारों, निबन्धकारों एवं नाटककारों ने गांधी जी के व्यक्तित्व एवं आचरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की, उनके कार्यक्रमों एवं उनके द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलनों का समर्थन तथा प्रचार किया और उनकी चिंतन-धारा का निष्ठापूर्वक प्रतिपादन किया।

रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बद्रीनाथ भट्ट, मुकटधर पाण्डे, रूपनारायण पाण्डे, नाथूराम 'शंकर' शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल, राय देवीप्रसाद, गुरु भक्तसिंह 'भक्त', शिवप्रसाद श्रीवास्तव, शान्ति प्रिय द्विवेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारीसिंह 'दिनकर', सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' श्यामनारायण पाण्डेय, हरिवंशराय बच्चन, जयशंकर प्रसाद, गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, ठाकुरप्रसाद शर्मा आदि ऐसे अनेक कवि हैं जिन पर गांधी जी का गहरा प्रभाव था और उन्होंने बड़ी निष्ठा से उनकी विचारधारा को अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति दी है।

सत्याग्रह, अहिंसा, असहयोग, अछूतोद्धार, साम्प्रदायिक एकता, ग्राम-सुधार, नारी स्वतन्त्रता, खादी तथा समाज सुधार उनके मुख्य प्रतिपाद्य विषय थे। इनमें अनेक कवि ऐसे हैं, जिन्होंने सत्याग्रही वीरों को प्रेरित करने वाले तथा आत्म-बलिदान देने वाले वीरों की प्रशंसा में ओजस्वी गीतों की रचना की है। माखन लाल चतुर्वेदी गांधी जी तथा उनकी अहिंसात्मक नीति की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

'जय जय विश्व स्वरूप,
पार्थ के प्यारे जय जय

शस्त्र न लूंगा बाह
सारथी न्यारे जय जय,
जगमग भारत जगे
नये कृतिकारी जय जय,
पूज्य प्रजापति रूप,
नये बनवारी जय जय।'[9]

इसी प्रकार सोहनलाल 'द्विवेदी' ने अपनी कविता 'युगावतार गांधी' में गांधी जी की जननायक मानवतावादी, दीन दुखियों, पतितों के उद्धारक, भारत की स्वतन्त्रता के जन्मदाता, कोटिचरण, कोटि बाहु, कोटिरूप, कोटि नाम, युग प्रवर्त्तक, युग संचालक, युगाधार, युग निर्माता, युगदृष्टा, युग स्रष्टा, के रूप में; सुमित्रानन्दन पंत ने 'बापू का आत्मदान', 'महात्मा जी के प्रति' एवं 'बापू' आदि कविताओं में उन्हें 'आदर्शों' के दीप 'शिखोदय', 'मानव आत्मा के प्रतीक', 'नव मानवतावादी संस्कृति के निर्माता', 'भारत के हृदय', 'पूर्ण पुरुष', 'जीवन सिद्ध अहिंसक' एवं 'कर्म निष्ठ नेता' के रूप में; रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'बापू' कविता में 'सहजशान्ति के दूत', 'भारतभूमि के भाग्य', 'कलि के कृष्ण', 'कालोदधि' के महास्तम्भ', 'आत्मा के नभ के तुंगकेतु' तथा 'विराट रूप' आदि के रूप में उनकी स्तुति एवं वंदना की है। सियाराम शरण गुप्त ने भी 'बापू' नामक काव्य-संग्रह में गांधी जी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है।

गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के समर्थन में, हँसते-हँसते कष्टों को सहते हुए, देश की बलिवेदी पर प्राणों की आहुति देने का सन्देश देने वाली उत्साहपूर्ण कविताएँ भी गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', रामनरेश त्रिपाठी[10] ठाकुर प्रसाद शर्मा,[11] लक्ष्मण सिंह क्षत्रिय 'मयंक',[12] राधावल्लभ पाण्डे,[13] त्रिशूल[14] नाथूराम 'शंकर' शर्मा,[15] मैथिलीशरण गुप्त[16] आदि अनेक कवियों ने लिखीं। इस संदर्भ में निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य हैं—

'सहकर सिर पर मार मौन ही रहना होगा,
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा।

9. अहिंसात्मक बलिदान'''दृष्टव्य, राष्ट्रीय मंत्र, प्रथम संस्करण, पृ० 8
10. स्वप्न
11. राष्ट्रीय वीणा, भाग प्रथम, पृ० 35
12. वही, द्वितीय भाग, पृ० 41
13. वही
14. वही, प्रथम भाग, पृ० 35
15. शंकर सर्वस्व, पृ० 234
16. स्वदेश संगीत, पृ० 190

रंग महल सी जेल आह भी गहना होगा।
किन्तु न मुख से कभी 'हन्त हा' ! कहना होगा।"

(स्नेही—राष्ट्रीय मंत्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 8)

'इस युग में' गांधी जी के अहिंसा दर्शन के प्रभाव स्वरूप, दो चार दस व्यक्तियों का संग्राम में वध करना वीरता का लक्षण नहीं था, वरन् देश की सेवा में आत्म-बलिदान देना ही सर्वोत्कृष्ट वीरता समझी जाती थी। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए ठाकुर प्रसाद शर्मा लिखते हैं—

"सेवा करने में स्वदेश की जो मेरा यह जाय शरीर
तो मेरा मरना सार्थक हो समझूं मैं अपने को वीर ॥'

(राष्ट्रीय वीणा, प्रथम भाग, पृ० 35)

इसी प्रकार लक्षमण सिंह क्षत्रिय 'मयंक' का कहना है—

"चलो। हम आहुति दे दें प्राण,
न होगा कर्म यज्ञ बिन प्राण,
करें कल्याण—राष्ट्र निर्माण,
ध्वनित हो 'वन्दे मातरम' गान।"

(वही, पृ० 82)

वस्तुतः, आत्म बलिदान देकर कल्याण करने की भावना उस युग की कविता में बड़े उत्साह के साथ व्यंजित हुई है। माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'पुष्प की अभिलाषा' तथा 'जीवन फूल' में ऐसे ही सत्याग्रही वीरों की वंदना की है जो देश की बलिवेदी पर अपने प्राणों की बलि देने के लिए तत्पर थे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'शिखर पर' कविता में भी बलिदान की ओजस्वी चेतना विद्यमान है—यथा

"चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू
बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावें तुझ को,
यह जीवन की कुंज,
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू
देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरो कर करदे
पूरी माँ की माल।"

(कुंकम, प्रथम संस्करण, पृ० 81)

इसी प्रकार 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान, मोहनलाल द्विवेदी तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी अपनी रचनाओं में बलिदान की इस भावना को प्रश्रय दिया है। 'निराला' जी का मातृभूमि के चरणों पर आत्म-बलिदान का यह उत्साह

द्रष्टव्य है—

"नर जीवन के स्वार्थ सकल,
बलि हों तेरे चरणों पर मां।
मेरे श्रम-संचित सब फूल ।
× ×
दृग जल से पा बल, बलि कर दूं
जननि, जन्म-श्रम-संचित फूल ।"

(गीतिका, द्वितीय संस्करण, पृ० 22)

सुभद्राकुमारी चौहान तथा गोपालशरण सिंह आदि ने गांधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास इस प्रकार प्रकट किया है—

1. हमारी प्रतिभा साध्वी रहे। देश के चरणों पर ही चढ़े।
अहिंसा के भावों में मस्त। आज यह विश्व जीतना पड़े।

(मुकुल, पृ० 106)

2. है अपूर्व यह युद्ध हमारा हिंसा की न लड़ाई है।

(उमग —प्रथम सं०, पृ० 91)

गांधी जी के आदर्शों का पालन करते हुए जाति, वर्ग, धर्म के भेद-भाव को मिटाकर जातीय अथवा राष्ट्रीय एकता स्थापित करने वाली कविताएँ भी बड़ी संख्या में लिखी गई। श्याम नारायण पाण्डेय सभी भारतवासियों की एकता और भ्रातृत्व की घोषणा करते हुए कहते हैं—

"जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख, ईसाई
कोटि कण्ठ से मिलकर कह दो 'हम सब हैं भाई-भाई'।"

(आ० काव्य धारा, पृ० 190 से उद्धृत)

इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी,[17] रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण',[18] महावीर प्रसाद द्विवेदी,[19] मैथिलीशरण गुप्त,[20] बद्रीनाथ भट्ट,[21] गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही',[22] नाथूराम 'शंकर' शर्मा[23] आदि कवियों ने भी साम्प्रदायिक, जातीय एवं राष्ट्रीय एकता से सम्बन्धित कविताओं की रचना की। इस प्रसंग में बद्रीनाथ भट्ट की निम्न पंक्तियां उल्लेखनीय हैं—

17. मिलन
18. पूर्ण संग्रह, पृ० 212
19. द्विवेदी काव्यमाला, पृ० 453-45
20. गुरुकुल, उपोद्घात, पृ० 31, भारत भारती, पृ० 151
21. राष्ट्रीय वीणा, भाग 1, पृ० 88
22. स्नेही, राष्ट्रीय मंत्र, पृ० 26
23. शंकर सर्वस्व, पृ० 6,363

"विस्तारें जातीय एकता भेद विरोध बिसारें।
भारत माता की जय बोलो, थल थल नभ गुंजारें।"
(राष्ट्रीय वीणा, प्रथम भाग, पृ० 88)

माखनलाल चतुर्वेदी ने 'जीवित जोश' कविता में हिन्दू और मुसलमान को 'भारत माता की 'दोनों आँखें' कह कर साम्प्रदायिक एकता निर्मित करने की चेष्टा भी की है तथा नरेन्द्र शर्मा दोनों जातियों को पारस्परिक भेदभाव मिटाकर देश-हित के लिए उत्तेजित करते हुए लिखते हैं—

"जन क्रान्ति जगाने आई है, उठ हिन्दू ! उठ ओ मुसलमान।
संकीर्ण भेद सन्देह त्याग, उठ महादेश के महाप्राण।"
(हंस माला, प्रथम संस्करण, पृ० 18)

अछूतोद्धार एवं पतितोद्धार भी गांधी जी के राष्ट्रीय कार्यक्रमों का महत्व-पूर्ण अंग था। इसलिए इस युग के हिन्दी कवियों ने, विशेष रूप से, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'[24], मैथिलीशरण गुप्त[25], हरिकृष्ण प्रेमी, सियारामशरण गुप्त, 'बच्चन' एवं पंत आदि ने अपनी रचनाओं में इस भावना को अभिव्यक्त किया है।

इसी प्रकार खादी, ग्रामसुधार, कृषकों की दशा, नारी की स्थिति और सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में व्याप्त विविध विकृतियों की ओर ध्यान दिया और उनको सुधारने का प्रयत्न किया। हिन्दी के उपर्युक्त लगभग सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में सामाजिक एवं धार्मिक कुप्रथाओं, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों एवं विसंगतियों आदि का विशदता से चित्रण किया है और उनके निराकरण का प्रयास किया।

हिन्दी कथा-साहित्य में गांधी जी का सबसे अधिक प्रभाव मुंशी प्रेमचन्द पर था। प्रेमचन्द गांधी जी को अपना गुरु मानते थे और उनके प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। 1932 में जब गांधी जी ने यरवदा जेल में अनशन शुरू किया, उस समय 'महान तप' शीर्षक से प्रेमचन्द ने लिखा था, "भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की गई हैं, पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का संकल्प महात्मा गांधी की ही कीर्ति है।" इसीलिए प्रेमचन्द ने गांधी जी को 'दधीचि' की संज्ञा दी थी। वस्तुतः, प्रेमचन्द गांधी दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे और उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में उनके विचारों का विशदता से निरूपण किया है। 'गबन', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' आदि सभी उपन्यासों में गांधीदर्शन के मुख्य तत्वों—सत्याग्रह, असहयोग, अहिंसा, सेवा, त्याग एवं

25. मर्म स्पर्शी (प्रथम संस्करण, पृ० 164
25. हिन्दू (चतुर्थ सं० प्र० 114), साकेत, सप्तम सं० प्र० 161

मानव-प्रेम आदि का निष्ठापूर्वक प्रतिपादन किया गया है। गांधी द्वारा संचालित लगभग सभी राजनैतिक और सामाजिक कार्यक्रमों का भी उनके कथा-साहित्य में विस्तार से चित्रण हुआ है। 'रंगभूमि' तो स्पष्टतः असहयोग-आन्दोलन की भूमिका पर लिखा गया उपन्यास है। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर को गांधी जी का मानस प्रतीक माना जाता है। 'रंगभूमि' के सूरदास और 'कर्मभूमि' के अमरकान्त भी गांधी जी के विचारों के ही प्रतीक बनकर आए हैं। 'प्रेमाश्रम' में स्पष्ट रूप से वे हिंसा के मार्ग का तिरस्कार करके अहिंसा के मार्ग का समर्थन करते दिखाई देते हैं। 'गोदान' में गांधीवाद और साम्यवाद में टकराहट अवश्य दिखाई पड़ती है, लेकिन अन्ततः वहाँ भी प्रेमचन्द गांधी जी के आदर्शों की, उनकी आन्तरिक मूल्य-चेतना तथा सेवा, प्रेम और त्याग आदि के आदर्श का प्रतिपादन करते दिखाई पड़ते हैं। 'रंगभूमि' के सूरदास के इस कथन में कि "हम हारे हैं तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, धाँधली तो नहीं की, फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो। एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।"—गांधी जी के भावों की ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। साम्प्रदायिक एकता और अछूतोद्धार भी गांधी जी के राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य अंग थे और प्रेमचन्द ने इस दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अंग्रेजी शासन की भेद-नीति तथा महात्मा गाँधी द्वारा उसे असफल किये जाने की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—"उस महान आत्मा की तपस्या ने ब्रिटेन के महान् राजनीतिज्ञों के द्वारा तैयार की हुई उस सुदृढ़ दीवार को, जो हिन्दू और अछूतों को अलग करने के लिए बड़े गहन कौटिल्य की सीमेंट से तैयार की गई थी, विध्वस्त कर दिया।"

प्रेमचन्द के 'स्वराज्य के फायदे' निबन्ध में भी गांधी-चिंतन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रेमचन्द के पश्चात् सियारामशरण गुप्त के 'गोद'; राधिकारमण प्रसाद सिंह के 'पुरुष और नारी'; देवेन्द्र सत्यार्थी के 'दूधगाछ'; भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'रात और प्रभात'; भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'भूले बिसरे चित्र'; और 'सीधी सच्ची बातें'; इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित'; महावीर अधिकारी के 'मंजिल के आगे'; शान्तिप्रिय द्विवेदी के 'दिगंबर'; एवं मन्मथनाथ गुप्त के 'अपराजित' आदि अनेक उपन्यासों में गांधी जी की सैद्धान्तिक विचारधारा और उनके कार्यक्रमों का विशदता से प्रतिपादन हुआ है। गांधी जी 'सत्य' को ही ईश्वर मानते थे और सत्य की अनुभूति ही उनकी दृष्टि में सब समस्याओं का समाधान थी। इस तथ्य का उल्लेख भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'रात और प्रभात' में इस प्रकार किया गया है—"सब मार्गों का एक ही मार्ग है, सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर है, सारे समाधानों का एक ही समाधान है, सत्य की अनुभूति (पृ० 154)।" गांधी जी के अहिंसा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए इला-

चन्द्र जोशी अपने उपन्यास 'निर्वासित' में लिखते हैं—"महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक युद्ध की जो आश्चर्यजनक पद्धति खोज निकाली है, उसे पूर्णतया अपनाना ही सच्ची वीरता है। ······ आप लोग और संसार-भर के लोग यह महसूस करेंगे कि महात्मा गांधी की अहिंसात्मक नीति ही संसार भर की राजनीति तथा आर्थिक बुराइयों से लड़ने के लिए एकमात्र उपयुक्त साधन है (पृ० 358)।" भगवतीचरण वर्मा ने भी अपने उपन्यासों में सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त का निष्ठापूर्वक समर्थन किया है। वस्तुतः, गांधी युग के ही नहीं, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी गांधी जी की विचारधारा की विशदता से अभिव्यंजना हुई है।

उपन्यास की ही भाँति हिन्दी कहानी में भी, विशेष रूप से, प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वंभरनाथ कौशिक, भगवती प्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, हरिभाऊ उपाध्याय, अज्ञेय, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, प्रताप नारायण श्रीवास्तव, विनोद शंकर व्यास आदि की कहानियों में गांधी-दर्शन के लगभग सभी तत्वों का निरूपण हुआ है। प्रेमचन्द की 'मेजिस्ट्रेट का इस्तीफा', 'जेल', 'जुलूस', 'विश्वास', 'मैकू', सुदर्शन की 'अमरीकन रमणी', 'हारजीत', 'अन्तिम साधन', 'पथ की प्रतिष्ठा', 'सत्य मार्ग', 'अँधेरे में', 'सुदासुख कैदी'; विशंभरनाथ कौशिक की 'अपराधी' 'कर्त्तव्य-बल'; चतुरसेन शास्त्री की 'बाहर-भीतर', अज्ञेय की 'बदला'; रजनी पन्निकर की 'नई पीढ़ी'; भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'प्रेमलता'; हरिभाऊ उपाध्याय की 'धर्म प्रचार के लिए प्रयत्न'; सुभद्राकुमारी चौहान की 'गौरी'; 'निराला' की 'चतुरी-चमार'; आदि कहानियों मे राष्ट्र-सेवा, सत्य के प्रति आग्रह, अहिंसा, नैतिक आचरण, त्याग, मानव-प्रेम एवं मानवीय सेवा, आत्म-बल एवं आत्म-त्याग आदि भावनाओं की बड़ी विशदता एवं निष्ठा से अभिव्यक्ति हुई है।

उपर्युक्त उपन्यासों और कहानियों में 1920 से 1947 तक घटित होने वाली ऐसी मुख्य राजनीतिक घटनाओं एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों का भी विशदता से चित्रण हुआ है जिनका गांधी जी से सीधा सम्बन्ध था और इन लेखकों ने उनका निष्ठापूर्वक समर्थन करते हुए जन-जागरण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रकार हिन्दी के कथाकारों ने गांधी जी के प्रभाव के अन्तर्गत स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपनी रचनाओं के माध्यम से अपना सहयोग देकर राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन किया।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर गांधी जी का अमिट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटक सांस्कृतिक-पुनरुत्थान और देश-प्रेम की भावना से अनुप्राणित है और उनमे सत्य, त्याग, दया, प्रेम, करुणा, आदि उन सभी उदात्त भावनाओं की अभिव्यंजना हुई है जिनके

गांधी जी पक्षधर थे। 'विशाख' के प्रेमानन्द, 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य और चन्द्रगुप्त, 'राज्यश्री' के हर्षवर्धन और राज्यश्री और 'स्कन्दगुप्त' के स्कन्दगुप्त और देवसेना इन्हीं भावनाओं से ओतप्रोत हैं। अलका ('चन्द्रगुप्त') और देवसेना ('स्कन्दगुप्त') तो गाँव-गाँव में घूम कर देश-प्रेम की भावना जागृत करती दिखाई गई हैं।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपने नाटक 'महात्मा ईसा' में, लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'अशोक' में, मैथिलीशरण गुप्त ने 'अनरव' में, सेठ गोविन्ददास ने 'भूदान', 'सेवा-पथ', 'अहिंसा और अहिंसा', 'त्याग या ग्रहण' में, गोविन्दवल्लभ पंत ने 'अंगूर की बेटी', तथा 'सुहाग बिन्दी' में, पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' में, चतुरसेन शास्त्री ने 'पग-ध्वनि' में, मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'डांडी यात्रा' में, रामकुमार वर्मा ने 'जय बंगला' में, उदयशंकर भट्ट ने 'क्रान्तिकारी' में, महात्मा गांधी के महान् व्यक्तित्व से प्रेरित होकर सत्य, अहिंसा, मानव-प्रेम, देश-प्रेम, सेवा भावना, त्याग, दया एवं क्षमा आदि का निरूपण सक्षमता से किया है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने अपने नाटकों के माध्यम से साम्प्रदायिक एकता एवं देश-प्रेम की भावना को प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है। इन नाटकों के अतिरिक्त डा० रामकुमार वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, प्रेमनारायण टंडन, राजाराम शास्त्री आदि अनेक लेखकों ने एकांकियों एवं रेडियो-रूपकों के माध्यम से भी गांधी जी के उपर्युक्त आदर्शों को अभिव्यक्ति दी है।

कविता, उपन्यास, कहानी एवं नाटक की ही भाँति निबन्धों के माध्यम से भी हिन्दी के साहित्यकारों ने गांधी जी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है तथा उनकी विचारधारा, मूल्यों और आदर्शों की स्थापना विशदता और निष्ठा से की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य की इस युग की सभी विधाओं पर गांधी जी का व्यापक प्रभाव रहा है। हिन्दी के लगभग सभी साहित्यकार गांधीजी के व्यक्तित्व से अभिभूत थे वे उनके प्रति श्रद्धा रखते थे, उनके सिद्धांतों, आदर्शों और आचरण से प्रभावित और उनसे प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने ऐसी रचनाओं का सृजन किया, जो उस सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना और राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित थी, जिसका संचालन और प्रवर्त्तन गांधी जी कर रहे थे। गांधी जी के सभी सिद्धान्तों, कार्यक्रमों एवं आन्दोलनों का उन्होंने विशदता से चित्रण किया और निष्ठापूर्वक उनका समर्थन करते हुए स्वतंत्रता आन्दोलन को प्रज्ज्वलित और प्रखर बनाने में अपना अमूल्य योगदान दिया। वस्तुतः, इस युग का अधिकांश साहित्य राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित है और उस पर गांधी जी का अमिट और गहरा प्रभाव है। इस युग के हिन्दी के साहित्यकार के लिए गांधी जी

एक आदर्श थे, उसके प्रेरणा स्रोत थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी काफी समय तक हिन्दी साहित्य में गांधी जी का प्रभाव बना रहा। कुछ लेखकों ने गांधी-दर्शन से ही प्रेरणा लेकर नवीन संदर्भों में मानवतावादी मूल्यों की स्थापना करने की चेष्टा की। जब हिन्दी साहित्य प्रगतिशील चिंतन और साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होने लगा तो कुछ लेखकों ने गांधीवाद और साम्यवाद में समन्वय स्थापित करने का भी प्रयास किया। किन्तु, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सत्ता-लिप्सा जनित राजनीति से व्यापक स्तर पर व्याप्त राजनैतिक भ्रष्टाचार, सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास, सामाजिक विसंगतियों और आर्थिक विषमताओं के कारण युवा-पीढ़ी के साहित्यकारों के लिए गांधी और गांधीवाद विस्मृत हो गए और उसकी रचनाओं में विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह की भावनायें उभरने लगीं।

विडंबना यह है कि गांधी के इस देश में आज उन मूल्यों का ह्रास हो रहा है, जिनकी स्थापना के लिए वे आजीवन प्रयास करते रहे, जब कि अन्य देशों में गांधीवाद के प्रति ललक और आस्था बढ़ती जा रही है तथा यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि गांधी जी के आदर्शों पर चलकर ही संसार में स्थायी शान्ति स्थापित की जा सकती है। यह भी बड़ी चिन्ता और दुर्भाग्य का विषय है कि आज धर्म को राजनैतिक लक्ष्यों का माध्यम बनाया जा रहा है जबकि गांधीजी राजनीति को उच्च आध्यात्मिक धरातल पर स्थापित करने में संलग्न रहे। निःसन्देह, एक समय था जब हिन्दी के साहित्यकार ने देश के प्रति अपने दायित्व को अच्छी तरह समझा था और गांधी जी के आदर्शों को स्थापित करने में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया था। आज आवश्यकता है कि हिन्दी का साहित्यकार पुनः उन मूल्यों और आदर्शों की स्थापना में अपनी प्रतिभा का उपयोग करे।

●

प्रेमचन्द साहित्य में राष्ट्रीय-चेतना का स्वरूप

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम प्रभावशाली उपन्यासकार हैं, जिन्होंने समसामयिक युग-बोध और जन-जीवन से हिन्दी उपन्यास का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। प्रेमचन्द उपन्यास को मानव-जीवन का काल्पनिक चित्र मानते थे। मानव-जीवन से उनका अभिप्राय अपने समाज, अपने आसपास की समस्याओं और मानवीय संवेदनाओं और सम्बन्धों के व्यापक धरातल से है। अतः, एक ओर उनके उपन्यासों में आसपास के जीवन के यथार्थ चित्र अंकित हैं, तो दूसरी ओर समूचे राष्ट्रीय-जीवन और उनसे भी अधिक समग्र मानवता को उपन्यासों का विषय बनाया गया है। प्रेमचन्द एक अर्थ में समसामयिक होते हुए भी सर्वकालिक हैं और राष्ट्रीय गतिविधियों से घनिष्ठता से जुड़े हुए होने पर भी सार्वभौमिक उद्देश्यों को लिए हुए हैं।

प्रेमचन्द के समूचे साहित्य को समक्ष रख कर यह निष्कर्ष निश्चित रूप से निकाला जा सकता है कि उनके चिन्तन में एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। इस विकास क्रम को कथ्य और शिल्प—दोनों भूमियों पर स्पष्टतः रेखांकित किया जा सकता है। प्रेमचन्द राष्ट्र की जीवनधारा से बड़ी निकटता और घनिष्ठता से सम्बद्ध रहे हैं और राष्ट्रीय विचारधारा के प्रति दृढ़ता से प्रतिबद्ध रहे हैं। वस्तुतः, प्रेमचन्द पर यदि प्रतिबद्धता का आरोपण किया जाए तो वह केवल इसी अर्थ में सार्थक हो सकता है कि वे सर्वप्रथम राष्ट्र के प्रति और तदुपरान्त मानवता के प्रति प्रतिबद्ध थे। इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट वर्गगत विचारधारा के प्रति वे कभी प्रतिबद्ध नहीं रहे।

प्रेमचन्द एक विशेष अर्थ में ही समसामयिक बोध लिये हुए हैं। किन्तु, साथ ही उनमें आधुनिकता-बोध भी विद्यमान है। समसामयिक इस अर्थ में हैं कि वे अपने युग-परिवेश के विविध सन्दर्भों के साथ पूरी ईमानदारी से जुड़े हुए थे और आधुनिक इस अर्थ में हैं कि उन्होंने यथास्थिति को यथावत् स्वीकार न करके उन

की तर्कसंगत मीमांसा की और परंपरागत, रूढ़, जड़ और अप्रासंगिक सिद्ध हो गई विचारधाराओं, मान्यताओं, विश्वासों और पद्धतियों पर प्रश्न चिह्न लगाया। राष्ट्र-जीवन को सक्रिय बनाने, उसे गति देने और उसका उत्कर्ष करने के लिए समसामयिक युग-बोध से जुड़ी हुई इस प्रकार की चिन्तन प्रक्रिया ही प्रासंगिक और सार्थक होती है। जड़ चिन्तन किसी भी अग्रगामी राष्ट्र के लिए मंगलकारी नहीं हो सकता। अतः, इस दृष्टि से भी प्रेमचन्द पूरी तरह राष्ट्रीयता के पक्षधर थे।

प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता को मात्र राजनीतिक धरातल पर न आंक कर व्यापक सन्दर्भों में देखना अधिक समीचीन होगा। निश्चय ही, प्रेमचन्द राजनीतिक सन्दर्भों से भी पूरी तरह प्रभावित, प्रेरित और परिचालित रहे हैं। राजनीतिक जागरण के उस युग में राष्ट्रीय-चेतना को, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से और अधिक गतिमयता और समुचित दिशा देने में वे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे। फिर भी उनकी राष्ट्रीय-चेतना का मूल्यांकन राजनीतिक सन्दर्भों के अतिरिक्त सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आयामों के परिप्रेक्ष्य में किया जाना तर्कसंगत होगा।

प्रेमचन्द का समय देश में नवीन राजनीतिक उद्‌बोधन का युग था। राष्ट्रीय-भावना की वह चिंगारी, जो सन् 1857 ई० में प्रकट हुई थी, गोखले, तिलक, दादा भाई नारोजी और अन्ततः महात्मा गांधी के राजनीतिक मंच पर उदित होने से उसने एक नया रूप धारण कर लिया था। अब स्वतन्त्रता और स्वराज्य की मांग ज़ोर पकड़ रही थी और इसके लिए नित्य नए आन्दोलन हो रहे थे। सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, मद्य-निषेध, पिकटिंग और गर्म दल की क्रान्तिकारी घटनाएँ इसका प्रमाण हैं। देशवासी साहस और उत्साह के साथ अपना उत्सर्ग कर रहे थे। प्रेमचन्द जैसे संवेदनशील साहित्यकार द्वारा अपने आसपास की इन परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करना बड़ा स्वाभाविक था। उन्होंने इस स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय योगदान दिया, कांग्रेस की अनेक बैठकों में वे उपस्थित रहे। स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक लेख लिखे और उनके समूचे साहित्य में समय-समय पर राष्ट्रीय-चेतना की अभिव्यक्ति बड़े गहरे और व्यापक रूप में हुई है।

वस्तुतः, गांधीजी और प्रेमचन्द के बीच अनजाने ही गुरु शिष्य का सा सम्बन्ध स्थापित हो गया था। प्रेमचन्द ने स्वयं स्वीकार भी किया था कि वे गांधी जी को अपना गुरु मानते हैं।

गांधी जी की राष्ट्रीय विचारधारा के प्रति प्रेमचन्द ने अनेक बार श्रद्धाभाव व्यक्त किए हैं। 1932 में गांधीजी ने यरवदा जेल में अनशन शुरू किया। उस पर 'महान तप' शीर्षक से प्रेमचन्द ने लिखा था—

"भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की गई हैं, पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का संकल्प महात्मा गांधी की ही कीर्ति है।"

प्रेमचन्द ने गांधी को "दधीचि" की संज्ञा दी थी। वास्तव में गांधी जी के प्रति उनकी यह श्रद्धांजलि व्यक्ति के प्रति नहीं, बल्कि देश के लिए उनकी त्याग-भावना के प्रति है, जो उनकी निजी राष्ट्रीय-चेतना की परिचायिक है।

कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में स्वराज्य की मांग प्रस्तुत की गई थी। किन्तु, इस सन्दर्भ में अभी बहुत से मुद्दे पूरी तरह स्पष्ट नहीं थे। एक सजग चिंतक और सक्रिय राष्ट्र भक्त के रूप में प्रेमचन्द ने 'स्वराज्य' के स्वरूप पर अपने स्पष्ट एवं सुचिन्तित विचार प्रकट किए। महावीर प्रसाद पोद्दार की "असहयोग माला" नामक पुस्तक-माला में "स्वराज्य के फायदे" शीर्षक से बीस पृष्ठों का एक लेख प्रेमचन्द ने 1921 में लिखा था। इसमें—'स्वराज्य क्या है?' 'स्वराज्य के साधन', 'स्वराज्य के लाभ' आदि पर विशदता एवं गम्भीरता से विचार किया गया है। स्वराज्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा था—

"अपने देश का पूरा-पूरा इन्तजाम जब प्रजा के हाथों में हो तो उसे स्वराज्य कहते हैं।"

स्वराज्य के सम्बन्ध में उनकी परिकल्पना राजनीतिक स्वतन्त्रता से आगे बढ़ कर आर्थिक शोषण से मुक्ति की ओर भी इंगित करती है। वक्तव्य में वे आगे लिखते हैं—

"वहाँ की प्रजा लगान और करों के बोझ से दबी नहीं रहती।"

सन् 1920 के बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन क्रमश: तीव्र होता जा रहा था। प्रेमचन्द स्वयं इस आन्दोलन में रंगे हुए थे आन्दोलन के तीव्र होने के साथ-साथ प्रेमचन्द में स्वराज्य के प्रति उत्साह और राष्ट्र के अपमान के प्रति क्षोभ बढ़ता गया। अनेक स्वार्थी तत्त्व इस आन्दोलन के मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर रहे थे। अनेक नेता ऐसे भी थे, जिनकी दृष्टि इस सम्बन्ध में अभी पूरी तरह स्पष्ट नहीं थी। इस स्थिति को समझते हुए प्रेमचन्द ने सन् 1921 ई० में 'ज़माना' में "वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावटें" नामक लेख लिख कर इस आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त करने की चेष्टा की। आन्दोलन के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि निस्सन्देह अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक थी। वे स्वार्थी तत्त्वों की भूमिका और अन्य कमज़ोरियों को पहचानते थे। उनमें आन्दोलन में पड़ रही दरारों के देखने की अन्तर्दृष्टि भी थी और इसके प्रति उन्होंने सावधान भी किया था। जमींदार/मिल मालिक और स्वार्थी नेताओं की तथाकथित देश भक्ति की ओर भी उन्होंने संकेत किए हैं। ऐसे तत्त्वों को उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में भी व्यंग्या-

त्मक मुद्रा में उभारा है। 'दुःसाहस', 'चमका', 'बुल डाग', 'बोड़म', 'अधिकार-चिंतन', 'लाल फीता', 'विचित्र होली', 'स्वत्व रक्षा' ऐसी कहानियाँ हैं और 'गबन, 'कर्मभूमि', प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' एवं 'गोदान' ऐसे उपन्यास हैं, जिनमें स्वतन्त्रता आन्दोलन के विविध पक्ष और आयाम उभरकर सामने आए हैं। सत्याग्रह, असहयोग, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, मद्य निषेध, न्यायालय के स्थान पर पंचायतों में निष्ठा, सरकारी नौकरी का बहिष्कार, पुलिस और महाजनी और जमींदारी प्रथा पर कठोर प्रहार, छुआछूत का विरोध, सांप्रदायिक एकता आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में उभारा है।

जैसा कि पहले कहा गया है प्रेमचन्द की चिंतन प्रक्रिया में एक विकास-क्रम स्पष्ट लक्षित होता है। आरम्भ में वे समस्याओं का निदान समाज सुधार में खोजते रहे, जो उन पर पड़े आर्य समाज का परिणाम कहा जा सकता है। इस काल की रचनाओं में उन्होंने वेश्या समस्या, विधवा समस्या, अनमेल विवाह, बाल विवाह आदि नारी जीवन से सम्बन्धित विविध सामाजिक समस्याओं को अपने कथा साहित्य में चित्रित किया। विविध सामाजिक कुप्रथाओं व विसंगतियों का परिहार करने की उन्होंने भरसक चेष्टा की है। इन समस्याओं को उन्होंने बड़े व्यापक धरातल पर उठाया है। यह भी उनकी व्यापक राष्ट्रीय-चेतना का ही एक अंग है। सामाजिक, विसंगतियों और विद्रूपताओं से विकलांग कोई भी देश स्वस्थ, समृद्ध और स्वतन्त्र नहीं रह सकता। 'महाजनी-सभ्यता' पर उनका निबन्ध हमारे मत की पुष्टि करता है।

तदनन्तर, प्रेमचन्द के चिन्तन का केन्द्र राजनीति और राजनीतिक स्वतन्त्रता हो गया। स्वराज्य को उन्होंने देश की समस्याओं के निदान के रूप में आधार रूपेण ग्रहण किया क्योंकि वे समझते थे कि सभी सामाजिक-आर्थिक विसंगतियाँ पराधीनता का ही परिणाम है। 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' आदि उनकी इसी काल की रचनाएँ हैं, जिनमें राजनीतिक चेतना प्रखरता से व्यक्त हुई है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में राजनीतिक-चेतना की प्रतिध्वनि निरन्तर मुखरित होती रही है। उनकी उर्दू में प्रकाशित सबसे पहली रचना 'सोज़े वतन' देश प्रेम की भावना से ओतप्रोत थी। अंग्रेज सरकार साहित्यिक स्तर पर उनकी इस खुली चुनौती को सहन नहीं कर सकी और उसे जब्त कर लिया गया। उनकी रचना की प्रतियाँ उनके सामने ही अग्नि की भेंट कर दी गईं और प्रेमचन्द जी को धमकाया गया। किन्तु, उनके अन्तर्मन में देशप्रेम और स्वतन्त्रता की जो चिंगारी जल रही थी, वह इस घटना से और धधक उठी। उन्होंने सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और अपनी राष्ट्रीय-भावना को और अधिक व्यापक स्तर पर साहित्य में मुखरित किया। 'गबन' यद्यपि मध्यवर्गीय मनोवृत्ति और आभूषण-

प्रेम के दुष्परिणाम को लेकर लिखा गया सामाजिक उपन्यास है, किन्तु, प्रेमचन्द की राष्ट्रीय-चेतना यहाँ भी प्रबल वेग के साथ व्यक्त हुई है। देवीदीन की राष्ट्रीय भावना किसी भी देशभक्त, सत्याग्रही की स्पर्धा का विषय हो सकती है। विदेशी कपड़े की दुकान पर तैनात उसके दो जवान पुत्र जब स्वराज्य के पक्ष में अपना उत्सर्ग कर देते हैं, तो उस समय की अपनी अवस्था को देवीदीन यों प्रकट करता है—"उस बखत ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज-भर की हो गई है, पाँव जमीन पर न पड़ते थे।"

इस उपन्यास में मद्यनिषेध, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की चर्चा तो हुई ही है, साथ ही अलीपुर षड्यंत्र केस की गूँज भी सुनाई देती है। सत्याग्राहियों पर पुलिस के झूठे मुकदमे, देशद्रोहियों की झूठी गवाहियाँ इस उपन्यास में नग्न हो उठी हैं। 'गबन' उपन्यास की टोन में देशद्रोहियों के प्रति घृणा और आक्रोश स्पष्ट सुनाई पड़ता है। इसमें जालपा जैसी भारतीय नारियों की मुक्ति-चेतना को भी सक्षमता से उभारा गया है। वस्तुतः, जालपा के माध्यम से नारी की स्वातन्त्र्य-चेतना की अभिव्यक्ति जिस रूप में इस उपन्यास में हुई है, वह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण अंग है। जोहरा जैसी वेश्या की भूमिका को बदलने के पीछे भी देश प्रेम की यही उत्कट भावना सक्रिय है।

'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर को तो गांधी जी का मानस-प्रतीक ही माना गया है। सन् 1915 में गांधी जी जिस प्रकार अफरीका से लौटकर स्वतन्त्रता संग्राम में कूदे थे, उसी प्रकार प्रेमशंकर अमरीका से लौटकर देश हित के कार्यों में जुटते दिखाए गए हैं। गांधी ने बम्बई में 'सत्याग्रह आश्रम' स्थापित किया था, तो प्रेमशंकर यहाँ 'प्रेमाश्रम' की स्थापना करता है। 'प्रेमाश्रम' के मनोहर और बल-राज वे पुरुष सिंह हैं, जो विलसिया के अपमान का बदला लेने के लिये संघर्ष और हिंसा का मार्ग अपनाते हैं। वे क्रान्तिकारी दल की गतिविधियों और विचार-धारा का ही दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि विलसिया यहां भारतमाता का प्रतीक बनकर आई हैं। किन्तु, यहाँ द्रष्टव्य है कि प्रेमचंद हिंसा के मार्ग को स्वीकार करते हुए नहीं जान पड़ते; बल्कि, गांधी जी के मार्ग का ही अनु-सरण करते दिखाई देते हैं। प्रेमशंकर गांधीवादी मार्ग का प्रवर्त्तक है। 'बलिदान' कहानी का गिरधर भी इसी प्रकार का अहिंसाव्रती और शान्तिप्रिय व्यक्ति है। 'कायाकल्प' का चक्रधर भी अंग्रेजों की बस्तियों को भस्म करने के लिए उत्तेजित जन-मत को दबा देता है।

'रंगभूमि' के सूरदास में पुनः प्रेमचन्द गांधी को सक्रिय देख रहे हैं। सूरदास अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आजीवन लड़ता है, हारता है, किन्तु हार नहीं मानता। उसके इस कथन में कि—"हम हारे तो क्या ? मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धांधली तो नहीं की, फिर खेलेंगे। ज़रा दम लेने दो। एक दिन

हमारी जीत होगी, ज़रूर होगी," वस्तुतः, गांधी जी के ही शब्द दोहराते गए प्रतीत होते हैं, जो उन्होंने प्रथम असहयोग आन्दोलन के असफल होने पर कहे थे।

'कर्मभूमि' का अमरकान्त भी गाँधी जी की विचारधारा का गहरा प्रभाव लिए हुए है। उसके द्वारा खादी बेचना, गाँव में पाठशाला की स्थापना करना आदि भी शिक्षण संस्थाओं और विदेशी वेशभूषा आदि छः प्रकार के बहिष्कार का ही अंग है, जो गांधी जी के असहयोग आन्दोलन की रीढ़ है।

इस प्रकार प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में गांधीवादी दर्शन-अहिंसा, सत्याग्रह और असहयोग का प्रतिपादन प्रभावशाली ढंग से हुआ है।

साम्प्रदायिक-समस्या और अछूतोद्धार पर भी विशेष बल दिया गया है।

अछूतोद्धार तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अभिन्न अंग है। ब्रिटिश सरकार द्वारा हिन्दुओं की मुख्य धारा से अछूतों को अलग करने के सभी षड्यन्त्रों को गांधी जी ने धाराशायी कर दिया था। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी ने लिखा था—

"उस महान आत्मा की तपस्या ने ब्रिटेन के महान् राजनीतिज्ञों के द्वारा तैयार की हुई उस सुदृढ़ दीवार को, जो हिन्दू और अछूतों को अलग करने के लिए बड़े गहन कौटिल्य के सीमेंट से तैयार की गई थी, विध्वस्त कर दिया।"

वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित छुआछूत संबंधी सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—

'क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में यह छूआछूत उन्हें धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है ?"

सम्भवतः, यही कारण था कि वे मातादीन के उच्च वर्गीय सारे अहंकार को ध्वस्त करके व सिलिया के प्रेम और त्याग को महत्ता प्रदान करते हुए उन्हें विवाह सूत्र में बांधते दिखाई पड़ते हैं।

राष्ट्र को साम्प्रदायिक भावनाओं से ऊपर उठाकर एकता के सूत्र में पिरोना राष्ट्रीय-चेतना का ठोस व महत्वपूर्ण मुद्दा कहा जा सकता है। अंग्रेजी शासक राष्ट्रीय एकता को खंडित करने के लिए कभी तो हिन्दू-मुस्लिम विवाद खड़ा कर देते थे, कभी छुआछूत का विष फैलाते थे। गाँधी जी ने उनके षड्यंत्र को अच्छी तरह पहचाना था। अतः, अछूतोद्धार के साथ-साथ उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता की व्यापक स्तर पर चेष्टा की। इसलिए सन् 1921 में उन्होंने खिलाफत आन्दोलन में सहयोग दिया था। प्रेमचन्द की "क्षौड़म" कहानी हिन्दू-मुस्लिम एकता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'कर्बला' नाटक में भी उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया है। यहाँ तो कुछ हिन्दुओं को हुसैन के साथ मिलकर "कर्बला" में लड़ते हुए तक दिखा दिया है।

'रंगभूमि' में विनय और सोफिया का प्रेम इस दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता

है। "कर्मभूमि" में भी अमरकान्त का प्रेम सकीना नामक लड़की से दिखाकर हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़ करने में अपना सहयोग दिया है।

भारत गाँव में बसता है। गाँव की ओर मुड़ना भी स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रहा है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों व कहानियों में गांव की यथार्थता को मूर्तिमान किया है और इस स्तर पर अपनी राष्ट्रीय-चेतना का परिचय दिया है। हमारे गांव वस्तुतः जमींदारी शोषण की वह पृष्ठभूमि तैयार करते रहे हैं, जो राष्ट्रीय हित के लिए सबसे बड़ा संकट उत्पन्न करते हैं। प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में जमींदारी प्रथा को समाप्त करके एक नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की चेष्टा की है, जिसमें वर्ग-भेद और शोषण की प्रक्रिया समाप्त हो सके। प्रेमशंकर और मायाशंकर उस विचारधारा के पक्षधर हैं कि "जमीन जोतने वाले की हो।" वस्तुतः, हमारे स्वराज्य और राष्ट्रीय चेतना का एक मुख्य मुद्दा यह भी रहा है और प्रेम चंद ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

'गोदान' तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द का कुछ मोह भंग हो चुका था। यहां हम पाते है कि एक ओर प्रेमचन्द का साक्षात्कार मार्क्स से हो रहा है और आर्थिक स्तर पर वे उस ओर झुकते से प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर चुनावों, राजनीतिक नेताओं और एसेंबलियों पर वे तीखे व्यंग्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं। यहां कई बार ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द लोकतन्त्र की सारी व्यवस्था के प्रति शंकालु हो रहे हैं अथवा राजनीतिक चिंतन के उस पक्ष से उनका विश्वास हिल रहा है। किन्तु, वास्तविकता यह नहीं है। यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो पायेंगे कि 'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने गांधी की आन्तरिक मूल्य-चेतना में अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त की है, जिसका मूल आधार सत्य, त्याग और सेवा है। यह दूसरी बात है कि राजनीति के बाहरी मुखौटे से उन्हें निराशा हुई है।

'गोदान' में आकर प्रेमचंद की चिंता आर्थिक विषमताओं और अभावों पर केन्द्रित हो गई और राजनीतिक गतिविधियों से थोड़ा अलग होकर उन्होंने शोषक और शोषित के अन्तर को और अधिक गहराई से देखने-परखने की चेष्टा की है। यहाँ मार्क्सवादी विचारधारा से वे काफी प्रभावित दीखते हैं। किन्तु, उसे वे पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाते। जलूस में आहत गोबर की दुर्दशा से वे चौंक उठते हैं और क्रान्ति के मार्ग में खून का जो दरिया उन्हें लहराता दिखाई पड़ता है उससे वे कांप उठते हैं। उसके स्थान पर वे सेवा और त्याग की उस भूमिका में लौट चलते हैं जो भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रवृत्ति रही है और गांधी जिसके पक्षधर रहे हैं। वस्तुतः, यहां हमें उनकी राष्ट्रीयता चेतना की एक और गहरी पहचान मिलती है। यह वह स्तर है, जहां उनकी राष्ट्रीयता मानववादी दर्शन का स्पर्श करने लगती है। बहुत से समीक्षक प्रेमचन्द को 'गोदान' में प्रगतिवादी अथवा

मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक सिद्ध करने की चेष्टा करते रहे हैं। किन्तु, गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट होताहै, कि प्रेमचन्द का मार्क्सवाद से साक्षात्कार तो हुआ था, वे उससे प्रभावित भी हुए थे, किन्तु अन्ततः वे उससे दूर हटते गए। 'गोदान' का अन्त भी हमें करुणा का संदेश देता है, क्रान्ति का नहीं। मालती और मेहता की सेवा, तप और त्याग की भावनायें हमारे मानस-जगत में उस समय भी गूंज रही होती है, जब शोषण की चक्की में कतरा-कतरा पिसता होरी अन्तिम दम तोड़ रहा होता है। वस्तुतः, सत्य, सेवा, त्याग, करुणा और मानव-प्रेम ऐसे उदात्त जीवन-मूल्य हैं, जो हमारे देश की अमूल्य सांस्कृतिक निधि हैं और इन मूल्यों की स्थापना प्रेमचन्द ने अपने सम्पूर्ण कथा-साहित्य में निष्ठा एवं विशदता से की है, जो उनकी राष्ट्रीयता को प्रामाणिकता की पहचान देती है।

दूसरे, मार्क्स का संकुचित राष्ट्रीयता में कतई विश्वास नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी के मेन्युफैस्टो के अनुसार—"मजदूरों का कोई स्वदेश नहीं है।" इस के विपरीत प्रेमचन्द की सौ प्रतिशत राष्ट्रीयता में आस्था थी। यह दूसरी बात है कि उन की राष्ट्रीयता संकुचित दायरे में बन्द नहीं थी। वह राष्ट्रीयता थी, जिसकी चेतना को भारतीय ऋषियों ने "विश्व कुटुम्बकम्" की भावना में व्यक्त किया था। वस्तुतः, 'गोदान' की मूल चेतना यही धारणा है, जिसकी व्याख्या प्रेमचंद ने 'गोदान' के अन्तिम चरण में सांकेतिक रूप में की है। निश्चय ही, बाह्य सामाजिक व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन तब तक सार्थक नहीं हो सकता, जब तक आन्तरिक मानव मूल्यों के साथ उसका सामंजस्य स्थापित नहीं किया जाता। वस्तुतः, प्रगतिशील आर्थिक चिंतन के साथ आध्यात्मिक मूल्य-चेतना का सामंजस्य ही हमारा सही राष्ट्रीय दर्शन हो सकता है और प्रेमचन्द की यही मान्यता थी।

"नाच्यो बहुत गोपाल" विकृत मनोवृत्तियों का चित्रांकन

'नाच्यो बहुत गोपाल' हिन्दी के प्रख्यात कथा-शिल्पी अमृतलाल नागर की एक विशिष्ट औपन्यासिक कृति है। दलित वर्ग अथवा आम आदमी को लेकर पिछले दिनों हिन्दी में बहुत कुछ लिखा गया, किन्तु यह पहला और अकेला उपन्यास है, जिसमें 'अछूत से भी अछूत' कही जाने वाली मेहतर जाति का यथार्थ एवं अन्तरंग चित्र प्रस्तुत किया गया है। जगदीश चन्द्र का चमारों के जीवन पर आधारित यथार्थ-वादी उपन्यास 'धरती धन न अपना' काफी चर्चित रहा है, किन्तु सभी लोगों की 'गंदगी ढोने वाले' मेहतर वर्ग की यातनाओं की ओर किसी भी हिन्दी लेखक का ध्यान नहीं गया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि हिन्दी का लेखक प्राय: सुविधाभोगी वर्ग से सम्बन्धित रहा है और उस वर्ग के यथार्थ अनुभव प्राप्त करने का सामर्थ्य उसमें शायद नहीं है। दलित वर्ग का पक्षधर बनने का दावा वह चाहे जितना करे, किन्तु मेहतरों की बस्तियों के बदबूदार माहौल में चंद घंटे गुज़ारने की भी हिम्मत कदाचित् उसमें नहीं है। नागर जी को इस बात का श्रेय देना ही होगा कि मेहतरों के जीवन का यथार्थ अनुभव प्राप्त करने के लिए उन्होंने वर्षों उनकी बस्तियों में चक्कर लगाये हैं। तभी वे उनके रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, पारिवारिक जीवन, नैतिक एवं धार्मिक विश्वासों तथा उनकी मानसिकता आदि का इतना प्रामाणिक चित्रण करने में सफल हुए हैं। वैसे उपन्यास की नायिका निर्गुणियाँ की अपेक्षा गुल्लन और मसीते के पारिवारिक जीवन के माध्यम से यह चित्र अधिक जीवन्तता से उभरा है। नागर जी के कथाकार की यह विशेषता है कि जिस कथानक को वे अपने उपन्यासों का आधार बनाते हैं, उससे पूरा तादात्म्य स्थापित करते हैं और इसीलिए उनकी कृतियों में आंचलिकता भी उभर आती है।

यह तो हुई इस उपन्यास की उपलब्धि की बात। किन्तु, प्रश्न है कि आखिर इस उपन्यास की मूल संचेतना, अथवा मूल मुद्दा क्या है ; क्या मेहतर जाति

की 'मुक्ति चेतना' जैसी कोई बात इसमें उभरी है? शायद प्रयास किया गया है। यह प्रयास तीन-चार स्तरों पर उभरा है। एक तो—एक कुलीन ब्राह्मणी को मेहतरानी बनाकर—और उसे पीट-पीट कर पाखाना उठवाकर। दूसरे, यह सिद्ध करके कि मेहतरों में भी ऐसे अनेक गोत्र हैं जो ठाकुरों के गोत्र हैं अर्थात् ये मेहतर ठाकुरों का ही एक वर्ग-विशेष है। तीसरे, मेहतर मोहना को ठाकुर मोहन बनाकर उसके द्वारा थानेदार तथा अन्य संभ्रांत लोगों की दुर्दशा करवा कर, और चौथे, निर्गुणियाँ और उसके पुत्रों के मुक्ति प्राप्त (?) जीवन के रूप में।

लेकिन, क्या लेखक इस प्रकार के 'लटकों-झटकों' से अपने उद्देश्य में सफल हुआ है? क्या यह पाठक में मेहतर जाति के प्रति कोई सहानुभूति या उनकी यातना के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर सका है? और क्या मेहतर जाति में 'मुक्ति-चेतना' जैसी कोई चीज़ जागृत कर पाया है? कहना होगा कि ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। एक बूढ़े वैश्य की काम-पीड़ित-ब्राह्मणी युवती पत्नी को जवान मेहतर के साथ संभोगेच्छा से प्रेरित होकर भगवाकर वह किस उद्देश्य को प्राप्त करना चाहता है? रात भर थानेदार को अफसर बेगम की ओर ढकेल कर काजल की कोठरी से 'बेदाग' निकल आने वाली, 'केवल मेहतर (ठाकुर) मोहन की प्रिया का दम भरने वाली, (अनेकों द्वारा भोगी हुई होने पर भी) निर्गुणियाँ के चरित्र से भले ही लेखक ने ब्राह्मणों के अहं पर चोट की हो, किन्तु, इससे किसी सार्थक लक्ष्य की सिद्धि हुई हो, यह कहना कठिन है। नागर जी ने 'मानस के हंस' में तुलसीदास जी की भी काफी दुर्गत बनाई है। शायद यह उनका दोष नहीं है, यह उस नवाबी माहौल की देन है, जिसमें 'शतरंज के मोहरे' लिखा गया था, और जो नागर जी की साहित्य-चेतना का अभिन्न अंग बन गया लगता है। यहाँ जैक्सन के माशूक के साथ समलैंगिक—यौन सम्बन्धों के बीभत्सतापूर्ण नग्न चित्र भी सम्भवतः उसी चेतना के अंग हैं, जिनसे उपन्यास का 'स्वाद' बिगड़ा है, 'संवरा' नहीं है।

जहाँ तक मेहतरों को ठाकुर बनाने का सम्बन्ध है, अच्छा होता, नागर जी का साहित्यकार साहित्यकार ही रहता, इतिहासकार और अनुसंधाता बनने का मोह न करता। अनुसंधाता बनने का मोह भी नागर जी में कुछ अधिक ही लगता है। एक सृजनशील साहित्यकार जब अपनी कलाकृति में शोध-कर्ता बनने की भी चेष्टा करता है तो संवेदना के स्तर पर कृति में दरारें पड़ना स्वाभाविक ही है। मेहतरों को ठाकुर बनाने में लेखक का एक उद्देश्य यह भी हो सकता है कि ब्राह्मणी और फिर वैश्य निर्गुणियाँ को मेहतरानी बनाकर इन दोनों वर्णों पर तो वह चोट कर ही चुका था, तीसरा वर्ण क्षत्रिय बचा था, उसने अपने शोध के आधार पर मेहतरों को उसके समकक्ष ला खड़ा किया। लेकिन, अफसोस, मेहतरों की 'मुक्ति' का यह 'फार्मूला' सार्थक सिद्ध नहीं हो पाया।

वस्तुतः, 'धरती धन न अपना' में जितनी विशदता से चमारदड़ी का स्वाभा-

विक और यथार्थ चित्र उभारा है, इतना मेहतरों की जिन्दगी का 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में नहीं उभर सका।

'धरती धन न अपना' पर कुछ आलोचकों का एक आरोप यह है कि उसका नायक 'काली' संघर्ष का पक्षधर बनकर नहीं आया, वह दब्बू और पस्त व्यक्ति की निरीह मौत मारा जाता है। कहा जा सकता है कि 'नाच्यौ बहुत गोपाल' का मोहन मेहतर ठाकुर बनकर संघर्ष करता हुआ मरता है—पर क्या उसका डाकू बनकर, बड़े लोगों को लूटना और पुलिस की मुठभेड़ से मारा जाना, उस संघर्ष-चेतना को जन्म दे सका, जिसकी अपेक्षा इस तरह के उपन्यास में की जाती है। नागर जी यहाँ भी लक्ष्य से भटक गये हैं।

निर्गुणियाँ के निरन्तर शराब पीने, मांस खाने और ब्राह्मणी से मेहतरानी—बनने की प्रक्रिया को सिद्ध करने की धुन में भाषा को भ्रष्ट करके बोलने में ऐसा कुछ नहीं है जिसमें 'मुक्ति' की 'गंध' हो। यहाँ से तो 'यौन' और 'मद्य-माँस' की 'दुर्गन्ध' ही आ रही है। उसके पुत्र जैसे-तैसे बड़े आदमी भले ही बन गये, पर किसी भी तरह उन्हें मेहतर जाति की मुक्ति-चेतना के सार्थवाह नहीं माना जा सकता।

अस्तु, यदि नागर जी निर्गुणियाँ को इतना नचाकर, कथा-सृजन में थोड़े जम कर मेहतरों की जिन्दगी में और गहरे उतरते, तो इस उपन्यास की इस युग की श्रेष्ठ एवं विशिष्ट कृतियों में गणना होती, इसमें संदेह नहीं। निर्गुणियाँ के चरित्र में काफी असंगतियाँ और अस्वाभाविकता है। साम्प्रदायिक दंगों का भी कथानक में पूरी तरह सामंजस्य नहीं बैठ पाया।

●

समान्तर कहानी : महज़ एक आन्दोलन

समान्तर कथा-लेखन एक आन्दोलन ही था और उसके घोषणा-पत्रों, प्रस्तावों और बहसों के दस्तावेज़ों के प्रकाशित होने के बाद यह बहस का विषय ही नहीं रह गया है। बहस का विषय तो यह है कि साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार के आन्दोलनों की क्या संगति एवं सार्थकता है ?

इस प्रकार के आन्दोलनों को न तो नकारा जाना चाहिए और न ही उसे अभिशाप समझा जाना चाहिए, बशर्ते उनका आधार सही हो और उनमें सही मानवीय-मूल्यों की पहचान हो। इस पहचान की परख युग-सन्दर्भ में ही आंकी जा सकती है। भक्तिकालीन साहित्य भी एक आन्दोलन की प्रेरणा से लिखा गया था और उसने जन-मानस में एक नवीन सांस्कृतिक चेतना को जागृत किया था।

समान्तर कथा-लेखन ने आज के युग के चेतना-बिम्बों को सार्थकता के साथ अभिव्यंजित करने का सक्षम प्रयास किया है। किसी युग में यदि कोई अर्थवान प्रगतिशील चेतना जागृत होती है, तो उस चेतना-बिन्दु को व्यापक धरातल पर सही पहचान और अर्थवत्ता के साथ जन-मानस में प्रतिष्ठित करना किसी भी रचनाधर्मी लेखक का लक्ष्य हो सकता है। इसलिए आज का लेखक यदि 'दलित, वंचित, शोषित, बाधित, अपमानित और सर्वहारा वर्ग के आर्थिक और सांस्कृतिक संकट को लेकर कहानी लिखता है तो वह अपने युगधर्म को ही निभाता है। युग-धर्म से कटकर न कोई रचना जीवित रह सकती है और न ही कोई रचनाकार। निश्चित रूप से समान्तर कथा आन्दोलन के माध्यम से शोषित और दलित-वर्ग, जिसे 'आम आदमी' का नाम दिया गया है, की स्थिति और मानसिकता का चित्रण साहसपूर्वक किया गया है। यही नहीं---उसकी दारुण स्थिति के प्रति जागरूकता उत्पन्न करके उनके मुक्ति-आन्दोलनों को भी प्रश्रय दिया जाता रहा है। यह इस आन्दोलन की उपलब्धि और सार्थकता है। लेकिन, यही किसी भी जीवंत लेखन की एक सीमा भी हो सकती है। प्रेमचन्द और समान्तर लेखन को

आमने-सामने रखकर इसे अधिक गहराई से समझा जा सकता है। प्रेमचन्द पर सम-सामयिकता का आरोप लगाया जाता रहा है अन्यथा क्या 'कफन', 'पूस की रात' और 'गोदान' में दलित और शोषित वर्ग की दारुण स्थिति—शोषण के विविध और व्यापक रूपों का वैसा ही यथार्थ-चित्रण नहीं हुआ है जिसकी मांग समान्तर कथा लेखक करता रहा है। इन दोनों की सोच और मानसिकता में कुछ अन्तर हो सकता है और होना भी चाहिए—जिसे समसामयिकता की मांग भी कहा जा सकता है और प्रगति चेतना का तकाजा भी। लेकिन, कहीं-कहीं लगता है कि अनेकानेक नारों और दावों के बावजूद समान्तर कथा लेखक प्रेमचन्द से कहीं आगे नहीं बढ़ सका है और उसके दावों में महज गुटबंदी और सम-सामयिकता की महक आने लगती है।

जुलाई 1976 की 'सारिका' में प्रकाशित राजगीर में आयोजित अखिल भारतीय समान्तर कथा सम्मेलन की 5वीं रिपोर्ट में एक समान्तर कथा-लेखक के इस प्रकाशित वक्तव्य को देखिए—"अवधेश अमन ने गाँव में शोषण की स्थिति का जिक्र करते हुए कहा कि "इन कठिनाइयों से घबराकर ही अक्सर गाँव का जवान—शहर की ओर भागता है और इस तरह के पढ़े-लिखे वर्ग का कोई इक्का-दुक्का नौजवान जब शहर के मजदूर-संगठन की जानकारी हासिल करके गाँव लौटता है तो संघर्ष की शुरूआत होती है।" समझ नहीं पड़ता कि समान्तर कथा लेखक यहाँ कौन-सी कुँवारी जमीन तोड़ रहा है या नये क्षितिज की ओर संकेत कर रहा है जिसे 'गोदान' का गोबर जीकर हमें नहीं बता चुका है। समान्तर कथा लेखक का दायरा बहुत सीमित हो गया था। लगता है वह आम-आदमी और सर्वहारा तक अपने को सम्बद्ध करके अपनी प्रतिबद्धता का सबूत दे रहा था और इस तरह की प्रतिबद्धता एक युगीन आवश्यकता भले ही हो सकती है; पर किसी भी जीवन्त-साहित्य की अजस्र-प्राणवत्ता नहीं बन सकती। बहुत से समान्तर कथा लेखकों की अनुभूति में प्रामाणिकता का अभाव भी झलकता है और लगता है उनका यथार्थ बोध ओढ़ा हुआ है। वह नवआधुनिकतावादी, (नव बुर्जुआ) का जीवन जीते हुए 'आम आदमी' के दु:ख-दर्द का कथाकार होने का दम्भ लिए हुए है। कमलेश्वर का यह कथन सही जान पड़ता है कि आज का अधिकांश साहित्य, एक अत्यन्त सीमित-जिन्दगी की तस्वीर प्रस्तुत करता है और गाँव की सही अनुभूतियों का तो उसमें सर्वथा अभाव है। कथाकार को अब पूरे देश की जिन्दगी की धड़कनों को समझने की कोशिश करनी होगी, क्योंकि जिस सीमित जिन्दगी को वह अपनी रचना में उतार रहा है उसमें ग्रामीण जनमानस का सीधा सम्पर्क नहीं है।" 'समान्तर कथा आन्दोलन के प्रणेता कमलेश्वर के इस वक्तव्य के सन्दर्भ में यदि "सारिका" के अगस्त—76 अंक में प्रकाशित समान्तर कथा लेखन सम्मेलन, राजगीर के प्रस्तावों और घोषणा-पत्रों पर विचार किया

जाये तो लगेगा कि ये प्रस्ताव और घोषणा-पत्र भी एक भिन्न स्तर पर अपनी इन्हीं सीमाओं में जकड़े हुए हैं।

किन्हीं विशेष मुद्दों को लेकर, एकजुट होकर काम करना और चेतना की जमी हुई जड़-परतों को उधेड़ना एक सही और सार्थक कदम है। लेकिन, किसी भी 'विशेष' विचारधारा के साथ इस चिन्तन को जोड़ देना भी जड़ता की निशानी है।

समान्तर कथा लेखन से एक और बात सामने आई है कि 'आम आदमी' के नाम पर जो उसमें सहजता और सरलता आयी है वह शिल्पगत सार्थकता बन सकती थी, यदि कहानी की कलात्मकता को सही रूप दिया जा सकता। एक रिक्शा-ताँगेवाला या भूखा-नंगा, भिखमंगा जिस प्रामाणिकता और सादगी के साथ 'आपबीती' कहता और सुनाता है, यदि एक कहानीकार उसी तरह इसे लिखता है तो 'आपबीती' और 'कहानी' में क्या अन्तर रह जाता है? इस अन्तर को गम्भीरता से आंका जाना चाहिए और कथ्य की प्रामाणिकता के साथ उसके शिल्प की सार्थकता को भी पहचाना जाना चाहिए। क्योंकि कोई भी रचना अपने संश्लिष्ट-रूप में ही सार्थक और समर्थ रचना हो सकती है अन्यथा वह रचना सम-सामयिक प्रचार-साहित्य बन कर रह जाएगी।

सक्रिय कहानी और कहानी की सक्रियता

हिन्दी कहानी की सन् 1900 से 1979 तक की यात्रा के अनेक आयाम रहे हैं। प्रेमचन्द, यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र की कथा-उपलब्धियों के अतिरिक्त नई कहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी आदि विविध आन्दोलनों को पार करके वह 'सक्रिय कहानी' तक पहुँची है।

'सक्रिय कहानी' का अर्थ "आदमियों की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवन्तता की कहानी से है।"

इसके उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए 'मंच' के 'सक्रिय कहानी विशेषांक' (1978) में राकेश वत्स ने लिखा है: सक्रिय कहानी का स्पष्ट और सीधा सम्बन्ध है—'उस समझ और बोध की कहानी से जो आदमी की बेबसी, वैचारिक निहत्थेपन और नपुंसकता से निजात दिलाकर पहले स्वयं अपने अन्दर की कमजोरियों के खिलाफ और फिर बाहर के जन-आन्दोलनों और बदलाव-विरोधी शक्तियों के खिलाफ खड़ा करने की जिम्मेदारी अपने सिर लेती है।'

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक कहानी उद्देश्यपूर्ण होती है और उसका एकमात्र उद्देश्य संघर्ष पैदा करना या संघर्ष के लिए तैयार करना है। जिसके लिए यह भी आवश्यक समझा गया है कि लेखक स्वयं अपने व्यावहारिक जीवन में भी उसी तरह संघर्षरत हो, जिस प्रकार की संघर्ष-चेतना का वह सृजन करना चाहता है। इस सन्दर्भ में फणीश्वरनाथ रेणु का यह कथन उद्धृत किया गया है:

"रचनाकार को भी रचना के संघर्षरत पात्रों की तरह व्यावहारिक रूप से भी संघर्षरत होना चाहिए।"

जहां तक कहानी के सोद्देश्य होने की बात है इसमें दो मत नहीं हो सकते और न ही होने चाहिएँ। तथापि, प्रत्येक रचना को वर्ग चेतना और संघर्ष चेतना से जोड़ देना उसके क्षेत्र को सीमित और संकुचित कर देना होगा।

राकेश वत्स ने सक्रिय कहानी को परिभाषित करते हुए, "वर्गहीन, शोषणहीन, जनवर्ग से सम्बद्ध रचना को ही सक्रिय कहानी कहा है जो सर्वथा भ्रामक

और संकुचित प्रवृत्ति की सूचना देती है। क्योंकि कहानी की सक्रियता केवल वर्ग संघर्ष पैदा करने तक ही सीमित नहीं है और न ही संघर्ष पैदा करना मात्र साहित्य का उद्देश्य हो सकता है। यदि ऐसा मान लिया जाये तो पुराने समाजवादी नारे से इसमें क्या फर्क रह जाएगा, सिवाय इसके कि पुरानी शराब को नई बोतल में डाल कर दिखाया जा रहा है। 'सक्रिय कहानी' को इतना सीमित कर देने से व्यक्ति और समाज की, घर और बाहर की, सौंदर्य और प्रेम की, मनुष्य की आन्तरिक संवेदनाओं की और उन असंख्य त्रासद् स्थितियों की, जिनसे उसे दिनों दिन गुजरना पड़ रहा है, उपेक्षा करनी होगी। मानव के बदलते नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों, बौद्धिक विकास तथा सांस्कृतिक विघटन को सर्वथा नकार देना होगा। और तब हम मात्र 'यशपाल', 'नागार्जुन' और 'रेणु' को ही सच्चे अर्थों में साहित्यकार की परिधि में स्थान दे सकेंगे और शेक्सपीयर, कालिदास, पंत, प्रसाद जैसे कवियों, अज्ञेय और जैनेन्द्र जैसे कहानीकारों को शायद साहित्यकारों की पंक्ति से निकाल देना होगा। गुलेरी की 'उसने कहा था', प्रेमचन्द की 'कफन' और अज्ञेय की 'रोज' जैसी कहानियाँ और मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आधे-अधूरे' जैसे नाटकों की शायद कोई सार्थकता नहीं रह जाएगी।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो इस सन्दर्भ में उठाया जा रहा है, वह—पात्रों की सक्रियता को लेकर है। यहां तर्क उपस्थित किया जाता है कि अपने चारों ओर के परिवेश में जो निष्क्रियता, नपुंसकता और जड़ता है, उसका निराकरण करने के लिए नपुंसक, पस्त, निर्जीव और विचारशून्य व्यक्ति की चेतना को जगाना आवश्यक है, उसकी जबड़ी मनोवृत्ति को हिलाकर उसे सक्रिय करना है और यह तभी संभव हो सकता है जब कहानीकार ऐसे पात्रों का निर्माण करे जो स्वयं सक्रिय और संघर्षरत हों।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या प्रत्येक रचना में ऐसे ही पात्रों की सृष्टि की जाये जो लाठी और बन्दूक उठाकर खुले संघर्ष का नेतृत्व करते हुए विद्रोही चेतना को अग्रसर कर रहे हों? और हम यह मान लें कि ऐसे पात्र ही जनमानस में सक्रिय, संघर्षशील विद्रोही-चेतना का आह्वान करते हैं। सवाल यह भी है कि क्या लेखक ऐसी सक्रिय चेतना केवल ऐसे विद्रोही (बलवई, क्रांतिकारी) पात्रों की सृष्टि से ही पैदा कर सकता है और घोर सामाजिक अन्याय और मानवीय यातनाओं को बेबस और विवश स्थितियों में सह रहे निरीह दलित पात्रों की निष्क्रियता तथा अपनी अभिशप्त नियति को भोगते हुए पात्रों द्वारा इस प्रकार की सक्रियता को उजागर नहीं किया जा सकता है।

प्रेमचन्द की 'पूस की रात' और 'कफन' कहानी को इस सन्दर्भ में उद्धृत किया जा सकता है, जहाँ कोई भी पात्र संघर्षरत नहीं। वे तो आर्थिक अभावों और विषमताओं की मर्मान्तिक चोटों को बस सह भर रहे हैं।

'गोदान' का 'होरी' भी इन अभावों और विवशताओं में जीवन-भर पिसता-पिसता दम तोड़ता दिखाई देता है। लेकिन क्या 'पूस की रात', 'कफ़न' और 'गोदान' निरर्थक और असफल रचनाएँ हैं ? कोई भी जागरूक पाठक और चिन्तन-शील समीक्षक ऐसा स्वीकार नहीं करेगा। ये अत्यन्त सचेतन, सक्रिय एवं जीवन्त रचनायें हैं। इन रचनाओं के ये निष्क्रिय पात्र भी अपनी अभावग्रस्त नियति, विषमताओं जनित यातनाओं, विवशतापरक असहाय स्थिति से पाठक को ऐसा सोचने पर बाध्य कर देते हैं कि आखिर इनकी यह नियति किस लिए, क्यों ? और इसके लिये ज़िम्मेदार कौन है—कोई व्यक्ति या व्यवस्था ? और उस व्यक्ति और व्यवस्था के प्रति जो इस सबके लिए दोषी है, एक तीखी, वितृष्णा, घृणा, क्षोभ और आक्रोश पैदा करने में ये रचनाएं कम कारगर सिद्ध नहीं हुईं। क्या यह इनकी सक्रियता और सचेतनता का वास्तविक प्रमाण नहीं है ?

इसी सन्दर्भ में 'सारिका' के मार्च 1978 के अंक में प्रकाशित याशिकाह्यामा की जापानी कहानी 'सीमेण्ट की बोरी' को उद्धृत किया जा सकता है। जहां एक मज़दूर सीमेन्ट बनाने की मशीन में पत्थरों के साथ पिसकर स्वयं सीमेन्ट की बोरी का हिस्सा बन जाता है और उसकी प्रेमिका उसकी इस त्रासद नियति को करुण हृदय से देखती भर रहती है या एक दूसरे मज़दूर को इस दारुण स्थिति का सन्देश भर पहुँचाना चाहती है। इस कहानी में न तो कोई मज़दूर संघर्ष करता दिखाई देता है और न ही कोई जलसा-जलूस है और न ही लाठियों और गोलियों की आवाज़ सुनाई पड़ती है। लेकिन इस निरीह, विवश मज़दूर की त्रासद नियति का जो सन्देश उसकी प्रेमिका दूसरे मज़दूर तक पहुंचाना चाह रही है, क्या वह उस सक्रियता का सन्देश नहीं है, जिसकी अपेक्षा हम किसी भी सक्रिय और जीवन्त रचना से करते हैं। यहां 'मंच' के ही सक्रिय कहानी विशेषांक में प्रकाशित रमेश बत्रा की कहानी 'जंगली-जुगराफ़िया' की भी चर्चा की जा सकती है। वीरचक्र-विजेता फौजासिंह की पत्नी प्रीतो से 'सरदार' और 'महाशय' जी, बलात्कार करते हैं, जिसकी यातना से पीड़ित होकर प्रीतो आत्महत्या कर लेती है और जब फौजा-सिंह थाने में इसकी रपट लिखवाने जाता है तो घूस लेने के बावजूद उल्टे उसे ही उसकी (पत्नी की) हत्या के आरोप में पकड़ लिया जाता है। निश्चय ही फौजासिंह इस अत्याचार के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। वह अपनी मां तथा बहिन के साथ होने वाले बलात्कार को अपने पिता की भाँति चुपचाप नहीं सहता, वरन् प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर पहले सरदार के समक्ष फिर थानेदार के समक्ष अपना विरोध सक्रिय रूप में प्रकट करता है; किन्तु उसे पिटना पड़ता है। अन्त में प्रीतो की हत्या को उस वीर चक्र के मत्थे मढ़ कर वह घुटने टेक देता है जिसे प्राप्त करने में उसे एक टांग गंवानी पड़ती है और वह अपंग, निहत्था और बेबस-विवश हो गया है। उसकी इसी निरीहता और विवशता के क्षण में गांव

वालों की बगावत की सूचना मिलती है।

सक्रियता यहां दो स्तरों पर घटित हुई है। एक तो गांव वालों की बगावत के रूप में, दूसरे पाठकों की प्रतिक्रिया और संवेदना के स्तर पर। गाँव वालों की सक्रियता का आधार 'प्रीतो' के साथ हुआ अमानुषिक दुर्व्यवहार तथा 'फौजासिंह' के साथ हुआ घोर अन्याय है। यहाँ कहा जा सकता है कि गाँव वालों में संघर्ष की चेतना का उद्रेक फौजासिंह के सक्रिय विरोध से ही पैदा हुआ है। अन्यथा वे पहले भी ऐसे अमानुषिक अत्याचार देखते और भोगते रहे और खामोशी से सहते रहे थे। किसी हद तक यह ठीक हो सकता है कि फौजासिंह के विरोध ने उनकी सोई चेतना को जगाया और उन्हें मजबूर किया कि वे एकजुट होकर इस अन्याय का विरोध करें। किन्तु, यदि फौजासिंह सरदार के समक्ष जाकर विरोध प्रकट न भी करता और थानेदार का गला न भी दबाता तो क्या गाँव वाले इस अन्याय और अनाचार के खिलाफ इस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर सकते थे, बशर्ते कि लेखक प्रीतो की इस अभिशप्त, दारुण नियति का चित्रण इस चेतना से उत्प्रेरित होकर सक्षमता से करता—जैसा कि बत्रा ने किया भी है। यहाँ सवाल यह भी है कि पाठकों में इस अनाचार और अन्याय के विरुद्ध जो क्षोभ और विद्रोही चेतना पैदा हो रही है—जो कि सक्रियता का असली मुद्दा है, उसका स्रोत और आधार क्या है ?

'फौजासिंह' की संघर्ष चेतना भी किसी सीमा तक उसमें सहायक हो सकती है, किन्तु सवाल उठता है कि यदि 'फौजासिंह' सरदार को गाली-गलौच न भी देता और थानेदार का गला न भी दबाता, और इस अर्थ में गाँव वालों के विरोध की सूचना से सिपाही के पस्त होने का संकेत न भी दिया जाता, तो क्या प्रीतो के साथ जो हो गुज़रा है, जिसके परिणामस्वरूप उसे गले में फंदा लगा कर आत्महत्या करनी पड़ती है और फौजासिंह की माँ और बहन के साथ और गाँव की अन्य स्त्रियों के साथ जो गुजरता रहा है और फौजासिंह के साथ सरदार और थानेदार का जो रवैया है, क्या पाठक की चेतना में उससे ही उनके प्रति वह घृणा, आक्रोश विरोध और विद्रोह पैदा नहीं हो जाता जो रचना का वास्तविक उद्देश्य है। अतः, मैं समझता हूँ कि यदि लेखक में विद्रोह की यह चेतना सृजनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति पाती है तो कोई वजह नहीं कि 'प्रीतो' जैसे अमानुषिक अत्याचारों को भोग रहे, निष्क्रिय, निहत्थे, निरीह तथा 'फौजासिंह' जैसे विवश पात्रों के माध्यम से उस चेतना को पाठक में पैदा न किया जा सके।

वस्तुतः, इस चेतना की चिंगारी तो लेखक के अन्तर में होनी चाहिए। किस तरह वह यह चिंगारी पाठक के मन में पैदा करता है, यह उसकी रचनाधर्मिता पर निर्भर करता है, जिसके माध्यम सक्रिय पात्र भी हो सकते हैं, तथा सर्वथा निष्क्रिय पात्र भी।

'तमाशा' (स्वदेश दीपक) में 'मदारी' की त्रासदी भी हमें भीतर तक हिला जाती है। वह स्वयं निष्क्रिय पात्र है लेकिन कहानी इतनी निष्क्रिय नहीं है, जैसी कि राकेश समझते हैं।

वस्तुतः, सक्रियता की वास्तविक पहचान पाठक की प्रतिक्रिया से जुड़ी हुई है, जिसकी अपेक्षा हम किसी भी सक्रिय और जीवन्त रचना से करते हैं। सक्रियता की परख पाठक में उत्पन्न प्रतिक्रिया से ही हो सकती है—और होनी चाहिए। और इसका मूल स्रोत है लेखक की वह सृजनात्मक ऊर्जा, जहाँ से वह रचना प्रस्फुटित होती है। रचनाकार अपनी उस सृजनशील सचेतन और जीवन्त संवेदना को चाहे जिस माध्यम से पाठक तक पहुँचाये, उसकी सम्प्रेषणीयता में ही उसकी सक्रियता और सफलता निहित है। उसके लिए वह तथाकथित संघर्षशील पात्रों का भी सहारा ले सकता है और वह सर्वथा निष्क्रिय, पस्त और नपुंसक पात्रों द्वारा भी संभव हो सकता है। यह लेखक की कलाधर्मिता पर निर्भर करता है कि वह सृजन के स्तर पर इसमें कितनी सफलता प्राप्त करता है।

यहाँ यह बात भी ध्यान रखने की है कि रचना की कलात्मकता की उपेक्षा करके किन्हीं विचारों को प्रसारित करना, रचना के स्तर पर उसकी सक्रियता की पहचान नहीं दे सकेगा। यहीं कथ्य और शिल्प की एकात्मकता और तादात्म्य की सही परख हो सकती है। यदि तथाकथित सक्रियता का यह उद्देश्य रचनाकार में केवल वैचारिकता के स्तर पर उभरा है, ओढ़ा हुआ है—संवेदना के स्तर पर नहीं उभरा है, तो रचना के स्तर पर उसमें बराबर एक दरार बनी रहेगी। यदि कहानीकार एक सक्षम और कुशल कलाकार है और यह सब संवेदना के स्तर पर उसने झेला है तो स्वयं ही कथ्य और शिल्प की दरार पट जायेगी तथा रचना में समग्रता आ जायेगी। उसमें सक्रियता और जीवन्तता भी उभरेगी, जिसकी पहचान पाठक में उत्पन्न संवेदना के माध्यम से ही हो सकेगी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सक्रियता की पहचान रचना में, रचना के पात्रों के स्तर पर नहीं, बल्कि पाठकों की प्रतिक्रिया और संवेदना के स्तर पर ही की जा सकेगी।

यहाँ आकर रचनाकार के सन्दर्भ में कथनी और करनी के अन्तर का जो प्रश्न उठाया जाता है वह भी अपने आप हल हो जाता है, क्योंकि जब रचनाकार संवेदना के स्तर पर उस सब को झेल रहा है, तब उसकी कथनी और करनी में अन्तर का प्रश्न ही नहीं रह जाता। कबीर ने इसे ही 'आंखन देखी' कहकर परिभाषित किया है। इसलिए सक्रिय कहानी के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाना भी सर्वथा निरर्थक और बेमाने है कि रचनाकार को भी रचना के संघर्षरत पात्रों की तरह व्यावहारिक रूप से भी संघर्षरत रहना चाहिए, जिसकी पक्षधरता में 'रेणु', 'यशपाल' जैसे लेखकों के नाम उद्धृत किये जाते हैं। 'रेणु' और 'यशपाल' की तरह कितने ऐसे लेखक हैं जो स्वयं जन-आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेकर या जेल

जाकर उस तरह के कहानी-पात्रों की सृष्टि करते हैं। उस स्थिति में तो यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक रचनाकार को अपनी प्रत्येक रचना के प्रत्येक सक्रिय पात्र की सृष्टि करने के लिए स्वयं उस जैसा जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वह कितने पात्रों का कितने स्तरों और सन्दर्भों में जीवन जी सकेगा। एक उपन्यास, नाटक, कहानी में कितने ही पात्र होते हैं? प्रश्न उठता है कि उनमें से कितने पात्रों के जीवन को व्यावहारिक स्तर पर लेखक जीये। अधिक से अधिक वह रचना के 'लीडिंग पात्र', जो संघर्षरत दिखाया जाता है, के साथ ही ऐसा जीवन व्यतीत कर सकता है। इसका एक दुष्परिणाम तो यह होगा कि लेखक एक पात्र के साथ प्रतिबद्ध हो जायेगा और अन्य पात्रों के साथ वह न्याय नहीं कर सकेगा। अस्तु, न तो साहित्य समाज का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब है और न ही रचनाकार का कोई भी पात्र उसके जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र होना चाहिए। उसमें असंतुलन पैदा हो जायेगा। दूसरे लेखक की विविध रचनाओं में एकरसता, पिष्टपेषण तथा ऊब पैदा हो जायेगी।

इससे उसकी पात्र-सृष्टि में विविधता भी नहीं रहेगी। सारी कहानियाँ और रचनाएँ उसका आत्म-चरित्र मात्र बनकर रह जायेंगी तथा जो व्यक्ति लेखक को व्यक्तिगत जीवन में जानते हैं उनके लिए उसकी रचना में कोई ताजगी या नवीनता नहीं रह जायेगी और ऐसे व्यक्ति रचनाकार की कृति को पढ़ कर दोष-दर्शन ही अधिक करेंगे।

वस्तुत, रचनाकार सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक संवेदनशील और जागरूक होता है। वह स्वयं प्रत्येक पात्र का जीवन जीकर ही पात्रों की सृष्टि नहीं करता अपने आस-पास के परिवेश में वह जो कुछ देखता, अनुभव करता है, दूसरे लोगों को जिस तरह जीते और भोगते हुए देखता है, उसको भी वह इस तरह आत्मसात् कर लेता है जैसे स्वयं ही उसने वह ज़िन्दगी जी है। इसे ही हम संवेदना के स्तर पर भोगा हुआ, जीया हुआ या अनुभव किया हुआ यथार्थ कहते हैं और रचना में चेतनात्मक ऊर्जा और सृजनशीलता तभी पैदा होती है जब वह रचनाकार की संवेदन-शीलता से उद्भूत होती है और तभी उसमें सम्प्रेषणीयता एवं सक्रियता की क्षमता पैदा होती है। वस्तुतः, यही रचना की सचेतनता है और यही कहानी की सक्रियता। यह सचेतनता और सक्रियता आज की ही चीज़ नहीं है, यह प्रत्येक सफल रचना में होती है और होनी चाहिए। चाहे वह रचना किसी भी काल और देश की क्यों न हो? और किसी भी विधा से सम्बंधित क्यों न हो? अतः, 'सक्रिय कहानी' और उसमें पात्रों की सक्रियता के यथार्थ की बात एक 'नारा मात्र' ही कही जा सकती है। सक्रियता तो प्रत्येक (सफल) रचना में निहित होती है और होनी चाहिए।

●

1. ग्रंथानुक्रमणिका

अकाल उस्तुति 64, 69, 107, 108, 115
अग्निपुराण 17
अच्युतराय अभ्युदय 32
अध्यात्म रामायण 66
अनुराग बांसुरी 54
अवधानशतक 32
अश्वमेध भाषा 141, 142
अहिंसात्मक बलिदान 176
आज की समस्याएं 163
आत्म रामायण 66
आत्म अनुभव शतक 68
आदर्श भारत की रूपरेखा 174
आदि रामायण 66
आधे अधूरे 199
आनन्दप्रकाश सतसई 68
आनन्दपुर का हिन्दी को योगदान 75
आषाढ़ का एक दिन 199
आसा की वार 86
इस्तवार दला लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान 41
इन्द्रावती 54
उदासी सम्प्रदाय के संतरेण की काव्य साधना 77
उमंग 178
ऋग्वेद 2, 3, 24
कथा सरित्सागर 56
कथा नलदमयन्ती 68
कथा हीर-रांझे की 68
कथा किसन चन्द की 119
कनकावती 54
कर्म भूमि 179, 187, 188
कविमाला 41
कवि मृगेन्द्र तथा उनकी रचना प्रेमपयोनिधि 77
कवितावली 93
कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास 163
कम्यूनिस्ट क्या चाहते हैं? 163
कवि ग्वाल के कवित्त का अध्ययन 68
काफकनाभ्युदय 32, 34
कान्हा गूजरी का झगड़ा 119
कांग्रेस का सरल इतिहास 172, 173
किन्नर देश में 163
किस्सा चन्द्रबदन 68
किरातार्जुनीयम् 32, 34
कीचक वध 28, 30
कीर्ति कौमुदी 31
कुंकुम 181

कुमार संभव 27
कुमारपाल चरित्त 24, 31, 34
कुचकलित ललितशतक 67
कुसुमवाटिका 66, 67
कुट्टनीमतम् 161
कृष्णकौतूहल 66, 119
कृतरामायण 66
कृष्णावतार 46, 47, 77, 79 84, 115, 116, 116, 118, 119, 122, 123, 124
कृष्णकाव्य 78
गंगकवित 67
गबन 178, 187
गिरधरलीला 119
गीतिका 177
गीत गोविन्द भाषा 66, 119
गुरु शोभा 46, 76, 103, 104, 111, 112, 117
गुरु विलास 46, 47, 69, 76, 97, 100, 104, 111, 112, 113, 116, 120, 121, 131, 138
गुरु प्रताप सूरज 46,47, 68, 69, 71, 74, 76, 97, 104, 106, 111, 112, 113, 114, 120, 127, 128, 129 131, 132, 133, 134, 135, 136, 138, 139
गुरु ग्रन्थ साहिब 63, 109
गुल सरोवर की कथा 68
गुरदास वाणी 68
गुरु गोबिंद सिंह बिलास 69
गुरु विलास पातसाही 69, 120
गुरु नानक प्रकाश 68, 82, 83, 84 89 90, 100, 106, 120, 121, 130, 134, 136, 137, 139
गुरुनानक विजय 69, 76, 83, 120
गुरुनानक चन्द्रिका 69
गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-काव्य 73
गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-साहित्य 74, 75, 121
गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध प्रबन्ध काव्यों में वात्सल्य रस 75
गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी की पांडुलिपियां 75
गुरु प्रताप सूरज का हिन्दी-साहित्य में स्थान 75
गुरुनानक रचनावली 75
गुरु रामदास रचनावली 76
गुरु रामदास की वाणी 76
गुरु विलास पातसाही 76
गुरु गोविन्द सिंह और उनका काव्य 76
गुरु गोविन्द सिंह का काव्य और दर्शन 76
गुरु गोविन्द सिंह की हिन्दी रचनाओं का आलोचनात्मक इतिहास 76
गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी का रीतिकाव्य 77
गुलाब सिंह की अध्यात्म रामायण 77
गुरवाणी में सामाजिक चेतना 77
गुरु गोविन्द सिंह के दरबारी कवि 77
गुरु प्रताप सूरज का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन 77
गुरुमुखी लिपि में रचे हिन्दी कृष्णकाव्य के परिप्रेक्ष्य में कृष्णावतार 77
गुरुमुखी में उपलब्ध कृष्ण काव्य का अध्ययन 77
गुरु ग्रंथ साहिब एक सांस्कृतिक

सर्वेक्षण 77
गुरुनानक का हिन्दी काव्य 77
गुरुमुखी में उपलब्ध खड़ी बोली का गद्य 77, 79
गुरु प्रताप सूरज के काव्य पक्ष का अध्ययन 77
गुरु तेगबहादुर की वैराग्य भावना 98
गुरु तेगबहादुर : जीवन दर्शन और विवेचन 98
गुरु तेगबहादुर : चिन्तन और कला 99, 102, 103
गुरु नानक प्रकाश : काव्य, संस्कृति और दर्शन 138
गोदान 196, 200
गोसट गुरु मिहिरवान 141, 142
गोपी उद्धव संवाद 66, 119
गोपीचन्द वैराग्य शतक 68
गोपी पच्चीसी 66
ग्वाल के कवित्व का अध्ययन 79
घुमक्कड़ शास्त्र 163
चण्डी चरित उक्ति विलास 64
चण्डी चरित 46, 47, 64, 65, 116
चन्द्रकिरण 68
चन्द्रगुप्त 182
चन्दायन 54
चित्रावलि 54
चौबीस अवतार कथाएं 64, 104
चौरासी वैष्णव की वार्ता 41
छान्दोग्य उपनिषद् 38
जंगनामा 64, 76
जफरनामा 116
जयंत विजय 31, 34
जापान, ईरान, रूस में पच्चीस मास 163
जापु 64
जानकीहरण 29, 33, 34
जाम्बवती विजय 25
तिलशतक एवं दृगशतक 67
तिब्बत में बौद्धधर्म 163
त्रिशूल 176
दशकुमारचरित 56
दशम ग्रंथ 64, 119, 124
दशमग्रंथ में मध्ययुगीन समाज और संस्कृति 76
दशमग्रथ : रामावतार तथा कृष्णावतार का काव्यशास्त्रीय अध्ययन 76
दर्शन दिग्दर्शन 163
दार्जिलिंग परिचय 163
देश दर्शन 163
द्रौपदी चरित्र 66, 119
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता 41
द्विवेदी काव्यमाला 178
धनासिरीसबद 88
धर्मयुग (1-12-1974) 143
धरती धन न अपना 193, 194
नवसाहसांक चरित 31
नरेन्द्रनीति शतक 68
नाच्यो बहुत गोपाल 194
निरुक्त 38
नीतिवर्मन 30
पदमगुप्त परिमल 31
पद्मावत 57
पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास 73
पंजाब का हिन्दी साहित्य 75
पंजाब का हिन्दी को योगदान 75
पंजाब का हिन्दी कृष्ण काव्य 75
पंजाब का हिन्दी वीर काव्य 75

पंजाब का हिन्दी संत काव्य 75
पंजाब के रीति ग्रंथों का स्वरूप 75
पंजाब के दरबारी कवियों के परिप्रेक्ष्य में कवि ग्वाल के कवित्व का अध्ययन 77
पंजाब में रचित सतसई साहित्य का अध्ययन 77
पंजाब का हिन्दी राम काव्य 77
पंजाब में राम काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन 77
पंजाब में उपलब्ध हिन्दी शतक 77
पंजाब का हिन्दी साहित्य 77
परिशोध 79
पंचाशत् उपनिषत् भाषा 142
पारस भाग 141, 142
पाताल विजय 25
पुरातत्त्व निबन्धावलि 163
पुरातन जन्म साखी 76
पृथ्वीराज विजय 31
प्रेमपयोनिधि 68
प्रेमाश्रम 179, 187, 188
बदरी यात्रा कथा 162
बसंत सतसई 68
व्रज विलास सतसई 67
बात दूर देश की 162
बारह मासा श्री कृष्ण जी 119
बाल्मीकि और तुलसी 7
बाल्मीकि रामायण 4 TO 13, 47
बिहारी सतसई 67
बिहारी तथा आचार्य अमीरदास की सतसइयों का तुलनात्मक अध्ययन 77
बुद्ध चरित 25
बौद्ध दर्शन 163
भक्तमाल 41
भगवद्गीता 66
भ्रमर गीत 124
भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति 171
भाषा काव्य का मूल्यांकन 76
भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य 54
भागवत पुराण 24, 33, 118, 119 146, 155, 156, 157, 160
भाषा प्रेमरस 54
भारत मंजरी 30, 33
भुवनाभ्युदय 31
मनुस्मृति 17, 22
मथुरा विजय 32
मधुमालती 54
मर्मस्पर्शी 179
महाभारत 13, 14, 15, 16, 17, 18 19, 20, 21, 22, 23, 24, 27, 28, 29, 33, 34, 38, 56, 65, 95, 137, 162
मन प्रबोध 71
महिमा प्रकाश 69, 120
मध्य एशिया का इतिहास 163
मृगावती 54
मांझ की कविता 87
मुकुल 178
मेरी लद्दाख यात्रा 163, 165, 166, 167, 168
मेरी तिब्बत यात्रा 169
मेरी यूरोप यात्रा 169
यमक शतक 67
यात्रा के पन्ने 163
यात्रा काल 163
यात्रा के पत्र 168

युगावतार 176
युधिष्ठर 31
युति कल्पतरु 18
योगवसिष्ठ भाषा 31
रघुवंश 33
रत्नावली 54
रतनहरि 66, 69
रंभावती 68
रंगभूमि 179, 187, 188, 189
रावणवध 24, 28, 29, 30, 33, 35
रामायण 13, 16, 18, 32, 33, 34
66, 137, 162
रामायण मंजरी 31, 33
रामपाल चरित 31, 34
रावणार्जुनीयम 33
रामरहस्य 66
रामगीत 66
रामायण चंद्रोदय 66
रामविलास 76
रामावतार 46, 47, 64, 66, 79
रामचरित मानस 30, 33, 52, 66,84
107, 130, 134, 136
रागमांझ 86
राग धनासरी 87
रागरूही 87
रासविलास 119
राहुल यात्रावली 168
राष्ट्र भाषा हिन्दुस्तानी 174
राष्ट्रीय मंत्र 176, 177
राष्ट्रीय वीणा 176
रीति काल की भूमिका 94, 73
रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना
95
रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन 77
रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों के
सन्दर्भ में आचार्य अमीर दास की
कृतियों का अध्ययन 77
रुद्रावतार 46
रुक्मिणी मंगल 119, 66
व्रजविलास सतसई 67
वासुदेव विजय 30
वाणी गुरु अंगद देव की 76
वाणी गुरु रामदास 76
वाणी गुरु अर्जुनदेव 76
वाणी गुरु तेगबहादुर 76
वाणी गुरु गोविन्दसिंह 76
विजय काव्य 29
विष्णुपुराण 24
विक्रम देव चरित 24, 31, 34
विचित्र नाटक 46, 65, 115
विट्ठल जी की वन यात्रा 162
विश्व की रूप रेखा 163
वैज्ञानिक भौतिकवाद 163
शंकर सर्वस्व 176, 178
शतपथ ब्राह्मण 3
श्याम सनेही 119
शस्त्र नाम माला 46, 64
शिशु पाल वध 24, 28, 29, 33, 34
शिवस्वामी 32, 34
शृंगार प्रकाश 30
शृंगार शतक 67
शोभा शृंगार 119
सचखण्ड पोथी 141, 142
सतसैया रामायण 66
संस्कृत साहित्य का इतिहास 4, 5, 13,
23,25, 29,30, 32,33, 35, 37
सन्ध्याकर नन्दी 31, 34
सम्प्रेषण क्षमता की दृष्टि से गुरु गोविंद

सिंह के ब्रजभाषा काव्य का मूल्यांकन 76
संवाद ऊधो तथा गोपियाँ 119
सहस्रनाम 144
साकेत 179
साहित्य सिद्धान्त 49
सार रामायण 66
सारिका 196, 200
साहिबसिंह मृगेन्द्र और उनकी रचना प्रेमपयोनिधि 77
साहिबदास की रचनाएं 77
सुवृत्तशतक 30
सुमनसंजीवन 68
सुधा सिंधु रामायण 66
सुदामा चरित 66, 119
सुखमनीसहस्रनामा 141, 142
सुभाषित रतन 161
सूर सागर 121, 122, 124
सेठ पद्मसिंह की यात्रा 162
सोमेश्वर 31
सोवियत भूमि 163
सोवियत मध्य एशिया 163
स्वप्न 176
स्वदेश संगीत 176
स्कन्दगुप्त 182
हम्मीर काव्य 32
हम्मीर रासो 32
हम्मीर हठ 32
हम्मीर महाकाव्य 34
हयग्रीववध 30
हरविजय 30, 34, 35
हंसमाला 179

2. लेखकानुक्रमणिका

अड्डनशाह 141
अणीराय 46,64,105
अद्वैतानन्दब्रह्म 68,69
अब्दुर्रहमान 67
अभिनन्दन 30
अभयदेव 31,34
अमीरदास 67
अमृतराय 64
अमृतलाल नागर 192
अयोध्यासिंह उपाध्याय 172, 175, 179
अश्वघोष 24, 25, 32
अस्मदगूजर 68
आनन्दवर्धन 4,23
आशानन्द बोहरा 77
इला चन्द्र जोशी 180, 181
ईश्वर सिंह तांग 77
ईश्वर चन्द्र गुप्त 77
ईशां अल्ला खां 79, 143
उमादास 66, 119
उदय शंकर भट्ट 182
उसमान 54
कबीर 59, 82, 87, 99
कमलेश्वर 196
कल्हण 31
कामिल बुल्के 4
कालिदास 29, 32, 33, 41, 125, 199
कासिमशाह 54
कीरतसिंह 66
कुइरसिंह 69, 120
कुतबन 52
कुन्दन मिश्र 66, 119
कुलपति मिश्र 67
कुवरेश 64
कृष्णदास 66
कृष्णलाल 66
केशव 66
गंगादेवी 32
गंगाराम 67, 119
गणेश सिंह बेदी 67
गया प्रसाद शुक्ल 175, 176 177, 178
गुरुदास 48, 63,
गुरु नानक 45, 60, 63, 73 77, 81, TO 90, 99, 129
गुरु गोविंद सिंह 45, 48, 62, 64, 65, 66, 70, 73, 76, 77, 102 TO

110, 115 TO 117, 119,120, 122, 123, 124, 130, 131, 142, 143
गुरु अर्जुन देव 63, 100
गुरुदास 48, 63
गुरु तेगबहादुर 63, 77, 92, 96 97 TO 102, 115
गुर वचनसिंह तालिब 76
गुरुभक्त सिंह भक्त 175
गोबिन्द वल्लभ पंत 182
गोविन्दनाथ राजगुरु 175
गोपाल शरण सिंह 178
चन्द्रशेखर 32
चतुरसेन शास्त्री 181
चन्दन 64
चन्द 64
चन्द्रधर शर्मा गुलेरी 199
चन्द्रकान्त बाली 73
चिन्तामणि 67, 96
जगजीत कौर 76
जगन्नाथ दास रत्नाकर 146, 151, 152
जयचन्द सूरी 32, 34
जयभगवान गोयल 77, 121
जयशंकर प्रसाद 199
जसवंत बाली 76
जातिदास 66
जातिराम 66, 119
जायसी 52, 57
जीवन सिंह 68
जैनेन्द्र कुमार 198, 199
जोधराज 32
टहकण 3, 4
टीकमसिंह तोमर 64, 141
ठाकुर प्रसाद शर्मा 177
तुलसीदास 52, 58, 70, 75, 83, 93, 99, 127
दण्डी 29
दलसिंह 68
दामोदर गुप्त 161
दामोदर शास्त्री 162
दास 67
देव 67
देवेन्द्र सिंह विद्यार्थी 77
देवी प्रसाद खत्री 162
देवराज उपाध्याय 174
देवेन्द्र सत्यार्थी 180
धन्ना सिंह 64
धर्मपाल मैनी 76
धर्मपाल 76
धीरेन्द्र वर्मा 3
नरेन्द्र शर्मा 179
नागार्जुन 199
नूर मुहम्मद 54
पट्टाभि सीतारमैया 172, 173
पद्माकर 48, 67
परवर सेन 30
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' 182
पाणिनि 15, 25
पुष्पा गोयल 138
प्रसन्नी देवी सहगल 76
प्रताप नारायण श्रीवास्तव 181
प्रेम प्रकाश 98
प्रेमघन 172
प्रेमचन्द 195, 196, 197, 198, 199 179, 180 TO 191
प्रेम नारायण भट्ट 182
फतेहसिंह 67

फ़तेहराम 66
फतेह चन्द 119
फणीश्वर नाथ रेणु 198, 199, 202
बच्चन सिंह 95
बदरीनाथ भट्ट 175, 178
बनवारी 96
बलभद्र 67
बलदेव उपाध्याय 4, 5, 13, 15, 23, 25, 32, 33, 37
बसंतसिंह 67
बाबा रामदास 119
बाबू गुलाब राय 147, 151, 158, 159
बाबा फरीद 63
बाल्मीकि 95
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 177
बालकृष्ण भट्ट 172
बालमुकुन्द गुप्त 172
बिहारी 48, 58, 67, 68, 96
बुधसिंह 67
बेनी 96
भगवती चरण वर्मा 180, 181
भगवती प्रसाद बाजपेयी 180
भट्टि 24, 25, 29, 33
भारवि 24, 28, 29, 32, 33
भारत भूषण चौधरी 77
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 79, 172
भूषण 65
भोजराज 30
मंगल 64
मंझन 52
मतिराम 67, 119
मनोहर कौर 76
मनमोहन सहगल 75, 76, 77
मन्मथनाथ गुप्त 180
मम्मट 2
महावीर अधिकारी 180
मनलक 30
महावीर प्रसाद द्विवेदी 178
महीप सिंह 75, 76
महेशचन्द्र शर्मा 76
माघ 25, 29, 32, 33
माखन लाल चतुर्वेदी 177, 179
मुकुन्द 58
मेहरसिंह 66
मैथिलीशरण गुप्त 170, 178, 179
मोहनजीत सिंह 76
मोहन दास कर्मचंद गांधी 174, 177, 178 TO 191
मोहन राकेश 199
यशपाल 198, 199, 102
याज्ञिका श्यामा 200
रघुनाथ 66
रजनी पन्निकर 281
रत्नाकर 30, 175
रतन सिंह जग्गी 75, 76, 77
रहीम 144
राकेश वत्स 198
रांगेय राघव 181
राजाराम दुग्गल 67
राजबहादुर सिंह 172
रामचन्द्र शुक्ल 42, 43, 44, 57, 79, 143, 144, 159
रामधारी सिंह 'दिनकर' 177
रामप्रसाद निरंजनी 79
रामकुमार वर्मा 42, 43, 182
राधावल्लभ पाण्डे 176
राधिकारमण प्रसाद 180

रामनरेश त्रिपाठी 176, 178
राय देवी प्रसाद सिंह 175, 178
रामप्रकाश गुप्त 77
रामदास 66
राहुल सांकृत्यायन 163, 166, 167, 178
रैदास 60
लखमीचन्द 57
लक्ष्मीनारायण मिश्र 182
लल्लूलाल 79, 143
लक्ष्मण सिंह मयंक 177
वाचस्पति गैरोला 13, 23
वासुदेव 30, 31
वीरसिंह 66
विनोद कुमार 67
विश्वम्भर नाथ कौशिक 181
विल्हन 31, 34
विष्णु प्रभाकर 181
वीरसिंह बल 68
शंकुक 31
शंभुनाथ 67
शमशेर सिंह अशोक 75
शिवसिंह सेंगर 41
शिवप्रसाद 175
शेक्सपीयर 199
शेख इब्राहिम 54
श्यामनारायण पाण्डे 175,178
शेख नबी 54
श्यामसुन्दर दास 42
सच्चिदानंद शर्मा 77
संतोख सिंह 46, 84, 66, 67, 82, 89, 90, 97, 120 TO 132 135, 137
सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' 181
सदासुखलाल 79, 143
सदलमिश्र 79, 143
संतरैण 48, 69, 120
संत दास 48
सरनादास भल्ला 69, 120
सहजराम 48
साधुराम 119
साधना 77
साहिबसिंह मृगेन्द्र 66, 67
साहिबदास 66
साहिबसिंह 76
सियारामशरण गुप्त 175, 176, 179, 180
सुभद्रा कुमारी चौहान 175, 177, 178, 181
सुक्खासिंह 46, 48, 69, 105, 120
सुदर्शन 181
सुमित्रानन्दन पंत 175, 179 199,
सुरेशसिंह बिलखू 76
सुरेन्द्रसिंह कोहली 76
सुशीला देवी 67
सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' 175,177, 181
सूरदास 60, 67, 99, 118,, 119 122, 147, 160
सेनापति 48, 46, 64, 105
सेवाराम 48
सेठ गोविन्द दास 182
सोहनलाल द्विवेदी 175, 176, 177
सोढ़ी मिहिरवान 66, 119
हजारीप्रसाद द्विवेदी 175
हरचरण सिंह 67
हरिजी 141
हरिकृष्ण प्रेमी 179

हरिवंशराय बच्चन 175, 179
हरि सिंह 66
हंसराम 64, 105
हंस जवाहिर 54
हरिभाऊ उपाध्याय 181
ह्रिरदे राम भल्ला 66, 119
हीर 64, 65, 105
हेमचन्द्र 37, 34
क्षेमेन्द्र 30, 33
श्रीधर पाठक 172